मिलने का पता
राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल
मछुआटोली, पटना।

मिलने के अन्य पते
१. गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ
२. गंगा-ग्रंथागार, १९२६ चर्खेंवालान, दिल्ली
३ गंगा-ग्रंथगार, क्रास्टवेट रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक
रामलखन प्रसाद यादव
नव-निर्माण मुद्रणालय
पटना—३

प्रकाशक का वक्तव्य

श्री मित्रवर श्री लोकनाथ जी द्विवेदी उन इने-गिने साहित्यिक महारथियों में हैं जिनका व्रजभाषा का ज्ञान और अध्ययन अतीव गहन है। लगभग ३० वर्ष से वह इस क्षेत्र में कार्य कर रहे है। पर खेद है कि उनके तमाम ग्रंथ आदि अप्रकाशित पड़े हैं। इधर कई वर्षों से वह ओरछा-नरेश श्रीवीरसिंहजु देव के साथ हैं और वहाँ पर उन्होंने व्रजभाषा के संबंध में सराहनीय कार्य किया है और अभी कर रहे हैं। पर ग्रंथों के प्रकाशन की समस्या अब भी सम्मुख है।

'बिहारी' पर इस समय आलोचनात्मक ग्रंथों का हिंदी में सर्वथा अभाव है। यह 'बिहारी दर्शन' भी कई वर्ष से अप्राप्त था। अब हम इसका पुनः संस्करण कर रहे हैं और विश्वास है कि बहुत अंशों तक यह ग्रंथ हिंदी मे इस अभाव की पुर्त्ति करेगा।

सिलाकारीजी के अन्य ग्रंथों के संबंध में भी हम लिखा-पढ़ी कर रहे है और शीघ्र ही हिंदी संसार के सम्मुख हम उनकी अन्य कृतिया भी उपास्थित करेंगे।

पटना
१।९५० } ज्योतिलाल भार्गव

सूची

वक्तव्य

मुझे बाल्यावस्था से ही संस्कृत और हिंदी-कवियों के काव्य की चर्चा श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लगभग बारह वर्ष की अवस्था से ही मैं अपने तीर्थ-स्वरूप पिता श्री और उनके संस्कृत-साहित्य-धुरीण मित्रों की काव्य-चर्चा का आनंद लेने लगा था। कहते हैं, बालपन के संस्कार जीवन-पर्यंत हृदय पर अमिट प्रभाव रखते है। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती गई, त्यों-त्यों मुझे भी काव्य से उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता गया। श्रीकृष्णोपासक वंश-अवतंस होने के कारण संस्कृत-पद्यों के अतिरिक्त श्रीहरिवंश श्रीसूरदास, श्रीहरीराम व्यास. श्रीमीराबाई और श्रीभगवत रसिक आदि महानुभाव भक्तों की रसीली ब्रजभाषा की वाणियों को सुनते-सुनते उनसे अनुराग होना स्वाभाविक ही था। जब कुछ-कुछ समझने की शक्ति आई, तब स्वयमेव इन रचनाओं को पढ़ने का चाव हुआ। कठिन स्थलों के अर्थ जानने की इच्छा कीपूर्ति सुलभ ही थी। अपने पूज्यपाद पिता, काका, ज्येष्ठ भ्राता एवं उनके विद्वान् मित्रों से अर्थ समझने की सुविधा होने के कारण यह प्रवृत्ति बढ़ती गई।

हिंदी मिडिल पास होने पर मुझे अँगरेजी-शिक्षा-प्राप्ति की ओर लगाया गया, पर उसकी ओर विशेष प्रवृत्ति न हो सकी।

परिणाम-स्वरूप-सन् १९१९ ई० में, १८ वर्ष की अवस्था में, दो वर्ष तक एफ़० ए० की शिक्षा पाने के बाद उससे अरुचि हो गई। कॉलेज छोड़ते ही घर के पुस्तकालय पर दृष्टि पड़ी। उसमें संस्कृत-साहित्य के लगभग १५०० ग्रंथ थे। इनमें विशेषतया पौराणिक, दार्शकि, साहित्यिक और आयुर्वेदिक ग्रंथों की प्रचुरता थी। मेरा झुकाव आयुर्वेद को छोड़ शेष ग्रंथों की ओर हुआ। परंतु संस्कृत-भाषा के मूल ग्रंथों का अध्ययन उस समय कठिन जान पड़ा और मै अपनी ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा बुझाने के हेतु हिंदी के प्राचीन गौरवमय, समुन्नत साहित्य की ओर आकर्षित हुआ। हिंदी के प्राचीन साहित्य में व्रज-भाषा का स्थान सर्व-श्रेष्ठ प्रतीत हुआ, और इसी के ग्रथों की उपलब्धि अधिक होने से मैं व्रज-भाषा-साहित्य को मनोयोग-पूर्वक पढने में लग गया।

इस समय कभी-कभी यद्यपि मित्रों के कहने-सुनने से कुछ छोटे-मोटे निबंध सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे, पर इस ओर मन की प्रवृत्ति न हुई। सन् १९२१ में पूज्य पिता के गोलोक-वासी होने पर मेरे दो ज्येष्ठ बंधुओं ने अत्यंत स्नेह और आश्वा-सन- पूर्वक मुझे स्वतंत्र ही रक्खा, और इसी कारण इस दुर्घटना के बाद भी मैं ठीक पूर्व जैसा साहित्य के अनुशीलन में लगा रहा। इस समय आर्यों के सर्व-प्रथम, सर्व-श्रेष्ठ और वैज्ञानिक गंभीर साहित्य-शास्त्र के अध्ययन की अभिरुचि जाग्रत हुई। अब एकी ओर साहित्य-शास्त्र का अवलोकन प्रारंभ किया और दूसरने ओर हिंदी-भाषा के प्राचीन काव्य-ग्रंथों को खोज-खोजकर पढने

का क्रम जारी रक्खा। सन् १९२३ ई० के लगभग बुंदेलखंड के प्रमुख राजस्थान ओरछा के सुप्रसिद्ध हिंदी-साहित्यानुरागी महाराज श्रीवीरसिंहजू देव (तत्कालीन युवराज) राजकार्य की शिक्षा के निमित्त सागर पधारे, और लगभग तीन वर्ष तक यहाँ रहे। उनसे मित्रों ने मेरा भी परिचय कराया। मैं महाराजा साहब के काव्य-प्रेम के कारण उनकी ओर आकर्षित हुआ, और उनके यहाँ आता-जाता रहा। काव्य-चर्चा ही इस प्रकार मिलने का प्रधान विषय रहा। एक बार उक्त नरेश ने हिंदी-काव्य की आलोचना पर विस्तृत, सांगोपांग आलोचनात्मक ग्रंथों के अभाव की बात उठाई। मैंने भी उसकी आवश्यकता पर अपना मत प्रकट किया। फिर आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में केवल अनधिकारी लोगों के ही नहीं, वरन् प्रसिद्ध विद्वानों तक के निबंधों में हिंदी-साहित्य की हीनता की बात पढ़-पढ़कर उक्त प्रकार के आलोचनात्मक ग्रंथों के आवश्यकता-विषयक विचार की पुष्टि होती गई।

कुछ दिनों बाद यह विचार संकल्प-रूप में परिणत हुआ, और मैंने हिंदी-संसार में प्रामाणिक माने गए प्रायः संपूर्ण आलोचनात्मक ग्रंथ मँगाकर पढ़े। उनमें यद्यपि उत्तमता का अभाव नहीं था, पर मेरी उनसे मनस्तुष्टि न हो सकी और मैंने स्वयं इस ओर कुछ प्रयत्न करने का विचार किया। मैंने अपना यह विचार ओरछा-नरेश (तत्कालीन युवराज) श्रीवीरसिंह जू देव और अपने कुटुंब के गुरुजनों के सम्मुख प्रकट किया।

सबने उसकी आवश्यकता समझी और विचार की सराहना की। मेरे ज्येष्ठ भ्राता कविराज पं० मन्नूलालजी राजवैद्य और वेदविद् पं० राधेलालजी शास्त्री ने इस कार्य में सक्रिय सहायता दी। कौटुंबिक भार सँभालने की चिंता तो थी ही नहीं, अतएव पूरे मन से मैं इस काम में जुट गया। मेरे विद्वान्, हितैषी बंधुओं और हितचिंतकों ने मुझसे नव-रस पर पृथक-पृथक् ग्रंथों के प्रणयन की बात कही। मुझे भी यही उचीत प्रतित हुआ। सबसे पहले मैंने हिंदी-साहित्य के शृंगार-प्रधान काव्य-साहित्य की आलोचना का विचार किया और हिंदी-शृंगार-दर्शन-नामक ग्रंथ का प्रणयन प्रारंभ किया।

सन् १९२३ ई० के प्रारंभ से सन् १९२४ तक यह काय निर्विघ्न होता रहा। परंतु सन् १९२५ ई० के प्रारंभ से ही मेरे ज्येष्ठ भ्राता पं० मन्नूलालजी को मधुमेह ने आ घेरा। अब मैं चिंतित रहने लगा। भाई साहब ने बीमारी की दशा में भी मुझे अपना काम करते जाने की आज्ञा दी, और उसे शीघ्र समाप्त करने की इच्छा प्रकट की। मैं उनकी रुग्णावस्था में अपने हृदय पर चिंता का भार लिए ग्रंथ-लेखन में जुटा रहा। पर दुर्दैव के कारण मुझ पर विपत्ति का पहाड़ टूट ही पड़ा। कुटुंब में सबसे अधिक अर्थोपार्जन करनेवाले पूज्य बड़े भ्राता का देहावसान हो गया। कुटुंब की संपूर्ण संपत्ति उपचारादि में व्यय करने पर भी कुटुंबी जन अपने गौरव की वह तेजस्वी मूर्ति न बचा पाए। रुग्णावस्था में भी जिसने उत्साहित हो एक-एक पृष्ठ सुना था

उसके निधन पर जो वज्राघात मुझपर हुआ, उसका क्या कभी कोई अनुमान भी कर सकेगा! कुटुंब पर छोटे-मोटे अनेक संकट आए। प्रायः सब स्त्रियाँ छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं। फिर विवाह हुए। आर्थिक संकट का सामना बार-बार करना पड़ा। अब ग्रंथ-लेखन का कार्य एक ओर रख मुझे स्थानीय म्युनिसिपल हाईस्कूल में शिक्षक की वृत्ति स्वीकार करनी पड़ी।

इसके एक वर्ष पश्चात, शोकावेग कुछ कम पड़ने पर, मैंने पुनः ग्रंथ के शेषांश की पूर्ति का विचार किया। अब चिंतित मन और रोगी शरीर लेकर मैं पुनः हिंदी-शृंगार-दर्शन को रात-रात जगकर लिखने लगा। सन् १९२७ ई० के मध्य में ग्रंथ पूर्ण हुआ। इसे इस समय मैंने प्रसिद्ध विद्वानों को भी दिखलाया। सबसे अधिक प्रसन्नता मध्यप्रांत के स्वनामधन्य विद्वान् स्वर्गीय रायसाहब श्रीरघुवर प्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय रायबहादुर डॉक्टर हीरालाल, स्वर्गीय प्रोफेसर लाला भगवानदीन, स्वर्गीय पं० गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री, श्रीअमीरअली 'मीर' और पं० सुखराम चौबे 'गुणाकर' आदि ने प्रकट की और भविष्य में, ग्रंथ प्रकाशित होने पर, भरसक सहायता देने का वचन भी दिया। कहीं-कहीं सुधार आदि करने की ओर भी संकेत किया। मैंने उत्साहित हो पुनः ग्रंथ दोहराया। अब मैंने देखा कि ग्रंथ सब मिलकर फुलस्केप साइज के २३०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। ग्रंथ तो किसी प्रकार समाप्त हो गया, पर अब

उसके प्रकाशन की विकट समस्या उपस्थित हो गई। अनेक प्रकाशकों को लिखा, पर हिंदी में आलोचना-सबंधी इतने विशालकाय ग्रंथ का प्रकाशन करना दुस्साह समझकर प्रायः सभी शांत रहे। किसी भी प्रकाशक ने इसे प्रकाशित करने का उत्साह न दिखलाया। अब मेरा ध्यान बुंदेल-खंड के नरेशों की ओर आकृष्ट हुआ। सबसे पहले मैं बुंदेल-खंड के प्रधान राज्य ओरछा के तत्कालीन महाराज श्रीमहेन्द्र-प्रतापसिंह जू बहादुर से मिला। वहाँ उस समय भारत-धर्म-महामंडल के सर्व श्रीस्वामी दय नंद सरस्वती उपस्थित थे। श्रीमान् महाराज के साथ-साथ उक्त दोनों महानुभावों से ग्रंथ के विषय में चर्चा हुई। महाराज साहब ने तो केवल कुछ चर्चा ही सुनी और प्रशंसा की, पर उक्त दोनों महानुभाव विद्वान विशेष अनुरक्त हुए और उन्होंने ग्रंथ का बहुत-सा भाग पढ़ा सुना। मैंने अपना मंतव्य भी उन पर प्रकट किया। इस पर इन महानुभावों ने यह मत प्रकट किया कि मैं पहले बुंदेलखंड का एक इतिहास लिखकर उपस्थित करूँ। उसके पश्चात् मुझे बुंदेला-नरेशों से ग्रंथ-प्रकाशन के हेतु यथेष्ट सहायता प्राप्त हो सकेगी। मैं इसपर प्रस्तुत हो गया, और श्रीस्वामी ज्ञानानंदजी सरस्वती की प्रेरणा से भारत-धर्म-महामंडल की ओर से, बुंदेल-खंड के नरेशों आदि के नाम, मुझे निम्न-लिखित प्रमाण-पत्र दिया गया—

"श्रीमान् साहित्यरत्न पंडित लोकनाथ सिलाकारी साहित्या

चार्य हिंदी-साहित्य-जगत् के एक परिचित व्यक्ति है। इन्होंने राष्ट्र-भाषा हिंदी की सेवा भी अच्छी की है। ये सब प्रकार के उत्साह देने योग्य है। इनकी सद्वासना है कि वीरभूमि बुंदेल-खंड का कोई अच्छा इतिहास हिंदी-भाषा में नही है, उस अभाव को ये दूर करें। हिंदू-जाति की विराट् धर्म-सभा के नेतृवृंद की यह इच्छा है कि बुंदेलखंड के राजा-महाराजागण तथा समर्थ व्यक्तिगण इनकी इस शुभ कार्य में यथायोग्य सहायता करेंगे, तो इनसे अच्छा कार्य हो सकेगा।"

इसके बाद टीकमगढ मे मैं महाराज श्रीवीरसिंहजू देव से मिला। आपने बड़े प्रेम से ग्रंथ सुना और सराहा। पर उस समय मैंने अवसर न देख आपसे प्रकाशनादि के विषय मे कुछ चर्चा न की। घर लौट आया। एक वर्ष बाद मैंने पुनः बुंदेलखंड के नरेशों के यहाँ जाने का विचार किया। सौभाग्य-वश उसी वर्ष अर्थात् सन् १९२२ में, पन्ना-नरेश ने बुंदेलखंड-केशरी महाराज छत्रशाल की जयंती मनाने का आयोजन किया। मैं भी सागर से प्रतिनिधि-स्वरूप उसमें सम्मिलित होने गया। वहाँ हिंदी-संसार के सुपरिचित सुकवि और साहित्य-मर्मज्ञ श्रीवियोगी हरिजी से भेंट हुई। आपको वीर-सतसई पर उसी वर्ष मंगला-प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। आपने ग्रंथ को स्वयं आद्योपांत पढ़ा और उसके विषय में लिखा—

"सागर-निवासी साहित्याचार्य पंडित लोकनाथजी सिलाकारी-

रचित 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' के दर्शन का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसमें संदेह नहीं कि सुयोग्य लेखक ने अपनी गंभीर साहित्य-अध्ययनशीलता का इस महान् ग्रंथ के लिखने में बड़ा अच्छा परिचय दिया है। संस्कृत तथा भाषा, दोनो के ही रीति ग्रंथों को आपने लिखा है। ग्रंथ आलोचनात्मक है। समालोचना की शैली में विवेचना को यथेष्ट स्थान मिला है। मुझे 'प्रेम-वर्णन' नाम का तीसरा अध्याय बहुत ही पसंद आया है। प्रेम-तत्त्व को आपने समझा है, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। पक्षपात-हीन आलोचनाओं की हिंदी में आवश्यकता है। सिलाकारीजी ने एतद्विषयक यह वृहद ग्रंथ लिखकर इस अंग की पूर्ति करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, और इसमें उन्हें बहुत कुछ फलता भी मिली है। इस ग्रंथ के प्रकाश में आने की मैं उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करूँगा।"

वहाँ छत्रसाल-जयंती के अवसर पर मुझे महाराज छत्रसाल के काव्य पर आलोचनात्मक भाषण देने का आदेश हुआ। लगभग पौन घंटे तक मैंने भाषण दिया। परिणाम-स्वरूप केवल प्रशंसा प्राप्त हुई, पर ग्रंथ-प्रकाशन के विषय में श्रीमान् महाराजा साहब की ओर से कोई सहायता न प्राप्त हो सकी। इसके बाद मैं अजयगढ़ पहुँचा। वहाँ युवराज श्रीपुण्यपालसिंहजू देव ने यथेष्ट आदर किया, और ग्रंथ का बहुत-सा भाग सुना, और सराहा। परन्तु वहाँ भी ग्रंथ-प्रकाशन की चर्चा करने में मुझे उत्साह न हुआ। हाँ, अजयगढ़ में मुझे साहित्य के दो प्रेमियों

से संतोष हुआ—(१) श्रीलालजीसहाय वर्मा फ़ॉरेस्ट-ऑफिसर और (२) श्रीविनायकराव भट्ट,पोस्टमास्टर। दोनों सुकवि, सुलेखक एवं अध्ययनशील साहित्यकों ने 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' का अधिकांश स्वयमेव पढ़ा। उस पर श्रीलालजीसहाय वर्मा ने मुझे प्रेम-प्रदर्शित करते हुए दो पद्य भेंट किए। इनसे सचमुच मुझे कुछ संतोष पहुँचा। वे पद्य-द्वय निम्न-लिखित हैं—

कलित - प्रेम - मधुर, - सुकवि - कुल-कुमुद विकासक ;
समालोचना - किरिन - माल नव - भाव - विकासक।
सीतलता - सुचि - भक्ति - सूक्ति - तुलना - रुचि-राजति ;
भाषा - छपा अमंद 'विशद' हिंदी - जग छाजति।
श्रीलोकनाथ- मानस -उदधि-हुलसावन, भ्रम-तिमिर हर।
'हिंदी-शृंगार- दर्शन' भयो साहित -नभ हिमकर-प्रवर।

सकिल - प्रमान लै समुद्र - सद्ग्रंथन तैं,
तुलना कवीन इंद्र - धनु दरसायो है ;
'लोकनाथ' - प्रतिभा - समीर अनुकूल पाय
हिंदी - नभ-मंडल उमंड करि छायो है।
नाच उठे केकी-मन सुकवि - समूह देखि,
'विशद' विवेचना प्रचंड झरि लायो है ;
सींचन को साहित की वाटिका मलान यह,
'हिंदी-शृंगार - दरसन' - सुघन आयो है।

वहाँ अजयगढ़ से फिर मैं बिजावर पहुँचा। बिजावर-राज्य के राजकवि श्रीबिहारीलालजी भट्ट ने ग्रंथ पढा, और खूब

सराहा। श्रीमान् महाराज साहब से कारण-वश उस समय भेंट न हो सकी। मैं घर लौट आया।

इस यात्रा में बुंदेलखंड की मनोरम उपत्यकाओं, पहाड़ी झरनों, वन-श्री आदि की छटा अवलोकन करने का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ, परंतु उद्देश-सिद्ध न होने के कारण कुछ विरक्त-सा हो रहा था। घर आकर कुछ दिनों शांति से रहा। इस समय बुंदेलखंड के इतिहास की भी बहुत कुछ सामग्री मैं एकत्र कर चुका था। प्राप्त हुई सामग्री के आधार पर मैंने बुंदेलखंड का चारण-गीत गूँथा। इसी कार्य में एक वर्ष लग गया। दिसंबर, १६२६ में मैं बीमार पड़ गया और मुझे विवश हो स्कूल से चार मास की छुट्टी लेनी पड़ी। दो माह में कुछ स्वस्थ होने पर मैं वायु-परिवर्तनार्थ गया। इस बार मैंने खनियाधाना के नरेश श्रीमान् खलकसिंहजू देव के साहित्य प्रेम की अत्यधिक प्रशंसा सुनी और मैं उनसे मिला। राजा साहब साहित्य-प्रेमी और मिलनसार हैं। आपने मुझे बड़े स्नेह और आदर से ठहराया। ग्रंथ साथ ही था। आपने उसका अधिकांश स्वयमेव पढ़ा और कई स्थल मुझसे भी सुने। अंत में दस दिन रहने के बाद जब मैं चलने लगा, तब आपने ग्रंथ के विषय में अपना निम्न-लिखित प्रमाण-पत्र दिया—

"श्रीपंडित लोकनाथजी सिलाकारी के हस्त-लिखित ग्रंथ 'हिंदी-श्रृंगार-दर्शन' पर मैंने दृष्टिपात किया। पंडितजी ने इतना अधिक परिश्रम करके इतना बड़ा ग्रंथ तैयार किया है,

यह उनकी महान् विद्वत्ता तथा अध्यवसाय का पूर्ण रूप से द्योतक है। पंडितजी ने हिंदी-साहित्य में यह एक महान ग्रंथ उपस्थित करके अपने लिये एक स्थायी कीर्ति प्राप्त कर ली है, इसमें कोई संदेह नहीं। मैं पंडितजी की विद्वत्ता तथा परिश्रम-शीलता की हृदय से सराहना करता हूं।"

इस प्रकार इस प्रयत्न में मेरा यथेष्ट समय और द्रव्य व्यय हुआ, पर प्रकाशन की कोई व्यवस्था न हो सकी। इस समय मैंने निराश होकर ग्रंथ को एक ओर बाँधकर रख दिया। साहित्य-सेवा के नाम से विरक्ति-सी होने लगी थी! परंतु इसके थोड़े ही दिन बाद मित्रवर बाबू रामानुजलालजी श्रीवास्तव प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर सागर आए। उनके साथ मेरे सजातीय बंधु कविवर पं० केशवप्रसादजी पाठक भी थे। दोनों सज्जन अनेक साहित्यिकों के साथ मेरे घर पधारे। बातचीत के सिल-सिले में हिंदी-शृंगार-दर्शन की चर्चा हुई। ग्रंथ दिखलाया गया और श्रीवास्तवजी ने उसे देखकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने ग्रंथ को अपनी मासिक पत्रिका 'प्रेमा' में क्रमशः प्रकाशित करने की बात की। मैंने कुछ अंश उन्हें भेज दिया। वह 'देव कवि और उनका काव्य-शीर्षक से 'प्रेमा' में एक वर्ष से अधिक लगातार निकला इसके बाद श्रीवास्तवजी ने मुझसे 'प्रेमा' के शृंगार-रस-विशेषांक के संपादन करने की बात कही। उनके आग्रह से मैं इस काम के लिए तैयार हो गया। इस अंक के लिए सामग्री

एकत्र करने में सबसे अधिक सहायता मेरे बंधु श्रीगयाप्रसाद ज्योतिषी, एम्० ए० (वर्तमान सहकारी संपादक सनातन-धर्म, बनारस) ने दी। प्रायः हिंदी-जगत् के संपूर्ण सुप्रसिद्ध विद्वान् साहित्यिकों और व विरत्नों ने मेरी प्रार्थना पर सुंदर सामग्री प्रेषित कर दी। अंक बड़ी उत्तमता से निकाला गया और मैंने उसमें ३५ पृष्ठों का संपादकीय वक्तव्य भी जोड़ा। इस अंक की हिंदी में काफी ख्याति हुई और अनेक विद्वानों ने मुझे महानुभूति-सूचक पत्र लिखे।

इस वर्ष अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन झाँसी में था। सागर के प्रसिद्ध हिंदी-लेखक और मेरे परिचित मित्र श्रीजहूरबख्शजी ने मुझसे साहित्य-सम्मेलन में चलने का अनुरोध किया। कुछ आगा-पीछा करने के बाद मैं तैयार हो गया। इस बार भी हिंदी-शृंगार-दर्शन मेरे साथ था। हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यिक पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी और कविवर बाबू गुरुभक्तसिंहजी 'भक्त' एवं अन्यान्य उपस्थित साहित्यिकों ने उसे पढ़ा और अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की। वाजपेयीजी ने तो सभी के समक्ष जी खोलकर ग्रंथ की महत्ता और उपयोगिता के बारे में कहा और उसे सर्व-श्रेष्ठ पुरस्कार के योग्य बतलाया। हाँ, प्रकाशन के विषय में बात आते ही वह गंभीर हो गए। बोले—"भाई, हिंदी में इतना बड़ा ग्रंथ कोई नहीं छाप सकता। यहाँ बिक्री तो होती ही नहीं, गंभीर सहित्य पढ़नेवाले हैं ही कितने हिंदी-भाषी ?" मैं भी चुप हो रहा।

फिर श्रीजहूरबख्शजी ने हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और सम्मेलन की स्वागतकारिणी के सभापति बाबू वृंदावनलालजी वर्मा ऐडवोकेट से 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा की, और ग्रंथ उनके समक्ष रख दिया। वर्माजी उसे देख और यत्र-तत्र कुछ अंश पढ़कर अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला—"सम्मेलन के स्टेज पर तो हिंदी के ऐसे महान् ग्रंथों की चर्चा होनी ही चाहिए। यदि सम्मेलन ऐसे ग्रंथ का प्रकाशन नहीं कर सकता, तो वह है किस मर्ज की दवा? पर हिंदी के दुर्भाग्य से यहाँ अध्ययनशीलता का आदर ही कहाँ है? सर्वत्र दलबंदी की दलदल में हिंदी फँसी पड़ी है।" अस्तु।

इस घटना के १० माह बाद मेरी इच्छा लंबी यात्रा करने की हुई और स्कूल से ६ माह का अवकाश लेकर मैंने उत्तराखंड के महात्माओं का सत्संग किया, और कुछ समय वृंदावन में भक्त वैष्णवों के साथ व्यतीत किया। इस यात्रा में मैं 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' को भी साथ ले गया था। जब हरिद्वार पहुँचा, तब मुझे वहाँ के प्रसिद्ध संन्यासी महात्मा श्रीस्वामी निरंजन देव सरस्वती के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उक्त स्वामीजी महाराज संस्कृत और भाषा के प्रकांड विद्वान् हैं। कुछ दिन रहने के बाद आपने 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' देखा। उसपर प्रसन्न होकर श्रीस्वामीजी ने लिखा:—

"हिंदी-साहित्य के अंतरंग तथा बहिरंग का व्यापक अध्ययन करके आपने जो 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' नामक विशालकाय समा-

लोचनात्मक ग्रंथ लिखा है, वह आपकी अगाध विद्वत्ता और परिश्रमपूर्ण खोज का भली भाँति परिचय देता है। आपने संस्कृत तथा हिंदी के रीति-ग्रंथों का जो मनन तथा विवेचनात्मक अध्ययन किया है, उसकी छटा ग्रंथ में सर्वत्र है। विषय-प्रवेश में आपने साहित्यिक दृष्टि से शृंगार की अद्वितीयप्राय ढंग से विशद विवेचना करके उसका अंग-प्रत्यंग पर पूर्वाचार्यों के मतों की समीक्षा तथा आलोचना करके अपने निर्भीक सिद्धांतों का अच्छा निरूपण किया है। साथ ही भक्ति-प्रधान शृंगार के विषय में भक्ति का शास्त्रीय ढग से ऊहा-पोह कर तात्त्विक निरूपण करने के अनंतर सनातन वैदिक धर्म के विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तक उनके धार्मिक सिद्धांतों एवं उनके प्रधान साहित्यिकों की रचना की बड़ी मनोरम तथा प्रामाणिक आलोचना की है। इसके पीछे हिंदी के सैकड़ों प्रसिद्ध तथा उत्तम कवियों की रचनाओं की तुलनात्मक आलोचना, अपने पूर्ववर्ती समालोचकों की प्रत्यालोचना, करते हुए साहित्य की जो अविरल छटा छहराई है वह साहित्य-रसिकों को अपार आनंद प्रदान करनेवाली है। यह ग्रंथ लिखकर आपने राष्ट्र-भाषा हिंदी की जो स्थायी सेवा की है, उसके लिये आप प्रत्येक हिंदी-भाषी के धन्यवादास्पद हैं। इससे केवल वैभव-संपन्न हिंदी-साहित्य का ही पूर्ण परिचय प्राप्त न होगा, वरन् भारतीय आर्य-साहित्य और संस्कृति का तात्त्विक ज्ञान भी भली भाँति होगा।"

उस समय व्रज-भाषा के धुरंधर मर्मज्ञ कविवर श्रीजगन्ना-

दासजी 'रत्नाकर' रुग्ण दशा में हरिद्वार आए हुए थे। मैं उनसे जब मिलने गया, तब उनकी स्थिति शोचनीय हो गई थी। फिर भी उन काव्य-प्रेमी कलाकार ने मुझसे साहित्य-संबंधी कुछ बातें कीं। मेरे साथ के एक संन्यासी ने उनसे 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा कर ही दी। उन्होंने उसका संक्षिप्त परिचय चाहा। मैंने एक दिन जाकर उन्हें विषय-सूची, जो लगभग १४ पृष्ठों में समाप्त हुई थी, सुना दी। सुनकर प्रसन्नता प्रकट की, और कुछ स्वस्थ होते ही ग्रंथ देखने का विचार प्रकट किया। दुर्भाग्य-वश वह समय फिर न आ सका।

इसके बाद, सन १९३३ के ऑक्टोबर-मास तक, मैंने 'हिंदी शृंगार-दर्शन' को बक्स ही में पड़ा रहने दिया। पर इसी समय हिंदी-संसार के युगांतरकारी प्रकाशक पं० दुलारेलालजी भार्गव के अनुज पं० ज्योतिलालजी भार्गव सागर पधारे। उन्होंने गंगा-पुस्तकमाला की शाखा सागर में स्थापित की थी। मेरे मित्र श्रीप्यारेलालजी भार्गव के यहाँ वह ठहरे। श्रीजहूरबख्श के साथ जब मैं बाजार से लौटकर आ रहा था, तब दूकान पर दोनों सज्जनों से मेरी भेंट हो गई। फिर सब लोग मेरे घर आए। ज्योतिलालजी भार्गव से जहूरबख्शजी ने इस बार फिर 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' की चर्चा की, और ज्योतिलालजी बहुत देर तक उसे देखते रहे। उन्होंने सुधा में प्रकाशनार्थ उसके कुछ अंश चाहे। मैंने उन्हें दे दिए। वे सुधा में अगले तीन माह में प्रकाशित हो गए। अब श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने मुझे लखनऊ

बुलाया। मैं जनवरी, १९३४ में लखनऊ गया। भार्गवजी स्वयं सुकवि और कला-मर्मज्ञ हैं। ग्रंथ देखकर वह अत्यंत संतुष्ट हुए, पर उसकी विशालता देखकर उन्होंने ग्रंथ को खंडशः प्रकाशित करने का मत प्रकट किया। उनके समझाने पर मैं भी सहमत हो गया। यही 'बिहारी-दर्शन' की उत्पत्ति का एक इतिहास है 'बिहारी-दर्शन' वास्तव में 'हिंदी-शृंगार-दर्शन' का एक भाग है, जो उसके बिहारी-विषयक अंशों को लेकर संकलित किया गया है।

अंत में मैं उन संपूर्ण ग्रंथकारों और लेखकों को धन्यवाद देता हूँ, जिनके ग्रंथों एवं लेखों को पढ़कर मैंने लाभ उठाया है। आजकल यद्यपि लेखकों में प्राचीन साहित्य की निंदा करने की दुष्प्रवृत्ति बलवती दिखाई दे रही, पर यह अधि- . . में इन लोगों की अध्ययन-हीनता का ही परिणाम है। इन्हें म० साहित्यिकों के विषय में इतना स्मरण रखना चाहिए—
"काहू के क्यों हू घटाए घटें नहीं, सागर औ गुन-आगर प्रानी।"
यहाँ मैं श्रीदुलारेलालजी को भी हार्दिक धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता, जिनके प्रयत्न से, अंत में, यह ग्रंथ हिंदी-संसार के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

सागर,
३०।१०।३६

लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी

कवि-परिचय

अनेक महापुरुषों और महाकवियों के जन्म-स्थान तथा जन्म-काल आदि के विषय में प्रायः शंका रहती है। इसका कारण यही है कि ये लोग अपने विषय में स्वयं कुछ भी नहीं लिखते। ऐसे लोगों के विषय में अनेक किंवदंतियाँ फैल जाती हैं। यही दशा महाकवि बिहारीलालजी के विषय में भी है। यद्यपि सतसई के निर्माण-काल से ही विद्वानों का उस पर अत्यंत अनुराग रहा है, एवं सतसई का क्रम स्थिर करने तथा उस पर टीका-टिप्पणियाँ लिखने में अनेक विद्वानों और कवियों ने परिश्रम किया, तथापि इनमें से किसी ने भी बिहारीलालजी के कुल, गोत्र, जन्म-स्थान एवं जीवन-चरित्र के विषय में यथेष्ट रूप से नहीं लिखा। सतसई की अनेक टीकाएँ तो बिहारीलालजी के जीवन-काल में ही रची गईं, पर, खेद है, उनमें से किसी ने भी बिहारीलालजी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। इसका कारण यह भी है कि उस समय के लोग काव्य के गुण-दोषों पर ही विशेष ध्यान देते थे। इस समय बिहारीलालजी का जीवन-चरित्र लिखनेवालों को भिन्न-भिन्न टीकाओं में प्राप्त बिहारी-विषयक स्फुट वाक्यों, किंवदंतियों एवं आख्यायिकाओं से सहायता मिलती है। कुछ लोगों ने यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री एकत्र कर बिहारीलाल जी की जीवनी, संक्षेप में, लिखने का प्रयास किया है। इनमें सबसे अधिक प्राचीन 'बिहारी-बिहार'-नामक पद्यात्मक निबंध है, जिसमें बिहारीलालजी का जीवन-चरित्र प्रामाणिक रीति से लिखा है। इसका

निर्माण-काल संवत् १७२१ की चैत्र-शुक्ल सप्तमी, सोमवार है। इसके सिवा स्वर्गीय श्रीजगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' ने भी बिहारीलाल जी के विषय में बहुत खोज करने के उपरांत उनकी जीवनी 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के पिछले दो अंकों में, अत्यंत प्रामाणिक रीति से, लिखी थी। इन सबका अवलंबन कर मैं यहाँ बिहारीलालजी के विषय में सन्क्षिप्त, प्रामाणिक रूप से लिखता हूँ। अस्तु।

महाकवि बिहारीलालजी धौम्यगोत्रीय श्रोत्रिय माथुर चौबे थे। माथुर में पांडेय, पाठक, तिवारी, ककोर एव घरबारी आदि चौसठ उपाधियाँ होती है। इनमें से बिहारीलालजी घरबारी थे। श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने बिहारीलालजी को ककोर-कुलोत्पन्न लिखा है, पर इन सज्जनों का यह मत भ्रम-पूर्ण और अशुद्ध है। बात यह है कि श्रीयुत मिश्रबंधु बिहारी-सतसई की पद्यात्मक टीका लिखनेवाले कृष्ण कवि को ककोर-कुलोत्पन्न देखकर और किंवदंती से कृष्ण कवि को बिहारीलालजी का पुत्र मानकर उन्हें ककोर-कुलोत्पन्न लिखते हैं। परंतु इसके लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं कि कृष्ण कवि बिहारी-लालजी के पुत्र थे। यदि ऐसा होता, तो कृष्ण कवि अपने परिचय में इस बात का अवश्य ही उल्लेख करते। जहाँ उन्होंने अपनी जाति और अल्ल आदि सभी के विषय में लिखा है, वहाँ इतना अवश्य लिखते कि वह महाकवि बिहारीलालजी के पुत्र थे। क्योंकि इतने बड़े महाकवि के पुत्र होने का उन्हें गौरव होता, इस कारण वह अवश्य ही अपने को महाकवि बिहारीलालजी का पुत्र कहकर गौरवान्वित करते।

हिंदी-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि और आचार्य श्रीकुलपति मिश्र बिहारीलालजी के भांजे थे। स्मरण रहे कि चतुर्वेदियों का विवाह-संबंध मिश्रों और घरबारियों में होता है। ककोर-कुलवालों और मिश्रों में परस्पर विवाह-संबंध नहीं होते। इससे जब कुलपति

मिश्र बिहारीलालजी के भाजे थे, तब बिहारीलालजी अवश्य ही घर-
बारी थे, यह निर्विवाद है। जयपुर-निवासी महामहोपाध्याय पं०
गिरिधर शर्मा ने, 'चतुर्वेदी-पत्रिका' के पिछले अंकों में, इस विषय
पर अच्छा प्रकाश डाला है। वह लिखते हैं—"जयपुर-निवासी
कविवर अमरकृष्णजी का कुल अद्यावधि, सतसईकार, कवि-श्रेष्ठ
बिहारीलालजी के वंशजों के नाम से प्रसिद्ध है।" शर्माजी ने
लिखा है—"अमरकृष्णजी के पास ताम्र-पत्र के रूप में जयपुर-
नरेश की दी हुई सनद भी थी, जो पारिवारिक पारस्परिक कलह
के कारण लुप्त हो गई, और अब उपलब्ध नहीं है। यह अमर-
कृष्णजी 'घरबारी' हैं।"

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी जोधपुरी ने, बड़े
परिश्रम और खोज से, राजपूताने के कवियों के विषय में, जो
'कविरत्न-माला' नामक पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें बड़े अनुसंधान
के पश्चात् बिहारीलालजी को घरबारी लिखा है।

बूँदी के राजकवि पं० अमरकृष्णजी घरबारी माथुर चौबे हैं।
उनसे निम्न-लिखित बातों का पता चलता है—

बिहारीलालजी घरबारी चौबे धौम्यगोत्र, आश्वलायन शाखा
तथा त्रिप्रवर (कश्यप, अत्रि और सारस्य) थे। उनके पिता का नाम
केशवराय था, और उनकी कुलदेवी महाविद्या थीं। बिहारीलालजी
दो भाई थे। उनके स्वयं कोई संतान नहीं थी, अतः अपने भतीजे
'निरंजनजी' को उन्होंने अपना पुत्र माना। उन्हीं से उनकी वंश-
परपरा चली। बिहारीलालजी ब्रह्मपुरी (जयपुर) में रहते थे।
पं० अमरकृष्णजी के पिता पं० बालकृष्णजी बूँदी के राजकवि हो
गए थे। बूँदीके प्रधान कवि चारण सूर्यमल्लजी ने अपने सुप्रसिद्ध
प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ 'वंश-भास्कर' में लिखा है—

कवि बिप्र बिहारी वंश जात। कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात।

पं० बालकृष्णजी ने अपने वंशजों की नामावली निम्न-लिखित छंद में दी है—

प्रथम बिहारीलाल प्रकट जिन सप्तसती-कृत ;
तनय निरंजन तासु भयो बिख्यात सुद्धमत ।
तिनके गोकुलदास तनय तिहि खेमकरनि भनि ;
दयाराम सुत तासु भयौ तिनके मानिक मनि ।
पुनि भे गनेस तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भयो;
गुन-निपुन चतुर-जन-माल-मनि कबिता-तिय-नायक कह्यो ।

यह वंशावली उन्होंने सोरों-घाट के एक पंडा की बही में नाम देखकर बनाई है। पं० अमरकृष्णजी ने भी अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है—

प्रथम बिहारीलाल प्रकट जिन सप्तसती-कृत;
प्रकट ज्ञान के धाम कहूँ लवलेस न दुरमत ।
तिनके गोकुलदास तनय तिहि खेमकरन गुनि;
दयाराम सुत जासु बहुरि तिनके मानक मनि ।
भे गनेस तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भएउ;
गुन-निपुन चतुरता-सदन सो कविता-तिय-नायक कहेउ ।
तिनके भो अति मंद-मति कवि-जन-किंकर जानि;
बिद्या-बिमल-बिबेक-बिनु अमरकृष्ण पहिचानि ।

अतः बिहारीलालजी घरबारी थे। उनके पिता का नाम केशवराय था, जैसा बिहारीलालजी ने स्वयं अपने निम्न-लिखित दोहे में कहा है—

जनम लियो द्विजराज-कुल, स्वबस बसे ब्रज आय;
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराय ।
(वि० स० ६९९)

इस दोहे में कवि भगवान् श्रीकृष्ण और अपने पिता केशवराय

से अपने क्लेश-हरण की प्रार्थना करता है। पिता से प्रार्थना करने का कारण संभवतः यह जान पड़ता है कि बिहारीलालजी के पिता केशवराय बड़े ही धर्मनिष्ठ महात्मा थे, और बिहारीलालजी सत्पुत्र के समान उन्हें ईश्वर-तुल्य समझते थे। इससे बिहारीलालजी की पितृभक्ति का पता चलता है। भगवान् केशव की प्रार्थना ठीक ही है। दोहा श्रेष्ठ है। देखिए—

भावार्थ—"जिन्होंने द्विजराज-कुल [(१) द्विजराज = चंद्र, कुल = वंश। इस प्रकार द्विजराज-कुल से चंद्र-वंश का अर्थ निकलता है, और श्रीमद्भागवत से यह स्पष्ट है कि यादव चंद्र-वंशी थे, इस प्रकार इसका अर्थ यदु-कुल निकलता है, एवं भगवान् श्रीकृष्ण का यदुकुल में उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है। (२) द्विजराज-कुल से द्विज अर्थात ब्राह्मण और राज से श्रेष्ठत्व का बोध होकर द्विजराज-कुल से 'श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल' का अर्थ स्पष्ट है।] अर्थात् यदुकुल और श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया, और जो स्ववश अर्थात् अपनी ही इच्छा से [(१) भगवान् श्रीकृष्ण राक्षसों का नाश एवं साधु पुरुषों का परित्राण करने के अर्थ अपनी ही इच्छा से अवतार धारण कर व्रज में बसे। (२) बिहारी के पिता केशवराय भी अपनी ही इच्छा से भक्ति में डूबकर (किसी आर्थिक कष्ट आदि के कारण नहीं) पुण्य भूमि व्रज में वास करने लगे थे]। व्रज में आकर बसे। ऐसे भगवान् केशव और मेरे ईश्वर-तुल्य पूज्य पिता महात्मा केशवराय मेरे संपूर्ण (भव-भय-जनित) क्लेशों को दूर करो।"

श्रीयुत मिश्रबंधु लिखते हैं—"परंतु दोहे पर गौर करने से प्रकट होता है कि केशवराय शब्द श्रीकृष्ण के लिये आया है, न कि कवि के पिता के लिये।" (हिंदी-नवरत्न द्वितीय संस्करण, पृ०-सं० २७६) यह श्रीमिश्रबंधुओं की भूल है। 'दोहे पर गौर करने से' यह स्पष्ट है

कि 'केशव' श्रीकृष्ण के लिये और 'केशवराय' बिहारीलालजी कवि के पिता के लिये आया है।

बिहारी-सतसई के सर्व-प्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि, जो बिहारी-सतसई की पद्यात्मक टीका लिखनेवाले कृष्णदत्त कवि से सर्वथा भिन्न हैं, बिहारीलालजी के समकालीन थे। वह उपर्युक्त दोहे की टीका में लिखते हैं—

केसोराइ जो मेरो पिता और केसोराय जो श्रीकृष्णजू ।

इससे बिहारीलालजी के पिता का नाम केशव होना स्पष्ट है। यह टीका संवत् १७२१ के लगभग समाप्त हुई थी, अतएव इसका कथन विशेष प्रामाणिक है। फिर यही बात अनवर-चंद्रिका के इस वाक्य से भी सिद्ध होती है- "केशव, केशवराइ बिहारी के बाप को नाम है।" इसी प्रकार रसचंद्रिका, हरिप्रकाशटीका और लालचंद्रिका से भी बिहारीलालजी के पिता का नाम केशव होना पाया जाता है।

बिहारीलालजी का जन्म संवत् १६५२ में, ग्वालियर में हुआ था, जैसा निम्न-लिखित दोहे से स्पष्ट है—

संबत जुग२ सर५ रस६-सहित भूमि१ रीति गिन लीन्ह ;
कातिक सुदि बुध अष्टमी जन्म हमहिं बिधि दीन्ह।
(बिहारी-बिहार)

जान पड़ता है, बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी महात्मा होने के साथ-साथ अच्छे सुकवि भी थे। इसी से हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि-श्रेष्ठ और आचार्य श्रीकुलपति मिश्रजी ने अपने ग्रंथ 'सग्राम-सार' के आदि में ही उनकी स्तुति करते हुए लिखा है—

कविवर माता यह सुमिरि, केशव केशवराय ;
करौं कथा भारत्थ की भाषा छंद बनाय।

बिहारीलालजी के एक भाई और एक बहन भी थी। इनके पिता

किसी कारण-वश ग्वालियर से ओरछे चले आए। उस समय ओरछे की गद्दी पर राजा रामशाहजी थे, जो संवत् १६४९ में महाराज मधुकरशाह के स्वर्गवासी होने पर, राज्य के अधिकारी हुए थे। उस समय वह उतरती अवस्था के थे, इसलिये उन्होंने अपने प्रिय सहोदर भ्राता इंद्रजीतसिंह को राज्य-काज चलाने का भार सौंपा। इंद्रजीतसिंह कार्यकुशल, नितिज्ञ और प्रकृत वीर होते हुए भी साहित्य और संगीत के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ कवियों, गवैयों और नर्तकियों का जमघट रहता था। उन्हीं के यहाँ आचार्य केशवदासजी थे, जिनका वह बड़ा सम्मान करते थे। बिहारीलालजी के पिता तथा कुलपति मिश्र के मातामह केशवरायजी भी अच्छे कवि थे। वहाँ वह केशवदासजी से मिले। जान पड़ता है, केशवदासजी ने बालक बिहारी की प्रखर बुद्धि देखकर उन्हें साहित्य पढाया था। बिहारीलालजी की सतसई से भी उनका केशवदासजी के ग्रंथों का अच्छी तरह पढ़ना विदित होता है।

वहाँ उस समय दसान-नदी के किनारे 'गुढ़ो' ग्राम में एक सुप्रसिद्ध महात्मा रहते थे, जिनका नाम श्रीनरहरिदासजी था। बिहारीलालजी के पिता इन महात्मा के पास बहुधा आया-जाया करते थे। श्रीस्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के यह महात्मा महंत हो गए थे। इस संप्रदाय के ग्रंथ-'निज-मत-सिद्धांत' -से निम्न-लिखित बातों का पता चलता है—

"श्रीनरहरिदेव अथवा नरहरिदासजी उक्त संप्रदाय के एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा थे। संवत् १६८२ से संवत् १७४१ तक निधिवन की गद्दी पर रहे। उनके पिता का नाम विष्णुदास और माता का उत्तमा था। वह बुंदेलखंड में दसान-नदी के किनारे 'गुढ़ो' ग्राम में रहते थे। उनका जन्म सं० १६४० में हुआ, और वह बाल्यावस्था ही से साधु-संतों की सेवा करने लगे, और सिद्ध तथा महात्मा

प्रसिद्ध हो गए। संवत् १६६५-६६ में सरसदेवजी, जो वृंदावन में निधिवन के महंत थे, देशाटन करते हुए बुंदेलखंड गए, और नरहरिदासजी को अपना शिष्य कर आए। संवत् १६७५ में नरहरिदासजी अपने गुरु के पास वृंदावन चले आए। सवत् १६८३ में वह अपने गुरु की गद्दी पर बैठे, और संवत् १७४१ तक, १०१ वर्ष की आयु तक, विद्यमान रहे।"

(देखो 'निज-मत-सिद्धांत')

ऐसा जान पड़ता है, इसके बाद बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी इन महात्मा के शिष्य हो गए, एवं बिहारीलालजी को भी इन्हीं से मंत्रोपदेश कराया*। श्रीनरहरिदासजी भी प्रसिद्ध महात्मा तो थे ही, इससे महाराज इंद्रजीत और महाकवि केशवदासजी भी उनके दर्शनों को आते थे। नरहरिदासजी के पिता से ओरछे के राजा का व्यवहार होना 'निज-मत-सिद्धांत' नामक ग्रंथ से विदित भी होता है। यहीं श्रीनरहरिदासजी ने महाकवि केशवदासजी से बिहारीलालजी को ध्यान से पढ़ाने का अनुरोध किया। केशवदासजी बिहारीलालजी की प्रखर बुद्धि देखकर उन्हें पुत्रवत् स्नेह से पढ़ाने लगे।

बिहारीलालजी को केशवदासजी के पास अध्ययन करने का समय बहुत ही थोड़ा मिल सका। क्योंकि संवत् १६६४ के पूर्व ही महाराज इंद्रजीत का अखाड़ा अस्त-व्यस्त हो गया, और महाकवि केशवदासजी को छोड़कर उसके शेष सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गए। यह घटना बुंदेलखंड में अत्यंत प्रसिद्ध है। अद्यावधि लोग इस घटना को 'प्रेत-यज्ञ' कहते हैं। इसी समय बिहारीलालजी के पिता केशवराय इस घटना के कारण अत्यंत विरक्त हुए, और अपना शेष जीवन

* 'निज-मत-सिद्धांत' में नरहरिदासजी के एक शिष्य का नाम केशवराय लिखा है। —लेखक

श्रीवृंदावन-धाम में, परमात्मा श्रीकृष्ण के आराधन में, व्यतीत करन की इच्छा से सकुटुंब वृज में चले आए।

वृंदावन में उस समय श्रीनरहरिदासजी के दीक्षा-गुरु श्रीसरसदेव निधिवन की गद्दी पर थे। केशवराय और बिहारीलालजी का परिचय उनसे नरहरिदासजी के आश्रम गुड़ागॉव में हो ही चुका था, और केशवराय महात्मा एवं सुकवि थे ही। इससे महात्मा श्रीसरसदेवजी उन्हे अत्यंत प्रेम की दृष्टि से देखने लगे थे। उन्होंने इन्हें सादर लिया, और अपने ही पास ठहराया। श्रीसरसदेवजी के एक और शिष्य नागरीदासजी थे। वह टट्टियों की कुटिया बनाकर कुछ और वैष्णवों के साथ यमुनाजी के तट पर निवास करते थे। वह भी प्रसिद्ध महात्मा थे। केशवरायजी सकुटुंब यहीं रहने लगे। बिहारीलालजी की माता का देहांत बहुत पहले हो ही चुका था, इससे अब केशवरायजी को केवल दो पुत्रों और एक पुत्री की चिताथी। पुत्री की अवस्था उस समय बारह वर्ष की हो चुकी थी, अतएव उस समय की प्रथा के अनुसार उसके विवाह करने की उन्हें चिता हुई। पिता तो संतान के विवाह की चिता में लगे, और बिहारीलालजी विद्या सीखने लगे।

श्रीस्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के महंत सदा से संगीत तथा काव्य के पूर्ण ज्ञाता होते आए हैं। इस संप्रदाय में अनेक प्रसिद्ध कवि और गायक थे। श्रीस्वामी हरिदासजी स्वयं संस्कृत और हिंदी के महान् कवि थे। गायन में उनकी निपुणता विश्व-विख्यात थी। श्री स्वामीजी महाराज का गायन सुनने के लिये, वेष बदलकर, प्रतापी मुग़ल-सम्राट् अकबर के जाने की आख्यायिका प्रसिद्ध ही है, और श्रीसरसदेवजी के गुरु श्रीबिहारिनिदासजी के हजारों पद आज भी उनके संप्रदाय के स्थानों में विद्यमान हैं। नागरीदासजी भी साहित्य-संगीत-कला के प्रेमी थे। इस स्थान मे रहकर भी बिहारी-

लालजी ने कुछ दिनों श्रमपूर्वक विद्याध्ययन तथा काव्याभ्यास किया और संगीत -विद्या में भी निपुणता प्राप्त की।

श्रीसरसदेवजीका व्रजमंडल में बहुत महत्त्व था। उन्हें व्रजके सब लोग मानते थे। माथुर वंश के तो प्रायः सभीलोग इसी संप्रदाय में दीक्षित थे; अतएव वे उन्हें मानते और सदा उनके दर्शनों को आते थे। उसी समय व्रज में हरिकृष्ण मिश्र नामक एक माथुर चौबे थे, जो महंत जी के यहाँ आते थे। उनके परशुराम नामक पुत्र था। वह बड़ा ही विद्वान था। श्रीसरसदेवजी की अनुमति से बिहारीलालजी की बहन का विवाह उक्त परशुरामजी मिश्र से हो गया। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान्, कवि और आचार्य कुलपति मिश्र इन्हीं परशुरामजी के पुत्र और बिहारीलालजी के भांजे थे। अपने वंश के आदि पुरुष के विषय में कुलपति मिश्र ने निम्न-लिखित पद्य कहा है—

माथुर - वंस प्रसिद्ध मिश्रकुल अभयराज भय,
सब बिद्या - परबीन वेद - अध्ययन तपोमय।

कुलपति मिश्रजी के वंशज पं० बद्रीप्रसादजी चतुर्वेदी 'बाँदीकुई' में हैं। उनका परंपरागत कथन यह है कि बिहारीलालजी माथुर चौबे और कुलपति मिश्रके मामा थे। पिता ने कन्या के विवाह के उपरांत बिहारीलालजी का विवाह भी मथुरा में एक धनाढ्य माथुर चौबे के यहाँ, उसकी रूपवती कन्या से, कर दिया। बिहारीलालजी के भाई का विवाह भी कदाचित् इसी समय, मैनपुरी में कर दिया। साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्तजी व्यास ने 'बिहारी-बिहार' की भूमिका में जो बिहारीलालजी के वंशजों का होना लिखा है, वे बिहारीलालजी के इन्हीं भाई के वंशज होंगे, क्योंकि बिहारीलाल जी को निज वंशज बूँदी, काली पहाड़ी तथा कामवन में है। संतानों के विवाह के बाद बिहारीलालजी के पिता केशवरायजी बैरागी हो गए। उस समय बिहारीलालजी सपत्नीक उनकेपास नहीं

रह सकते थे, क्योंकि वह आश्रम में रहते थे ; इससे बिहारीलाल जी मथुरा में, अपनी ससुराल में, रहने लगे । पर वह महात्मा नागरीदासजी के यहाँ, उनके दर्शन करने एवं साहित्य-संगीत सुनने-सुनाने, सदैव आया-जाया करते थे।

इसी समय, संवत् १६७५ में, श्रीनरहरिदासजी भी बुंदेलखंड से श्रीवृंदावन-धाम चले आए, और श्रीनागरीदासजी के स्थान पर ही ठहरे। बिहारीलालजी अब अपने गुरु श्रीनरहरिदासजी के पास नियम से आने लगे। उनका महात्म्य तो पहले से ही प्रसिद्ध था। अब वृंदावन आने पर उनकी ख्याति और भी बढ़ी। बड़े-बड़े विद्वान् और कुलीन एवं धनी लोग उनके पास आने लगे। बादशाह जहाँगीर गद्दी पर था, और शाहजहाँ यद्यपि युवराज था, पर बादशाह ने उसे सुल्तान का खिताब (पद) दे दिया था। उस समय तक मुसलमान बादशाह हिन्दुओं के संत-महंतों के पास बड़ी श्रद्धा से जाते, और उनके दर्शन करके उनके उपदेश एवं आशीर्वाद से लाभ उठाने की अभिलाषा रखते थे। 'तुजके-जहाँगीरी' में जहाँगीर बादशाह का संवत् १६७५ में वृंदावन जाना और चिद्रूपनामक महात्मा का दर्शन करना लिखा है। इस यात्रा में बादशाह जहाँगीर के साथ सुल्तान शाहजहाँ भी था। सुल्तान शाहजहाँ श्रीनागरीदास की टट्टी में उनके दर्शनों को गया, और उसने वहाँ श्रीनरहरिदासजी से भी भेंट की। इस समय बिहारीलालजी भी महात्मा नरहरिदासजी के दर्शनों को गए थे। इस समय तक बिहारीलालजी की कीर्ति फैल गई थी। वह संगीत और काव्य एवं संस्कृत तथा हिंदी के मर्मज्ञ विद्वान् समझे जाने लगे थे। बिहारी-बिहार में लिखा है—

विद्या-काव्य अनेक विधि पढ़ी परम सचुपाय।
स्वामी की आसीस सों भए सब पूरन काम ;

गान-ताल सब सीखियौ जपत रहे हरि-नाम।
निज भाषा अरु संस्कृत पढ़ि लीन्हीं बहु भाँति ;
सुखी भए माता-पिता, सखा, मित्र अरु जाति।
एक समय सरताजजू शाहजहाँ सुलतान ;
आए इहि अस्थान में कीन्हों बहु सनमान।
राग-रागिनी सुनि लिए पंच शब्द परकार ;
तब कबिता की कह दई स्वामी गुन-आगार।
हम उनकी कबिता करी, भए प्रसन्न बड़ भाव,
चलत कहीं हमसों तबहिं अर्गलपुर में आव।

इस प्रकार शाहजहाँ की आज्ञा से बिहारीलालजी आगरे पहुँच गए। वहाँ शाहजहाँ ने उन्हें सादर रख लिया। शाहजहाँ फारसी, संस्कृत और हिन्दी का जाननेवाला एवं बड़ा ही कविता-प्रेमी था। इसी के दरबार में पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली, महाकवि राय सुंदर, कवि-श्रेष्ठ आचार्य कुलपति मिश्र,कविवर दूलह आदि अनेक प्रसिद्ध महाकवि और आचार्य थे। बिहारीलालजी बहुत दिनों तक वहाँ संगीत और साहित्य सुनाते हुए शाहजहाँ के आश्रय में रहे। यहीं उन्होंने फारसी और उर्दू साहित्य का अध्ययन मनोयोग पूर्वक किया। कुछ दिनों बाद शाहजहाँ के पुत्र उत्पन्न हुआ। इस समय आगरे में बड़ा उत्सव मनाया गया। इस उत्सव में भारत के ५२ नृपति पहुँचे थे। 'बिहारी-बिहार' में लिखा है—

मध्य आगरे जमुन-तट दुर्ग अगम आगार,
बसे तहाँ बहु काल पुनि करि कबिता बिवहार।
पढ़ी पारसी साह की गजल, गीत अरु सेर ;
गान सुनत सो रात को दिवस गए बहुतेर।
पुत्र जु जनम्यो साह के बजी बधाई देस,
दीप दीप में बड़ हरख रावत, राव, नरेस।

ताहि समय बावन नृपति भारत के तहँ आय ;
शाहंसाह हमें कही कविता सबहिं सुनाय।
तब रचि-पचि कविता करी साह सराही ताहि ,
रहे भूप - दरबार में मन में सब हरषाहि।
शाहजहाँ की साहिबी लालबिहारी मान ,
धन-मनि-भूषन को गने, पायो बहु सनमान।
भारत के बावन नृपति रहे आगरे माहिं ,
सनद दिवाई सबन सों साहिब आपु सिहाहिं।
बर्षासन सबने करे जथासक्ति सुभ काम।

आगरे में रहना बिहारीलालजी को बड़ा लाभदायक हुआ। वहाँ उन्होंने फारसी-उर्दू भी पढ़ी, और उसमें कविता करने का भी अभ्यास किया। उस समय आगरा राजधानी होने के कारण लक्ष्मी का आगार था। शाहजहाँ के कृपा-पात्र होने के कारण छोटे-बड़े सभी सामंत, सरदार, साहूकार और धनी-मानी लोगों के यहाँ बिहारीलालजी का आदर होने लगा। वह भी काव्य-व्यवहार करते हुए वहाँ सुख से जीवन व्यतीत करने लगे। पुत्रोत्पत्ति पर शाहजहाँ ने बिहारीलालजी को बहुत सम्मान-पूर्वक धन, मणि और आभूषण देकर अत्यंत संतुष्ट किया, और शाहजहाँ के कहने से एवं उसका कृपा-पात्र जानकर उन बावन राजाओं ने भी दान-सम्मान से बिहारीलालजी को संतुष्ट किया, एवं बर्षाशन (भोजन के निमित्त कुछ सालाना बंधान) बाँध दिया। इसी समय आगरे में बिहारीलालजी प्रसिद्ध कवि और दानी खानखाना नवाब अब्दुलरहीम से मिले। उनकी सभा में उन्होंने निम्न-लिखित दोहे सुनाए—

जनमु ग्वालियर जानिए, खंड बुँदेलैंबालु,
तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुरालु।

श्रीनरहरि नरनाह को दीन्हीं बाँह गहाय ;
सुगुन - आगरैं आगरैं रहत आय सुख पाय।

फिर रहीम की प्रशंसा में एक दोहा सुनाया। ध्यान रहे, रहीम ने महाकवि गंग को एक पद्य पर प्रसन्न होकर ३६ लाख मुद्राएँ दी थीं। यह घटना साहित्य में अत्यत प्रसिद्ध है। विहारीलालजी ने रहीम की प्रशंसा करते हुए कहा--

गंग गौंछ, मोछैं जमुन, अधरन सरसुति-रागु,
प्रकट खानखानान कैं कामद बदन प्रयागु।

इस पर प्रसन्न होकर एवं विहारी के काव्य एवं संगीत की अभिज्ञता जानकर खानखाना रहीम ने विहारीलालजी का बड़ा सम्मान किया, और उन्हें कई हजार स्वर्ण-मुद्राएँ दीं।

डुमरॉव-निवासी पं० नकछेदी तिवारी ने कवियों के विपय में बड़ी खोज की है। तिवारीजी ने भारत-जीवन-प्रेस, बनारस से प्रकाशित रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' के आदि में रहीम का जो परिचय दिया है, उसमें लिखा है---

"खानखानाजी पंडित, कवि, मुल्ला, शायर, ज्योतिषी, गवैया, बजवैया, तीरंदाज, बरकंदाज इत्यादि सब गुणवान् मनुष्यों के बड़े कद्रदान थे। इनकी सभा अहर्निश विद्वज्जनों से भरी-पुरी रहती थी। इन्हीं महाराज ने सतसईकार विहारीलालजी को, एक दोहे पर, खड़ा कराके अशर्फियों से तोपवा दिया था। एक छप्पय पर गंग को छत्तीस लाख रुपया दिया था।"

इसी समय विहारीलालजी उन बावन राजाओं के यहाँ आने-जाने लगे। वहाँ वह वर्षाशन एवं पुरस्कार प्राप्त करते रहे। पर उनका मुख्य निवास-स्थान आगरे में ही रहा। इसी समय, संवत् १६७८ के लगभग, बादशाह जहाँगीर का, नूरजहाँ बेगम के कहने से, शाहजहाँ पर कोप हुआ। नूरजहाँ का उद्देश्य बादशाह जहाँगीर के दूसरे लड़के शहर-

यार को, जिससे नूरजहाँ ने अपनी शेर अफगन से पैदा हुई लड़की का विवाह कर दिया था, बादशाह के बाद गद्दी पर बैठाने का था। नूरजहाँ की चालबाजियों के कारण जब शाहजहाँ रुष्ट हो गया, तब उसने बादशाह जहाँगीर के खिलाफ बगावत कर दी। इसमें उसे आगरा छोड़ना पड़ा। इस समय बिहारीलालजी कभी आगरा और कभी मथुरा में रहे, एवं अपना नियत वर्षाशन लेने के लिये भारत के अन्य राजाओं के दरबारों में आते-जाते रहे। अनुमान से यह विदित होता है कि इसी समय बिहारीलालजी का ध्यान एक सुशृंखल तथा प्रयोग-साम्य साहित्यिक ब्रजभाषा का ढाँचा स्थिर करने की ओर आकृष्ट हुआ। और, वह इसी में दत्त-चित्त रहे। संवत् १६७८ से १६९१ तक का समय बिहारीलालजी ने अध्ययन तथा ब्रजभाषा का साहित्यिक ढाँचा स्थिर करने में लगाया। इसी समय वह जोधपुर एवं बूँदी आदि दरबारों में गए, क्योंकि संभवतः यहाँ के राजा भी उन ५२ नृपतियों में से थे, जिनसे बिहारी को वर्षाशन मिलता था।

उस समय महाराज जसवंतसिंहजी जोधपुर की गद्दी पर थे। यह महाराज स्वयं साहित्य-मर्मज्ञ और सुकवि थे। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि जसवंतसिंहजी का भाषा-भूषण-नामक सुप्रसिद्ध एव आचार्यत्व प्रकट करनेवाला विशद ग्रंथ महाकवि बिहारीलाल जी का ही रचा हुआ है। यद्यपि भाषा-भूषण के दोहे बड़े ही उच्च कोटि के तथा रचना-लाघव के आदर्श कहे जा सकते है, एवं उनकी भाषा बहुत ही सुधरी हुई है, तथापि उसमें वैसी टकसाली भाषा नहीं है, जैसी सतसई में है। इससे यह विदित होता है कि बिहारीलालजी ने 'यदि भाषा-भूषण की रचना की हो, तो उसका समय सतसई के पूर्व का मानना सगत प्रतीत होता है। सुनने में आया है कि जोधपुर में 'दूहा-संग्रह'-नामक १५-१६ सौ दोहों का एक ग्रथ

है, जिसमें बिहारी सतसई के भी कुछ दोहे हैं। इससे बिहारीलाल जी का जोधपुर में कुछ समय तक रहना एवं उनका भाषा-भूषण लिखना बहुत संभव प्रतीत होता है। हो सकता है, उक्त 'दूहा-संग्रह' सर्वथा बिहारीलालजी की ही कृति हो, क्योंकि बिहारी-सतसई पर देवकीनंदन की वर्णार्थ-प्रकाशिका टीका में बिहारी के स्वीकृत चौदह सौ दोहों का उल्लेख है, एवं मिश्रबंधु-विनोद में भी केशव की पुत्र-वधू का कवि होना लिखा है। वर्णार्थ-प्रकाशिका टीका में लिखा है—

चौदह सौ दोहा किए तिहिं तिय परम प्रवीन।

अस्तु। यह ग्रंथ अभी देखने में नहीं आया।

बिहारीलालजी वर्षाशन लेने आमेर आते-जाते थे। इस समय शाहजहाँ बादशाह हो चुका था। संवत् १६९१ या १६९२ के लगभग बिहारीलालजी वर्षाशन लेने के लिये आमेर गए थे। महाराज जयसिंह उस समय एक नवीन रानी ब्याह लाए थे। वह उसके सौंदर्य और वयःसंधि की छटा पर ऐसे मुग्ध हो रहे थे कि रात-दिन उसी के महल में पड़े रहते थे। वह राज-काज की सुधि भूल गए थे। उन्होंने यह आज्ञा भी निकाल दी थी कि जो राज-काज की चर्चा से हमारे रंग में भंग करेगा, उसका अंग-भंग कर दिया जायगा। इस आज्ञा से भयभीत होकर कोई उन्हें चेतावनी देने का साहस नहीं कर सकता था। महाराज जयसिंह की मुख्य महारानी—जो करौली के सरदार श्यामदास चौहान की पुत्री थीं, और चौहानी रानी कहलाती थीं—उस समय गर्भवती थीं। उन्हें महाराज के नवीन रानी के फंदे में इस प्रकार फँसने का बड़ा ही दुःख था। इसमें राज्य-हानि और सौतिया डाह दो कारण थे।

बिहारीलालजी ने राजा के पास तक पहुँचने का उद्योग किया, पर वह जब कृतकार्य न हुए, तब आमेरगढ़ के पास ब्रह्मपुरी में, ब्रह्ममंडलों

के बीच ठहर गए। उन्हें आशा थी कि राजा शीघ्र ही उन्हें बुलावेंगे, केवल उनके आगमन की सूचना राजा तक पहुंचाने-भर की देर है। दूसरे, वह इतनी दूर का आगमन निष्फल नहीं जाने देना चाहते थे। बिहारीलाल जी के आगमन की सूचना पाकर महाराज के शुभ-चिंतक मंत्रियों, कर्मचारियों तथा चौहानी रानीजी ने, जो बड़ी बुद्धिमती थीं, यह विचार किया कि बिहारीलालजी बादशाह के कृपापात्र और दरबारी कवि है। यदि यह महाराज जयसिंह को कोई चेतावनी दें, तो दे सकते हैं, क्योंकि महाराज रुष्ट होकर भी इन्हें दंडित करना उचित नही समझ सकते। यह विचार कर एक सभा उनलोगों ने की, और बिहारीलालजी को वहाँ बुलवा भेजा। जब वह वहाँ पहुंचे, तो मंत्री ने आगे बढ़कर उन्हें सादर लिया, और उनसे राजा की स्थिति सुनाकर राजा को कोई चेतावनी देने की प्रार्थना की।

महाकवि बिहारीलालजी मनुष्य-स्वभाव के पारखी तो थे ही, अतः उन्होंने पूर्वापर विचार करके एक दोहा लिखा, जो शृंगारात्मक था। रंगमहल में शृंगारिक कविता पहुँचाने का कोई निषेध नहीं था; अतएव एक दासी के द्वारा बिहारीलालजी के आगमन की सूचनासहित वह दोहा भेजा गया। वह दासी बिना किसी विघ्न-बाधा के उस दोहे को ले गई; और उसे महाराज के हाथ में दे दिया। वह दोहा यह है—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल ,
अली कली ही सौं बँध्यो, आगै कौन हवाल ?
(बिहारी)

जब महाराज जयसिंह के पास बिहारीलालजी के आगमन की सूचना-सहित यह अन्योक्ति-गर्भित, सरस, उपदेश-पूर्ण दोहा पहुंचा, तब उन्होंने दोहे को ध्यान से पढ़ा। दोहा पढ़ते ही महा-

राज जयसिंह का विलास-मद उतर गया। महाराज जयसिंह को अली (भ्रमर) और मुग्धा रानी को कली बनाकर, कितनी विदग्धता से, कैसे अनूठे ढंग से, यह दोहा कहा गया है, इसे मर्मज्ञ देखें। इसमें अपने भौरे की हित-कामना का बहुत ही गंभीर और हृदय-तल को हिला देनेवाला भाव है। अपने विषयासक्त, कामांध, उपकारी मित्र के भावी अनर्थ की चिंता से अत्यंत व्याकुल होने-वाले कृतज्ञ मित्र की कातरोक्ति का विशद चित्र इस दोहे में अनुपम है। इस दोहे के विषय में प० पद्मसिंह शर्मा ने संजीवन भाष्य के भूमिका-भाग में ठीक ही कहा है—"कहनेवाले की एकांत हितैषिता, परिणामदर्शिता और विषयासक्त मित्र के उद्धार की गंभीर चिंता के भाव इससे अच्छे ढंग पर किसी प्रकार प्रकट नही किए जा सकते।"

इस दोहे का प्रभाव भी खूब ही पड़ा। जिस कार्य को बड़े-बड़े धुरंधर राजनीतिज्ञ मन्त्रियों के विवेक-पूर्ण प्रयत्न न कर सके, उसे बिहारीलालजी ने अपनी कविता के जादू से कर दिखाया। इस दोहे से जयसिंह की आँखे खुल गई. और फिर शाहजहाँ के ध्यान के धक्के तथा राज्य-काज की चिंता से उनका वह मद उतर गया। उन्होंने सोचा, यदि महाकवि बिहारीलालजी यहाँ से मेरी यह दशा देखकर निरादर-पूर्वक लौट जायँगे, तो शाहजहाँ रुष्ट हो जायगा। उस समय राज्य को खालसा से छूटे थोड़ा ही समय हुआ था। ध्यान रहे, आमेर-पति वीरवर महाराजा मानसिंह के वंश में जब कोई नहीं रहा, तब जहाँगीर ने जोधाबाई के अनुरोध से आमेर की गद्दी और मिर्जा राजा की उपाधि मानसिंह के भाई के पोते जय-सिंह को दी थी। गद्दी पाने के कुछ दिनों बाद ही उन्होंने मुग्धा रानी से नवीन विवाह किया था। दोहे के 'आगै कौन हवाल' पद के गूढार्थ का भी राजा पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा, और उन्हें बिहारीलालजी को संतुष्ट कर लेना ही उपयुक्त जँचा। महाराज

रंगमहल से बाहर निकल आए। उन्होंने बिहारीलालजी का बड़ा आदर-सत्कार किया, और उन्हें इस सुंदर दोहे पर एक 'पसर' स्वर्ण-मुद्राएँ दीं। इतिहासों से भी यह भली-भाँति प्रकट है कि महाराज जयसिंह जैसे वीर थे, वैसे ही नीति-कुशल और देश-काल के जाननेवाले भी। उन्होंने सोचा, यदि बिहारीलालजी उनके यहाँ से जायँगे, तो वह उनकी स्त्रैणता एवं राज-काज-संबंधी उदासीनता का संवाद स्वयं बादशाह तथा अन्यान्य नृपतियों को सुनाते फिरेंगे। अतः महाराज ने बिहारीलालजी की काव्य-प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए उनसे कहा, यदि वह कुछ दिन आमेर में रहें और ऐसे ही उत्कृष्ट दोहे बनावें, तो उन्हें प्रति दोहा एक मोहर भेंट की जायगी।

इसी समय चौहानी रानी भी राजा को अपनी सौत के वश से मुक्त एवं राज्य-काज में लगे हुए देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने बिहारीलालजी को अपनी ड्योढ़ी पर बुलवाया, और बहुत-सा पारि-तोषिक तथा 'काली पहाड़ी' ग्राम उन्हें पुरस्कार में दिया। साथ ही यह भी कहा कि आप हमारी ड्योढी के कवि होकर आमेर में ही निवास करें। चौहानी रानी ने उक्त घटना-संबंधी बिहारीलाल-जी का चित्र भी बनवाया, जो अभी तक जयपुर के एक महल में विद्यमान है। उस चित्र से उक्त घटना का समाचार सं० १६९२ का प्रतीत होता है। इससे सतसई-निर्माण आरंभ करने का काल भी विदित हो जाता है। इस चित्र से बिहारीलालजी की अवस्था ४० वर्ष के लगभग जान पड़ती है, अतः उनका जन्म संवत् १६५२ में मानना उपयुक्त जान पड़ता है। बिहारीलालजी भी राजकर्मचारियों, मन्त्रियों, एवं महारानी द्वारा समादृत होकर वहाँ रहने और सतसई-निर्माण करने लगे।

उक्त घटना के दो-तीन मास के अनन्तर चौहानी रानी के गर्भ से महाराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुँवर रामसिंह का जन्म हुआ।

इस अवसर पर जयपुर में बड़ा उत्सव मनाया गया। महाराज जयसिंह तथा चौहानी रानी ने बिहारीलालजी को भी इस अवसर पर बहुत-सा पुरस्कार देकर संतुष्ट किया। कहते हैं, उसी समय बिहारलालजी ने जयसिंह की प्रशंसा में यह दोहा कहा था—

चलत पाय निगुनी-गुनी धन-मनि-मुकता-माल,
भेंट भए जयसाह सों भाग चाहियतु भाल

इसमें जयसिंह द्वारा बेशुमार धन लुटाए जाने का वर्णन है। उनके पास इस समय जो गया, वह खाली हाथ नहीं लौटा। हाँ, केवल भाग्यवान ही उन तक पहुँच सके।

इसी सुअवसर के उपलक्ष्य में कुछ दिनों के उपरांत 'शीशमहल' में एक विशाल दरबार हुआ। इसमें महाराज ने बिहारीलालजी से कविता सुनाने के लिये कहा। महाकवि बिहारीलालजी ने उस समय की महाराज जयसिंह की शोभा का वर्णन करते हुए कहा—

यों राजत जयसाह दुति, दीपति दरपन-धाम,
सब जग जीतन को कियो काय-व्यूह मनु काम।

इस अवसर पर भी बिहारीलालजी को यथेष्ट पुरस्कार प्राप्त हुआ। महाराज जयसिंह शाहजहाँ के राजत्व-काल के आरंभ में खानजहाँ लोदी के साथ दक्खिन में थे। फ़ारसी के इतिहास 'मआसिरुल उमरा' से एक लक्खी जादो* का पता चलता है, जो दक्खिन में दौलताबाद-सरकार के संदखेर का देशमुख और निजामशाही राज्य का एक बड़ा मनसबदार था। यही लक्खी जादो छत्रपति महाराज शिवाजी का नाना था। संभवतः इससे और महाराज जयसिंह से युद्ध हुआ था, और महाराज जयसिंह ने इसे परास्त किया था।

---

*मराठी इतिहासकारों ने इसका नाम लूखरी जादो लिखा है।

जब इसे परास्त कर महाराज जयपुर (आमेर) आए, तब विहारी-लालजी ने इस जीत के उपलक्ष्य मे उन्हें यह दोहा सुनाया—

रहति न रन जयसाहि-मुख लखि लाखनु की फौज,
जॉचि निराखरऊ चलैं लै लाखनकी मौज।

इस दोहे से जान पड़ता है कि इस विजय की खुशी में जयसिह ने खूब द्रव्य लुटाया था। इस अवसर पर विहारीलालजी ने भी अवश्य ही बहुत-सा पुरस्कार प्राप्त किया होगा। विहारीलालजी इस प्रकार समयानुकूल दोहे बनाते हुए सतसई का भी निर्माण करते रहे, जिसके दोहे वह समय-समय पर महाराज जयसिंह को सुनाते रहे, और उन्हें प्रति दोहा एक मोहर के हिसाव से पुरस्कार मिलता रहा।

इसी समय, संवत् १७०० के कुछ पूर्व ही, कुमार रामसिंह का विद्यारंभ कराया गया। बिहारीलालजी चौहानी रानी के कृपा-पात्र और आदरणीय थे ही, अतएव वह कुमार रामसिह के शिक्षक नियत हुए। इन्हीं कुमार रामसिह के पढाने के निमित्त बिहारी-लालजी ने दोहों का एक संग्रह बना दिया। इसमें आदि में ५०० दोहे तो उन्होंने अपने रक्खे थे, और शेप अन्य कवियो की कविता थी। इस पुस्तक में बिहारी-सतसई के अतिरिक्त उनके पॉच दोहे और मिलते हैं, जिनमें से तीन ये है—

श्रीरानी चौहानि को करतब देखि रसाल ;
फूलति है मन में सिया पहिरि फूल की माल।
दान ग्यान हरि-ध्यान कौं सावधान सब ठौर,
श्रीरानी चौहानि है रानिनु की सिर-मौर।
नित असीस हौं देत हौं, उर मनाइ जगदीस;
रामकुँवर जयसिंह को जीयौ कोरि बरीस।

जान पड़ता है बिहारीलालजी ने सतसई का निर्माण जयसिंह

के कहने से ही किया था। यह बात बिहारीलालजी के इस दोहे से भी प्रकट होती है—

हुकम पाइ जयसाहि को हरि-राधिका-प्रसाद ;
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद।

संवत् १७०४ में महाराज जयसिंह औरंगजेब के साथ बलख की चढाई पर गए थे, और वहाँ से बड़ी चतुरता तथा वीरता से बादशाही सेना को पठानों तथा बर्फ से बचा लाए थे। इस पर उनका आगरे में बड़ा सम्मान किया गया। उनके आमेर लौटने पर वहाँ भी बडा उत्सव मनाया गया। इस समय बिहारी-सतसई के दोहे पूरे हो चुके थे, अतः बिहारीलालजी ने इसी घटना की प्रशंसा में निम्नलिखित तीन दोहे और रचे, एवं सतसई में इन्हें जोड़ दिया—

सामाँ सेन सयान की सबै साहि के साथ ;
बाहु - बली जयसाहिजू फतै तिहारै हाथ।
यौं दल काढ़े बलख तैं, तैं जयसाह भुवाल ;
उदर अघासुर के परे ज्यों हरि-गाय-गुवाल।
घर-घर तुरकिनि हिंदुनी देति असीस सराहि ;
पतिनु राखि चादर-चुरी तैं राखी जयसाहि।

इस प्रकार सतसई पूर्ण कर इसी अवसर पर बिहारीलालजी ने उसे महाराज जयसिंह को समर्पित किया, और पुरस्कार एवं सत्कार प्राप्त किया।

बिहारीलालजी आमेर में रहते हुए बादशाह शाहजहाँ के दरबार मे जाते थे। वहीं उन्होंने पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली से अपने भांजे कुलपति मिश्र को पढ़ाने के लिए कहा, जिसे पंडितराज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, और भले प्रकार कुलपति मिश्र को पढ़ाया। सतसई समाप्त होने तक बिहारीलालजी की स्त्री का देहांत हो चुका था, अतएव उन्होंने अपने गोद लिए पुत्र निरंजनकृष्ण (जो कृष्ण-

लाल भी कहलाते है) को जयसिंह तथा रामसिंह के पास छोड़ा, और आप विरक्त होकर श्रीवृन्दावन-धाम, अपने दीक्षा-गुरु श्रीनरहरिदासजी के पास, चले आये। कुंवर रामसिह के कहने से कृष्णलाल ने विहारी-सतसई पर एक गद्यात्मक टीका लिखी, जो संवत् १७१९ में पूर्ण हुई। इसी की समाप्ति का यह दोहा है।

संवत ग्रह ससि जलधि छिति छठितिथि बासर चंद ,
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनँद-कंद

कई लोग इसे विहारी-सतसई की समाप्ति का काल वतलानेवाला मानते हैं, पर यह भ्रम है। यदि सतसई की समाप्ति का यह दोहा होता, तो प्राचीन टीकाओं और क्रमों में इसका उल्लेख अवश्य होता। पर यह केवल लालचन्द्रिका और एक अन्य अर्वाचीन गद्य टीका मे है। लल्लूलालजी ने आजमशाही क्रम अपनाया है, पर आजमशाही क्रम की किसी प्राचीन प्रति में यह नहीं पाया जाता। हाँ, एक गद्य टीका में—जो प्राचीन है, एवं जिसकी प्रति पर लेखक का नाम नहीं है—यह पाया जाता है। यह प्रति श्रीयुत जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' के पास थी। वह इसे कृष्णलाल की टीका कहते थे। अस्तु। यह कृष्णलाल मिर्जा राजा जयसिंह के साथ औरंगजेब के दरबार मे भी आया-जाया करते थे। यह बात उनके निम्न-लिखित छंद से, जिसे उन्होंने औरंगजेब की प्रशंसा मे कहा है, विदित होती है। वह छंद यह है—

काँपत अमर खलभल मचै ध्रुवलोक,
उडुगन-पति अति संकनि सकात हैं,
देस के दिनेस के गनेस सब काँपत हैं,
सेस के सहस फन फैलि-फैलि जात हैं।
आसन डिगत पाकसासन सुकृष्ण कबि,
हालि उठैं दुग्ग बड़े गंभ्रप के ख्यात हैं,

चढ़े तें तुरंग नवरंग साह बादशाह,
जिमीं आसमान थर - थर थहरात हैं।

बिहारीलालजी को सतसई रचने के उपरांत कविता से भी विरक्ति हो गई थी। बिहारी-विहार में लिखा है।

डोरी लागी प्रेम की बृंदावन के मॉहिं,
आए स्वामी-थान में सुख-युत जनम सिराहिं।
कविता सों मन हटि गयो, लग्यो कान्ह सों ध्यान,
लाल बिहारी ह्वै गए दास बिहारी मान।

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण का भजन करते हुए बिहारीलालजी संवत् १७२१ में परमधाम सिधारे।

इस प्रकार बाल्यावस्था से ही धुरंधर विद्वान्, प्रकांड पंडित और बड़े-बड़े प्रसिद्ध महात्माओं का सत्संग प्राप्त कर, संस्कृत, फ़ारसी हिंदी, प्राकृत एवं उर्दू आदि भाषाओं का पूर्ण अध्ययन कर, साहित्य एवं संगीत में पूर्णता प्राप्त कर, सम्राट, महाराज, राजा, राव, उमराव, मंत्री, सरदार, विद्वान् एवं महात्मा लोगों से अश्रुत-पूर्व सत्कार और पुरस्कार प्राप्त कर महाकवि श्री बिहारीलालजी ने अपनी जीवन-लीला संवरण की। बिहारीलाल प्रेमी, उदार एवं आत्माभिमानी कवि थे। उनमें जातीय प्रेम भी था। वह हिंदुत्व के अभिमानी थे। उन्हों ने जीवन-भर किसी की अनुचित प्रशंसा नहीं की। उनका जातीय प्रेम इसी से प्रकट है कि उन्होंने अपने महान् संरक्षक मिर्जा राजा जयशाह की, उस विजय पर उनकी कुछ भी प्रशंसा नहीं की, जो उन्हें औरंगजेब की ओर से शिवाजी से लड़ने पर प्राप्त हुई थी।

बिहारीलालजी के विषय में मिश्रबन्धुओं ने भी लिखा है—

"बिहारी ने शिवाजी की पराजय का हाल स्पष्ट नहीं लिखा, यद्यपि स्वयं मिर्जा राजा जयसिंह ने उन्हें हराया था। इससे जान पड़ता है की मुगलों की ओर से जयशाह का शिवाजी से लड़ना इन्हें

भला नहीं लगा। इस बात से प्रच्छन्न रूप में इनका जातीय प्रेम भी देख पड़ता है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० स०, पृ० सं० ३०४)

बिहारीलालजी ने एक अन्योक्ति द्वारा मिर्जा राजा जयशाह को शिवाजी पर चढ़ाई करने से रोकने की भी चेष्टा की थी। वह दोहा यह है—

स्वारथ-सुकृत न, श्रम बृथा, देख बिहंग, विचारि;
बाज पराए पानि पर तू पच्छीनु न मारि।

(बिहारी)

भावार्थ—हे बलवान् पक्षिराज बाज ! दूसरे (विजातीय) के वश मे होकर तू अपने स्वजातीय पक्षियों को न मार। हे स्वच्छंद विहारी, दूरदर्शी विहग ! तू अपने मन में थोड़ा विचार करके तो देख। इस काम में न तो तेरे किसी स्वार्थ की सिद्धि होती है, और न यह कार्य सत्कार्य ही है, जिससे यश और पुण्य प्राप्त हों। इसमें तुझे श्रम करना व्यर्थ है।

जयसिंह पर इस दोहे का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था, और वह शिवाजी से संधि कर उन्हें बादशाह औरंगजेब के पास मनसबदारी दिलवाने के लिए किस प्रकार लाये थे, यह घटना इतिहास में अत्यंत प्रसिद्ध है। इस पर अधिक लिखना यहाँ अप्रासंगिक जान पड़ता है। बिहारीलालजी में जातीय भावना थी, इसके एकाधिक प्रमाण प्राप्त होते है। हिंदू-धर्म और हिंदू-सभ्यता के प्रबल शत्रु, अंध-भक्त, मुस्लिम-पक्षपाती और अत्याचारी औरंगजेब बादशाह के हिंदुत्व-विनाशक अत्याचारों का प्रभाव सहृदय महाकवि बिहारीलालजी पर अवश्य ही पड़ा था। उन्होंने महाराज मानसिंह का जो चित्र अंकित करके अपने निम्नलिखित कवित्त में रक्खा है, उससे यह पता चलता है कि वह मानसिंह

को हिंदू-हित-रक्षक की दृष्टि से भी देखते थे। वह मानसिंह को उन हिंदुओं में से समझते थे, जो अवसर देखकर बादशाह से मिल गए थे, पर भीतर-ही-भीतर विदेशी मुसलमानों से द्वेष करते थे। वह अवसर प्राप्त होते ही बादशाह से मिलकर मुसलमानों को निर्बल करने का प्रयत्न करते थे। इतिहास से भी यह पता चलता है कि मानसिंह ने काबुल के मुसलमानों का बल तोड़ा था, और बंगाल के पठानों को बड़ी तेजी से कुचलने में अतुल शौर्य दिखाया था। स्वय बादशाह अकबर भी मानसिंह को सशंक दृष्टि से देखता था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने अपने Annals of Rajasthan-नामक ग्रंथ में लिखा है "अकबर ने मानसिंह से डरकर उसे जहर देने का प्रयत्न किया था, जिसे भूल से खुद खा गया, और इसी कारण उसकी मृत्यु भी हुई।" अस्तु। जो हो, पर बिहारीलालजी ने मिर्जा राजा जयसिंह तथा उनके उत्तराधिकारी महाराज कुमार रामसिंह के सम्मुख उनके प्रबल प्रतापी पूर्व-पुरुष महाराज मानसिंह के चरित्र के जिस आदर्श को प्रशंसात्मक समझकर उपस्थित किया था, वह निम्न-लिखित कवित्त में है। बिहारीलालजी लिखते हैं—

महाराजा मानसिंह पूरब पठान मारे,
सोनित की सरिता अजौं ना सिमिटत है;
'सुकबि बिहारी' अजौं उठत कबंध कूदि,
आजु लगि रन तैं रनोही ना मिटत है।
आजु लौं पिसाचन की चहलन तैं चौंकि-चौंकि
सची-मघवा की छतियाँ सों लपटति है;
आजु लगि ओढ़ैं हैं कपाली आली-आली खालैं,
आजु लगि काली-मुख लाली ना मिटत है*।

---

* सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ और विद्वान् स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी जोधपुरी ने बड़े परिश्रम और खोज से राजपूताने के कवियों के विषय में जो

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी में जातीयता थी, एवं उन्होंने अपने प्रिय शिष्य कुमार रामसिंह में भी जातीय भावना भरी थी। यह बिहारीलालजी की ही शिक्षा का फल था कि महाराज रामसिंह के समय में जब हिन्दुओं के जातीय महाकवि भूषण त्रिपाठी आमेर गए, तब भूषण का यथोचित आदर-सत्कार हुआ, और उन्हें 'पुरस्कार भी दिया गया।' उस समय भूषण ने उनके वंश की प्रशंसा में निम्न-लिखित छंद कहा था—

अकबर पायो भगवंत के तनै सों मान,
बहुरि जगतसिंह महा मरदाने सों ;
'भूषन' यों पायो जहाँगीर महासिंहजू सों,
शाहजहाँ पायो जयसिंह जगजाने सों।
अब अवरंगजेब पायो रामसिंहजू सों,
औरौ दिन दिन पै है कूरम के माने सो ;
केते रावराजा मान पावैं पातसाहन सों,
पावैं पातसाह मान मान के घराने सों।

खैर, जो हो, पर यह स्पष्ट है कि बिहारीलालजी में जातीय प्रेम और हिंदुत्व की भावना थी। तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी प्रखर-प्रतिभा-संपन्न कवि थे, जिन्हें अनेक विद्याओं और कलाओं का अच्छा ज्ञान था। वह प्रेमी पुरुष थे। भारत-प्रसिद्ध महात्माओं से लेकर सम्राट् तक उनका आदर करते थे। वह बहुदर्शी तथा देश-

'कविरत्न-माला' नाम की पुस्तक लिखी है, उसमें सतसईकार बिहारी-लालजी का यह कवित्त मिर्जा राजा जयशाह के दादा महाराज मानसिंह की प्रशंसा में कहा गया लिखा है। इस कवित्त को कविराजा मुरारिदानजी ने भी अपने 'जसवंत-जसोभूषण' में सतसईकार बिहारीलालजी का ही माना है।

कालज्ञ महाकवि थे। उनका पांडित्य और अनुभव बेहद बढ़ा-चढ़ा था। काव्यानंद में मस्त रहना ही उनके जीवन का एकांत उद्देश्य था। इसी से उनकी कविता रस से सराबोर है। उसमें कला की प्रधानता है; संदेश की नहीं। हाँ, उत्तम कला के साथ कवि के अनुभव और ज्ञान का निचोड़ उसकी रचना में है, पर उसमें भी प्रधानता काव्य की है, वह तो आपसे आ गया है।

———

सतसई-परिचय

हिंदी-काव्य-शिरोमणि और सहज-रसीली ब्रजभाषा के पीयूष-वर्षी महाकवि श्रीबिहारीलालजी की एकमात्र रचना उनकी सतसई है। इसमें सब मिलाकर सात सौ उन्नीस दोहे हैं। इसकी रचना मुक्तकों में हुई है, और मुक्तक-रचना में जो गुण होना चाहिये, वह बिहारी की सतसई में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त है, यह निस्सन्देह है। इसका प्रत्येक छंद स्वतंत्र है। इसी से सतसई का कोई क्रम नहीं है। मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब के पुत्र आज़म-शाह ने इसका एक क्रम स्थिर कराया था, जो आजमशाही क्रम कहलाता है। सतसई के अनेक टीकाकारो ने इसी क्रम को अपनाया है। इस अनूठी, अप्रतिम काव्य-मंजूषा सतसई में महाकवि बिहारीलालजी ने जिन दोहा-रत्नों को यत्र-तत्र बिखेर कर रक्खा है, उनकी चमक-दमक पर काव्य-रसिक और साहित्य-मर्मज्ञ सदियों से हृदय न्योछावर करते आये है। उनकी-सी लोकोत्तर-आनंद-दायिनी कवि-कल्पना, उनकी-सी दूरदर्शिता, उनकी-सी बाह्य और अंतरंग प्रकृति-पर्यवेक्षण-चातुरी, उनकी-सी भाव-माधुरी, उनकी-सी सजीव भाव-प्रतिमा, उनकी-सी व्यापक-ज्ञान-गरिमा, उनकी-सी व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित, अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण, प्रसाद-गुणमयी, भाव-प्रवाहिका, सजीव अलंकृत, मधुर, प्रांजल भाषा, उनकी-सी सजीव-शब्द-चित्र-निर्माण-कारिणी कुशलता और उनकी-सी भाव-पूर्ण पद-स्थान-प्रणाली काव्य-जगत् के विरले ही महाकवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं की इनी-गिनी सूक्तियों मे कठिनता से प्राप्त हो सकती है।

बिहारी-सतसई में रस का सागर लहराता है। मनुष्य के मन-

सागर की भावना-तरगों के सहज-सुकुमार सजीव चित्र खींचने में बिहारीलालजी की प्रतिभा अप्रतिम है। मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर, प्राकृतिक तारतम्य का साम्य मिलाकर, अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण, भावानुगामिनी, सरस भाषा में मजुल भावों की सजीव कल्पना-मूर्तियों को संगीत-मधुर काव्य-कला के क्षेत्र में उपस्थित करने में बिहारीलालजी अद्वितीय ही है। इस सिद्ध सारस्वतीक महाकवि ने कुल ७१९ दोहों में अपने प्रगाढ पांडित्य, व्यापक ज्ञान, सर्वतोन्मुखी प्रखर प्रतिभा और परमोत्कृष्ट काव्य-कला-कुशलता का परिचय पूर्णरूपेण दे दिया है। इसमें नव रस, तेंतीस संचारी भाव, नव स्थायी भाव, संपूर्ण कायिक, मानसिक और सात्त्विक अनुभाव, नायक-भेद, नायिका-भेद, हाव, सखी, दूती, संयोग, विरह, विरह-निवेदन, मान, परिहास, हास, नख-शिख, छ ऋतु, भक्ति, धर्म-नीति, सामान्य नीति, राजनीति, अन्योक्ति, संपूर्ण अर्थालंकार, सपूर्ण शब्दालंकार, ध्वनि और व्यंग्य आदि के साथ-साथ सांसारिक विशाल अनुभव के सैकड़ों अनुभूत विषयो का प्रकृष्ट वर्णन देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। सतसई में काव्यांगो के ऐसे-ऐसे विशद उदाहरण भरे पड़े है, जिनकी जोड़ के उत्कृष्ट और साफ उदाहरण श्रेष्ठतम साहित्य-रीति-ग्रंथो में भी ढूंढे-नहीं मिल सकते।

बिहारी-सतसई में शृंगार-रस का वर्णन प्रधान है। स्मरण रहे, शृंगार विश्व का आदि रस है। इसी रस की झलक हमें इस सृष्टि के रचयिता ब्रह्म की 'एकोऽहं बहुः स्याम' की भावना के अंतस्तल में दृष्टिगोचर होती है। यही एक ऐसा रस है, जिसमें सपूर्ण मनोभावों का वर्णन हो सकता है। इसी के द्वारा मनुष्य-जाति ने जीवन और उत्कर्ष प्राप्त करके अपनी परंपरा कायम रक्खी है, और उदार-हृदय होकर अनेक कलाओं तथा विद्याओं को प्रकट किया है। इसके स्थायी

भाव प्रेम के विषय में कहा ही क्या जा सकता है। यह निश्चित है कि प्रेम-भाव की समता का कोई भी भाव इस विश्व मे नहीं है। प्रेम के आकर्षण-सूत्र से ही इस संसार का संपूर्ण कार्य चलता है। फिर जिस रस का स्थायी भाव ही प्रेम हो, उसकी भावोत्कृष्टता और श्रेष्ठता के विषय मे संदेह ही कैसे किया जा सकता है। इसी प्रेम से उदार-हृदय होकर संसार के भक्तों और दार्शनिकों ने परमात्मा के प्रति जीवात्मा के प्रेम का परिचय प्राप्त किया है। यह कारण है कि संपूर्ण विश्व के संपूर्ण प्रतिभाशाली महाकवियों की रचनाओं में शृंगार-रस के वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। फिर इस रस का विस्तार भी सर्वापेक्षा अधिक है, और जितने भेदों तथा उपभेदो के साथ जितने मनोभावों का वर्णन इस रस में एवं इसके साथ हो सकता है, उतना अन्य रस के साथ स्वप्न मे भी संभव नही। इसी से यह कहा जाता है—"शृंगारी चेत्कविः काव्ये जात रसमयं जगत्।" यदि कवि शृंगारी हो, तो उसकी रचना संसार को रसमय करने मे पूर्ण समर्थ होती है। महाकवि बिहारीलालजी ने भी भाव-धारावाले साहित्य अर्थात् काव्य के प्रधान एव सर्वश्रेष्ठ मनोभाव प्रेम का वर्णन अद्वितीयप्राय किया है। इसमें भी मानवीय शृंगार और भक्ति-शृंगार के आर्य-साहित्य मे जो दो प्रधान भेद माने गए है, उन दोनों का सतसई में श्रेष्ठतम वर्णन पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त सतसई मे जो कुछ रचना है, वह भी ऐसी उत्कृष्ट है कि उसे देखकर स्तंभित होना पड़ता है। सच तो यह है कि इस महाकवि का प्रत्येक दोहा साहित्याकाश का समुज्ज्वल, प्रभा-पूर्ण नक्षत्र है। बिहारीलालजी ने सतसई मे जिस विषय को लिया है, उसका वर्णन इतना उत्कृष्ट किया है कि वहाँ तक अन्य कोई भी कवि, प्रयत्न करने पर भी, नही पहुँच सका। इस महाकवि ने भाषा और भाव का ऐसा अद्भुत मेल मिलाया है कि उसकी

प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। मानव-प्रकृति के कोमल-से-कोमल मनोभावों का वर्णन—काव्य-रीति का पूर्ण पालन करते हुए, बाह्य और आभ्यतर प्रकृति के सामंजस्य के साथ, ध्वनि-काव्य में, शब्द और अर्थ के मनोहर अलंकारों में—जिस विदग्धता से इस महाकवि ने किया है, वह सर्वथा अवर्णनीय है।

'सतसई' या 'सतसैया' शब्द संस्कृत-भाषा के सप्तशती या सप्तशतिका शब्दों के रूपान्तर हैं, जिनका अर्थ 'सात सौ पद्यों का संग्रह' होता है। सतसई की रचना के पूर्व ही प्राकृत और संस्कृत मे गाथा-सप्तशती (श्रीसातवाहन-संगृहीत) और आर्या-सप्तशती की रचना हो चुकी थी। महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने सतसई की रचना प्रारंभ करने के पूर्व इन ग्रंथों का अध्ययन बारीकी से कर लिया था, और फिर इन्हीं आदर्श ग्रंथों के समान ब्रज-भाषा में सतसई की रचना की। बिहारी के पूर्व हिंदी में दोहों में सतसई लिखनेवालों मे गोस्वामी तुलसीदासजी और कवि-श्रेष्ठ सम्माननीय दोहाकार रहीम ने मुक्तक-रचना के अच्छे चमत्कार दिखलाए हैं, पर विश्व-प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास की तुलसी-सतसई भी बिहारी-सतसई से बहुत नीचे रह गई है। बिहारी के बाद तो फिर ऐसी सतसइयों का एक ताँता लग गया। इनमे मतिराम-सतसई, शृंगार-सतसई, वृंद-सतसई, रतन-हजारा एवं विक्रम-सतसई आदि अच्छी रचनाएँ मानी जाती हैं। पर इनमें से एक भी उसे नहीं छू सकतीं। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का जैसा आदर हुआ, वैसा फिर राम-गीता, देवी गीता, अष्टावक्र-गीता आदि को कभी न मिला। जिस प्रकार केवल 'गीता कहने से श्रीमद्भगवद्गीता का बोध हो जाता है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में 'सतसई' कहने से बिहारी-सतसई का बोध हो जाता है। विश्व-विख्यात महाकवि गोस्वामीजी का आसन उनके महाकाव्य रामायण के कारण कितना

ही उच्च क्यों न हो, पर मुक्त-रचना की दृष्टि से वह भी महाकवि बिहारीलालजी के सामने नहीं ठहरते। बिहारीलालजी की सतसई गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती और अमरुकशतक के समान ही नहीं, किंतु कई अंशों में उनसे भी श्रेष्ठ—बहुत श्रेष्ठ है।

सतसई के प्रारंभ काल से लेकर आधुनिक काल तक उसका एकसा परमोच्च सम्मान सहृदय काव्य-मर्मज्ञों एवं साहित्य-मर्मज्ञ, ग्रंथकार महाकवियों तथा रीति-ग्रंथों में रहा है। इसकी प्रशंसा में निम्नलिखित दोहे प्राचीन काल से ही अत्यंत प्रसिद्ध हैं, और अद्यावधि साहित्य-मर्मज्ञों में प्रमाण माने जाते है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ;
देखत में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर।
ब्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि-बिसाल ;
सबको भूषन सतसई रची बिहारीलाल।
जो कोऊ रस-रीति को समुझै चाहै सारु ;
पढ़ै बिहारी-सतसई कविता को सिंगारु।
उदै-अस्त लौं अवनि पै सबको याकी चाह ;
सुनत बिहारी-सतसई सबहिं सराह-सराह।
भाँति-भाँति के बहु अरथ यामें गूढ़-अगूढ़ ;
जाहि सुनै रस-रीति को मग समुझत अति मूढ़।
विविध नायिका-भेद अरु अलंकार नृप-नीति ;
पढ़ै बिहारी-सतसई जानै कवि रस-रीति।
करे सात सौ दोहरा सुकवि बिहारीदास ;
सब कोऊ तिनको पढ़ै, सुनै, गुनै सविलास।

सतसई के रचना-काल से ही इस अनुपम काव्य-कोष का अश्रुत-पूर्व गौरव रहा है। उसी समय से साहित्यिक महारथी इस गागर में भरे सागर की लहरों पर काव्य-मर्मज्ञता का पोत लिए भटकते फिरे है। इनमें बड़े-बड़े महाकवि और साहित्य-शास्त्र-निष्णात विद्वद्वृंद-वंदित महापुरुष भी रहे हैं। हम देखते हैं, सतसई की रचना पूर्ण होते ही उस पर मानसिंह और कृष्णलाल कवि की गद्य-टीकाओं एवं कृष्ण कवि की पद्यात्मक टीका की रचना होती है। फिर उस समय से आज तक न जाने कितनी गद्य-पद्यमयी टीकाएँ लिखी गईं और लिखी जा रही हैं। स्वर्गवासी जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी-रत्नाकर' मे अपने पास ५० टीकाओं का होना एवं उन्हें पढकर फिर 'रत्नाकरी' टीका लिखना स्वीकार किया है। पर यह संख्या ठीक नहीं है। मुझे 'मध्यप्रांतीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखने के संबंध में अपने प्रांत में बिहारी-सतसई की अनेक टीकाओं का पता लगा है, जिनका उल्लेख श्री रत्नाकर एव श्री मिश्रबंधुओं ने नहीं किया है। इनमें चार पद्यात्मक टीकाएँ मेरे देखने में आई हैं, जिनमें साहित्यिक छटा का मनोरम रूप है। मेरा विश्वास है, हिन्दी-साहित्य की खोज में उतनी टीकाएँ तो निश्चित रूप से मिल ही जायँगी, जितनी वर्ष आज बिहारी-सतसई की रचना को हुई हैं। इतनी टीकाएँ हिन्दी-भाषा के किसी भी काव्य-ग्रंथ की नहीं हुईं। इन टीकाकारों में कविवर कृष्णलाल, कृष्ण कवि, कविवर सूरति मिश्र, कविवर ठाकुर, लल्लूलालजी, पठान सुल्तान, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, कविवर प्रतापसाहि, अंबिकादत्त व्यास, घटिकाशतक, हरिप्रसाद शास्त्री, कविवर परमानंद, पं० पद्मसिंह शर्मा और बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की टीकाएँ अच्छी हुई हैं। इनका सम्मान भी है।

हिन्दी-साहित्य के अध्ययन करनेवाले काव्य-मर्मज्ञों को यह

भली भाँति विदित ही है कि महाकवि श्रीबिहारीलालजी के भाव हिन्दी के जितने कवियों ने अपनाए हैं, उतने अन्य किसी के भी नहीं अपनाए। सतसई की भावोत्कृष्टता के कायल हिन्दी के सैंकड़ों ही सुकवि थे, और इनमें भी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कलाकार कवीश्वरों ने बिहारी-सतसई के आगे भावों के लिये हाथ फैलाए हैं। पचासों गद्य-पद्यात्मक टीकाओं की रचना हो जाने पर भी साहित्य-मर्मज्ञ, कला-निष्णात कवीश्वरों को संतोष न हुआ, और उन्होंने भावापहरण किया। पर उन तक कोई भी नहीं पहुँच सका। यह हिन्दी का सौभाग्य है कि इसमें ऐसा अप्रतिम, प्रतिभाशाली महाकवि पैदा हुआ। बिहारी-सतसई के दोहों का भावापहरण कर मुक्तक लिखनेवालों में महाकवि मतिराम, प्रसिद्ध कवि देव, महाकवि और आचार्य श्रीभिखारीदास, महाकवि पद्माकर, कविवर महंत शीतलदास, शृंगार-सतसईकार रामसहाय, कविवर तोष, कविवर गिरिधरदास, कविवर रसलीन, कविवर रसनिधि, कविराज सुखदेव मिश्र, वृंद-सतसईकार कविवर वृंद, विक्रम-सतसईकार महाराज विक्रमादित्य, सुकवि मंचित, महाकवि हरिनाथ, महाकवि घनानंद, कविवर दूलह, कविवर घासीराम, महाकवि कालिदास त्रिवेदी, महाराजा मानसिंह 'द्विजदेव', चिरजीवी कवि और कविवर किशोर आदि महान् एवं सुप्रसिद्ध काव्य-कला-निष्णात कवीश्वर हुए हैं *। यथार्थ तो यह है कि बिहारीलालजी के बाद ब्रज-भाषा में लिखनेवाला कदाचित् ही कोई ऐसा कवि मिले, तो मिले, जिसकी रचना पर बिहारी-सतसई का अमिट प्रभाव न पड़ा हो।

---

* इस प्रकार के भावापहरण के उदाहरण मैंने सैकड़ों की संख्या में संग्रह किए हैं, पर यहाँ उन्हें विस्तार-भय के कारण उद्धृत करने में असमर्थ हूँ।

मानो बिहारी-सतसई के पद्यात्मक टीकाकारों एवं सतसई के दोहों का भावापहरण कर नवीन छंद बनानेवालों को लक्ष्य कर पं० पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं—

"जरा से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैठा था, वह वहाँ से निकलते ही इतना फैला कि कुंडलियों और कवित्तों के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानो गंगा का समृद्ध वेग प्रवाह है, जो शिवजी की लटों से निकलकर फिर किसी के काबू में नहीं आता। इ जीनियर लाख कारस्तानी कर हारे, पर भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े-से-बड़े गढ़े में भरकर रोक रखना सामर्थ्य से बाहर की बात है। हो नहीं सकता—ऐसा हो नहीं सकता।"

गद्यात्मक टीकाकारों को लक्ष्य कर वीर-सतसईकार श्री वियोगी-हरि लिखते हैं, "इनका एक-एक दोहा टकसाली और अनमोल रत्न है। ये रत्न क्षीरसागर के रत्नों से कहीं अधिक चोखे और अनोखे हैं। बिहारी-सतसई के रत्नों की अनेक जौहरियों ने परख की, किंतु उनकी ठीक-ठीक कीमत कोई भी नहीं पड़ताल सका। कितनी टीकाएँ हुईं, कितनी युक्तियाँ पेश की गईं, पर यह कभी नहीं सुनाई पड़ा कि अमुक सोरठे का केवल यही अर्थ है। सच है—

लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गुरूर,
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

(बिहारी)

'नूत्नं-नूत्नं' पदे-पदे देखकर 'नेति-नेति' ही कहते बनता है।"

हिंदी-साहित्य के संपूर्ण इतिहासकार अपने ग्रंथों में बिहारी-सतसई का यशोगान करते आए हैं। हिंदी के साहित्य-शास्त्र-विवेचक सतसई के अनेक दोहे ध्वनि, व्यंग्य, रस एव अलकार के उत्कर्ष के संबंध में अपने मान्य गवेषणात्मक ग्रंथों में उदधृत

करते आए हैं। कविराजा मुरारिदान के 'जसवंत-जसोभूषण' और श्री कन्हैयालालजी पोद्दार के 'काव्य-कल्पद्रुम' में ऐसे अनेक उदाहरण स्थल-स्थल पर मिलेंगे।

हिंदी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ माननीय कोष-ग्रंथ 'हिंदी-शब्द-सागर में बिहारीलालजी एवं उनकी सतसई के विषय में लिखा है—

"शृंगार-रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ, उतना और किसी का नहीं। इसका एक-एक दोहा हिंदी-साहित्य में रत्न माना जाता है।' बिहारी संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्व-प्रियता का अनुमान हो सकता है।' ' ' यही एक ग्रंथ बिहारी की इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य-क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए, वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेश नहीं। मुक्तक में उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों के द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक मर्मस्पर्शी खंड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्र-मुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिये कवि को अत्यंत मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की शक्ति को छोटे-से स्थल में कसकर भरने की जितनी ही अधिक क्षमता होगी, उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसी से वह दोहे-ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं,

रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ हैं। वे मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देते हैं। बिहारी की रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अनुभावों की और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है।...."

(आठवाँ खंड, पृष्ठ १३५-१३६)

बिहारी-सतसई के अनुवाद देव-वाणी संस्कृत, राजभाषा अँगरेजी, उर्दू और गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं। संस्कृत में सतसई के गद्य-पद्यात्मक तीन अनुवाद हैं। यदि देव-वाणीवाले देवता लोग किसी हिंदी-ग्रंथ की साहित्यिक महिमा को मान सके हैं, तो वह बिहारी-सतसई है। इस ग्रंथ-रत्न के अतिरिक्त अन्य कोई हिंदी अथवा बँगला, मराठी या गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं का काव्य-ग्रंथ संस्कृत-भाषा में इस प्रकार अनुवादित नहीं हुआ। अँगरेजी-साहित्य के मर्मज्ञ, समर्थ अँगरेजी समालोचक भी इस ग्रंथ-रत्न पर लट्टू हो जाते हैं। इसकी चर्चा में अनेक विद्वान् अँगरेज समालोचकों ने बड़ी प्रशंसा गाई है। भारतवर्ष के Imperial Gazetteer-जैसे प्रामाणिक और मान्य ग्रंथ में हिंदी के केवल तीन अतिरथियों की चर्चा की गई है। इनमें तुलसी, सूर और बिहारी हैं। इसमें सतसई और बिहारी के विषय में लिखा है—

"Surdas had many successors, the most famous of whom was Biharilal of Jaipur, whose Satsaiya, or collection of seven hundred detached verses is one of the daintiest pieces of art in any Indian Language. Bound by the rules of metre each verse had a limit of fortysix syllables, and generally contained less. Neverthless each was a complete picture in itself, a miniature description of a mood or a phase of nature,

in which every touch of the brush is exactly the needed one, and not one is superfluous. The successive compression necessitated renders the poems extremely difficult and he has been aptly named 'The mine of the Commentators' but no one who reads them can resist admiring the appropriateness and elegance alike of his diction and his thoughts. He is particularly in his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the wayworn pilgrim from the Sandal South, adust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow-beaded with rosedew for sweat, and lingering, reath the trees, resting himself, and inviting others to repose.........."

(Imperial Gazetteer of India, Vol. II, p. 423.)

पाश्चात्य और पूर्वीय साहित्य-मर्मज्ञ श्रीएफ़० ई० की महोदय अपने 'A History of Hindi Literature'-नामक ग्रंथ में बिहारी एवं उनकी सतसई के विषय में लिखते है—

"The most celebrated Hindi writer in connection with the art of poetry is Biharilal Choube. Biharilal's fame as a poet rests upon his Satsai which is a collection of approximately seven hundred 'Dohas' and 'Sorthas'. The majority of the couplets take the shape of amorous utterances of Radha and Krishna, but each couplet is complete in itself. They are intended to illustrate figures of rhetoric and other constituents of a poem ....Tulsidas had written a Satsai before

the time of Biharilal as well as other Hindi poets. But Biharlal has undoubtedly achieved very great excellence in this particular line, and his work has had a large number of commentators and many imitators.........Each couplet had to be complete in itself, and yet in such a small space the poet must give an entire picture. Conciseness of style was therefore an absolute necessity, and besides this all the different artifices of Indian rhetoric had to be illustrated in turn. The work of Biharilal is a triumph of skill and of felicity in expression." (Pages 44.)

हिंदी-साहित्य के धुरंधर विद्वान् समालोचकों ने इस ग्रंथ-रत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हिंदी-साहित्य में तुलनात्मक समालोचना के आविष्कर्ता प० पद्मसिंह शर्मा का मत है—

"सहृदय पाठकगण ! यह बात अति प्रसिद्ध है कि ब्रज-भाषा के साहित्य में 'बिहारी-सतसई' का दर्जा बहुत ऊँचा है। अनूठे भाव और उत्कृष्ट काव्य-गुणों की वह खान है, व्यंग्य और ध्वनि का आकर है। संस्कृत-कवियों में कवि-कुल-गुरु कालिदास जिस प्रकार शृंगार-रस-वर्णन, प्रसाद गुण, उपमालंकारादि के कारण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, उसी प्रकार हिंदी कवियों में महाकवि बिहारीलालजी का आसन सबसे ऊँचा है। शृंगार-रस-वर्णन, पद विन्यास-चातुरी, माधुर्य, अर्थ-गांभीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोल-चाल आदि गुणों में वह अपना जोड़ नहीं रखते। ब्रज भाषा की मधुरता तो जगत्प्रसिद्ध ही है, फिर उसमें बिहारी की कविता! 'हेम्नः परमा मोदः' सोने और सुगंध का योग है! अथवा रत्न-जटित स्वर्ण के कटोरे में मिसरी का शर्बत, नहीं, अमृत-रस, भरा

हुआ है, जिसका पान करते ही मन तन्मय हो जाता है। आलंकारिकों ने, जो काव्य-रस को 'रसानंद सहोदर' माना है, उसकी सत्यता का साक्षी अन्तःकरण बन जाता है (पृष्ठ २४५)। बिहारी के पूर्ववर्ती, समसामयिक और परवर्ती हिंदी-कवियों की कविता में और बिहारी की कविता में भी कहीं-कहीं बहुत सादृश्य पाया जाता है। पर ऐसे स्थलों में बिहारी अपने पूर्ववर्ती कवियों को प्रायः पीछे छोड़ गए हैं; समसामयिकों से आगे रहे हैं, और परवर्ती उन्हें नहीं पा सके हैं (पृष्ठ १००)। बिहारी की कविता शृंगारमयी कविता है। यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नहीं है, इस रंग में भी बिहारी ने जो कुछ कहा है, वह परिमाण में थोड़ा होने पर भी भाव-गांभीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणों में सबसे बढ़ा-चढ़ा है। ऐसे वर्णनों को पढ़कर-सुनकर बड़े-बड़े नीति-धुरंधर, भक्त-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गए हैं। .

बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी है, उतनी ही गहरी, गूढ़ और गंभीर है। उसकी चमत्कृति और मनोहरता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदल दी, पर वर्तमान समय के सुरुचि-संपन्न कविता-प्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना हुआ है। उसकी गंभीरता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि समय-समय पर अनेक कवि-विद्वानों ने उस पर पद्य में, गद्य में, संस्कृत में, हिंदी में, टीका-तिलक किए, पर ..गहराई की थाह नहीं मिलती।. .. . कोई भी टीकाकार चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा बिहारी की कविता-कामिनी के अलौकिक लावण्य-भरित भाव-सौंदर्य को यथार्थतया अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सका। सब खाली खाके खींचकर ही रह गए।"

(सतसई-संजीवन-भाष्य भूमिका भाग)

पं० रामचंद्र शुक्ल हिंदी-साहित्य के माननीय विद्वान्, समालोचक है। इन्होंने भी अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में महाकवि बिहारी और उनकी सतसई की भारी प्रशंसा की है। इनका मत हिंदी-शब्द-सागर का ही मत है, जो पहले दिया जा चुका है। हिंदी के सुप्रसिद्ध समालोचक श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिंदी-नवरत्न' में बिहारीलालजी के गुणों में भी दोष देखे है, और उन पर अनेक अनर्गल एवं निंद्य आक्षेप किए हैं, पर इन महानुभावों को भी अंत में विवश हो यह लिखना ही पड़ा है—

"इस एक छोटे-से ग्रंथ (सतसई) में इन कविरत्न ने मानो गागर में सागर भर दिया है। इन्हीं १४५२ पंक्तियों में मानो सब कुछ आ गया है। और, कविता का कोई अंग, सिवा पिंगल के, नहीं छूटा। काव्य का यह छोटा-सा खजाना पाठक को चकित और स्तंभित कर देता है। इतने छोटे-से ग्रंथ में इतना चमत्कार अन्य कोई भी हिंदी-कवि नहीं ला सका। जैसे एकाग्रता और श्रम से इन कविरत्न ने काव्य का प्रताप-पुंज या चमत्कार इस छोटे-से भाजन में भर रक्खा है, वैसे ही इसका आदर भी बहु कुछ हुआ। सिवा गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के और कोई भी भाषा-ग्रंथ इतनी लोकप्रियता नहीं पा सका, जितनी सतसई ने पाई है। . बिहारी की दृष्टि संसार-भर के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी। . इन कविवर ने संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षण देख पड़ता है। इन कवि ने घंटे-घंटे-भर की बातचीत एक-एक दोहे में भर दी है। मानुषी प्रकृति के संबंध की जितनी बातें इन महाकवि ने लिखी हैं, और जितने चोज निकालकर इन्होंने रख दिए है, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नहीं कर सका होगा। इन सात सौ दोहों में खूबियाँ ठूँस-ठूँसकर

भरी हुई हैं।.... इन महाकवि ने रूप-वर्णन में सीधा-सादा सच्चा रूप ही दरसा दिया है।..... प्रकृति-निरीक्षण और उसके यथोचित वर्णन में यह कविवर भाषा-साहित्य में सर्व-श्रेष्ठ है। . अच्छे पद्यों के बाहुल्य ही से यह ग्रंथ रामायण के बाद सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। .. इन्होंने अपने बहुत से ऐसे ऊँचे और खास विचार लिखे हैं कि इनके चातुर्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता।"

(हिंदी-नवरत्न, द्वि० स०, पृ० २७८ से २९९ तक)

ब्रज-भाषा साहित्य के सुप्रसिद्ध समालोचक पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने यद्यपि महाकवि बिहारीलालजी के साथ अपने ग्रंथ 'देव और बिहारी' में घोर अन्याय किया है, और उन्हें येन-केन प्रकारेण देव से हीन सिद्ध करने के लिये उनके विषय मे बहुत कुछ निंदात्मक ढंग से लिखा है, तथा उनके गुणों में भी दोष देखे हैं; पर इतना तो उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा है—

"ब्रज-भाषा-काव्य के गौरव कविवर बिहारीलाल को हिंदी साहित्य-संसार में कौन नही जानता। हिंदी कविता का प्रेमी ऐसा कौन-सा अभागा व्यक्ति होगा, जिसे जगत्प्रसिद्ध सतसई के दो-चार दोहे न स्मरण होंगे? यह बड़े ही आनंद का विषय है कि ... . एक बार फिर सतसई पर समयानुकूल प्रचलित भाषा में विद्वत्ता-पूर्ण सटीक ग्रंथ लिखे जाने लगे हैं। एक बार फिर सतसई की कीर्ति-कौमुदी के शुभ्रालोक में साहित्य-संसार जगमगा उठा है, यह कितने अभिमान और संतोष की बात है। बिहारीलाल का एक-एक दोहा उनके गंभीर अध्ययन की सूचना देता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य का बड़े ही ध्यान के साथ मनन किया है (पृष्ठ ३१६)। बिहारीलाल का ज्ञान भी परिमित न था। दुनिया के ऊँच-नीच का उन्हें पूरा ज्ञान था। उनका अनुभव बेहद बढ़ा हुआ था।....

उनकी अन्योक्तियाँ चमत्कार पूर्ण हैं। .... वह परम प्रतिभावान् कवि थे (पृष्ठ १३६)।" [देव और विहारी, द्वि० स०]

आधुनिक काल के व्रज-भाषा-मर्मज्ञ, सफल मुक्तक-लेखक कवीश्वरों में स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर', श्रीवियोगी हरि और श्रीदुलारेलालजी भार्गव सर्व-श्रेष्ठ माने गए हैं। 'रत्नाकर' महोदय ने तो अपने जीवन के अनेक वर्ष सतसई के अध्ययन में लगाकर 'विहारी-रत्नाकर'-नामक टीका लिखी है, श्रीवियोगी हरि की सम्मति हम पहले उद्धृत कर आए है, और श्रीदुलारेलाल भार्गव ने तो 'विहारी-रत्नाकर' के संपादकीय निवेदन में स्पष्ट ही लिखा है—

"गोस्वामी तुलसीदासजी के राम-चरित-मानस के बाद सतसई ही समस्त सुशिक्षित समाज में सबसे अधिक समादृत हुई है। जितना शृंगार-रस-वाटिका से इस सुविकसित और सुगंधित सुमन का सौंदर्य सहृदयों के चित्त में चुभा, और आँखो में खुबा है, उतना औरों का नही। अन्यान्य अनेक कवियों की कविता-कामिनियाँ भी कमनीयता में कम नहीं, किंतु सतसई-सुंदरी की-सी सुंदरता उनमें कहाँ? इस सुंदरी की सरस सूक्ति चितवनों के विषय में तो मानो स्वयं कवि ने ही कह दिया है—

'अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुनि जहान ;
वह चितवन औरै कछू जिहि वस होत सुजान।'

सतसई के सुविस्तृत सम्मान के प्रमाण में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इस पर पचासों टीकाएँ वन जाने पर भी यह क्रम अभी तक जारी है। शृंगारी कवियों में विहारी का स्थान अत्यंत ऊँचा है। नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहे भी उन्होंने अवश्य लिखे है, किन्तु सतसई में प्रधानता शृंगार-रस ही की है। प्रत्येक पद्य उनकी प्रशस्त प्रतिभा का परिचायक है। उच्च कोटि की काव्य-

कला, व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव में बिहारी अपना जोड़ नहीं रखते (पृष्ठ ११) ।" *

आधुनिक काल में भारत में विदेशियों की सत्ता के प्रभाव एवं विश्व की नवीन प्रगति के आघात से हिंदी-साहित्य में काव्य का जो नवीन धारा प्रवाहित हुई है, इसके मनस्वी और यशस्वी हिंदी-कवियों में कविवर पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और कविवर प० सुमित्रानंदन पंत अग्रगण्य है। मै जब गत वर्ष लखनऊ गया था, तब श्रीदुलारेलालजी के यहाँ, कवि-कुटीर में, इन दोनों विद्वान् कविवरों से मेरी भेंट हुई थी। उस समय वार्तालाप के सिलसिले मे इन कुशल, कलाकार कवियों ने स्पष्ट शब्दों में बिहारीलालजी को अत्यंत श्रेष्ठ कलाकार, महाकवि और सतसई को उच्च कोटि की काव्य-कला का अनूठा निदर्शन स्वीकार किया था। निष्कर्ष यह कि जगत्-प्रसिद्ध सतसईकार, महाकवि बिहारीलालजी विश्व के इने-गिने सम्माननीय, सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में से है, और उनकी कृति सतसई काव्य-कला के चरम उत्कर्ष का आदर्श है।

---

* श्रीराधाचरण गोस्वामी ने बिहारीलालजी की रचना के विषय में लिखा है—

"यदि 'सूर-सूर, तुलसी शशी, उडुगन केशवदास' हैं, तो बिहारी पीयूष-वर्षी मेघ हैं, जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आच्छन्न हो जाता है, फिर जिसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच-बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत् चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषा-विचार

किसी काव्य की उत्तमता की जाँच करने के लिये हमें केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है कि उसमें विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव किस प्रकार रस बनकर काव्य में लोकोत्तर-आनंद प्रदान कर रहा है, वरन् यह भी आवश्यक है कि हम उस काव्य की भाषा को भी ध्यान-पूर्वक देखे। यह समझना भूल है कि व्यापारिक भाषा के समान काव्य की भाषा केवल भाव प्रकट करने का साधन है; क्योंकि यथार्थ में काव्य की भाषा का उद्देश्य भाव को मूर्तिमान् करने का है। भाषा का भावानुगामिनी होना अत्यंत आवश्यक है। यदि भाव कविता का प्राण है, तो भाषा कविता का शरीर। सुंदर स्वभाववाली नारी, जिसका शरीर सुडौल न हो, रंग अच्छा न हो, मन को मोहने में सहसा समर्थ नहीं हो सकती। इसी प्रकार भाव-संपत्ति-युक्त कविता मे यदि सुंदर भावानुगामिनी भाषा न हो, तो वह भी मनोमोहक नहीं होती। इस प्रकार की कविता अधिक प्रशंसनीय भी नहीं होती।

सच्चा कवि भावावेश में लिखता है; अतएव सच्ची या उच्च कोटि की कविता में भाषा भी भावानुगामिनी होती है। भाव की चपलता या गंभीरता आदि पर भाषा की चपलता या गभीरता भी निर्भर है। जिस कविता में भावानुरूपिणी भाषा न हो, वह श्रेष्ठ कविता नहीं कहला सकती। अँगरेजी-भाषा में महाकवि पोप ने अपने समालोचना पर निबंध (Essay on Criticism) में लिखा है—

"It is not enough, no harshness gives offence,

The sound must seem an echo to the sense."

"काव्य की भाषा में यही पर्याप्त नहीं है कि भाषा में कर्णकटुता न हो, पर यह भी आवश्यक है कि शब्दावली के उच्चारण-मात्र से अर्थ ध्वनित हो जाय।"

भाव के अनुरूप भाषा में एक निराला प्रवाह होता है, जिसे हम भाषा का स्वाभाविक प्रवाह कह सकते हैं। इसके सिवा भाषा का शुद्ध और समुचित रूप से नियंत्रित होना आवश्यक है। भाषा में सरलता या सुनते ही अर्थ व्यक्त करने का प्रधान गुण होने की व्यवस्था दी गई है। जिस प्रकार मनुष्य में सुंदरता, सत्यता एव उदारता आदि गुण हैं, उसी प्रकार काव्य की भाषा में भी माधुर्य, ओज और प्रसाद-गुण है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के इन गुणों को रस-उत्कर्ष का हेतु माना है, और इन्हें काव्य की भाषा के गुण न कहकर काव्य के ही गुण कहा है। काव्य में गुण की आवश्यकता बतलाते हुए भगवान् वेदव्यासजी ने अग्निपुराण में कहा है—

अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्;
वपुष्यललितं स्त्रीणां हारो भारायते परम्।

"गुण-हीन काव्य अलंकार-युक्त होते हुए भी प्रिय नहीं होता नारी के सौंदर्य-रहित शरीर में हार केवल भार-स्वरूप होते हैं।"

मुख्य गुण तीन माने गए है। 'साहित्य-दर्पणकार' ने लिखा है—

गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।

"माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन प्रकार के गुण है।"

माधुर्य-गुण

माधुर्य का शब्दार्थ 'माधुर्य सौम्यत्वे' के अनुसार सौम्यता है। सौम्यता से मन द्रवीभूत होता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला

कि जिस रचना के सुनने से मन द्रवीभूत होता है, वह रचना माधुर्य-गुण-युक्त होती है।

माधुर्य के विषय में श्रीमम्मटाचार्यजी 'काव्य-प्रकाश' में कहते हैं—

"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ;
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ,

"आह्लादकता माधुर्य है। यह द्रुति अर्थात् मन को द्रवीभूत करने का कारण है। यह शृंगार-रस में रहता है, और करुण, विप्रलंभ, शृंगार तथा शांति-रस में अतिशय रूप में होता है।" (माधुर्य गुण को वियोग-शृंगार में अतिशय-युक्त कहने से यह तात्पर्य है कि संभोग शृंगार में कभी कठोरता भी संभव है)।

साहित्य-दर्पणकार पं० विश्वनाथजी भी कहते हैं—

चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ;
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।

"मन को द्रवीभूत करनेवाले आह्लाद को माधुर्य कहते हैं। यह गुण संभोग-शृंगार, करुण-रस, विप्रलंभ-शृंगार एव शांति-रस में क्रम से अधिकाधिक रहता है।

यथार्थ में जिस रचना में ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ, का अभाव हो, मीलित वर्णों का वाहुल्य न हो, लंबे-लंबे समास न हों, और अनुस्वार-युक्त वर्णों का बाहुल्य हों एवं कोमल-कांत पदावली हो, वह माधुर्य-युक्त होती है। इसमें सानुनसिक वर्णों का आना शोभा-कर है। जैसे—

अरुन वरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार ,
चुँवतिं सुरँग रँग-सी मनो चँपि विछियन के भार।

(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारी के इस दोहे में न तो ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़ कटु वर्ण हैं, न लंबे समास है, और न दीर्घ वर्णों का वाहुल्य है। इसमें

अनुस्वार-युक्त वर्णों एवं सानुनासिक वर्णों का वाहुल्य है। मीलित या संयुक्त वर्णों का भी सर्वथा अभाव है। इसमे संगीत की-सी मधुर ध्वनि शब्दावली के उच्चारण-मात्र से ध्वनित होती है।

ओज-गुण

'ओजो दीप्तौ' के अनुसार ओज का अर्थ दीप्ति है। दीप्ति-युक्त वस्तु से, जैसे सूर्य आदि से, मन तेज-युक्त होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि जिस गुण से मन तेज-युक्त हो, उसे काव्य में ओज-गुण कहते है।

श्रीमम्मटाचार्यजी कहते है—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः,
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

(काव्यप्रकाश)

"ओज दीप्ति है। यह मन को तेज-युक्त करने में कारण है। इस गुण की वीर-रस में स्थिति है। बीभत्स और रौद्र रस में क्रम से इसका आधिक्य रहता है।"

'आत्मविस्तृति' का अर्थ यहाँ मन का विस्तार है। तेज-युक्त मन का विस्तार होता ही है।

साहित्य-दर्पणकार कहते है—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते,
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु।

"चित्त की विस्ताररूपिणी दीप्ति को ओज कहते है। वीर, वीभत्स और रौद्र रस में इसका क्रमानुसार आधिक्य रहता है।"

यह वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ, श, ष अथवा रेफ, संयुक्त या मीलित वर्णों और लंबे-लंबे समासों के वाहुल्य से युक्त रचना में होता है। इसमें वह घटना रहती है, जिसका वर्णन औद्धत्य-युक्त होता है। मेरे विचार से धकार का अधिक प्रयोग

ओज-गुण में भला लगता है। महाकवि भूषण त्रिपाठी की रचना में इसके उत्तम उदाहरण है। यहाँ इस गुण का उदाहरण देखिए—

डहडहे डंकन के सबद निसंक होत,
बहबही सत्रुन की सेना 'जोर सरकी,
'हरिकेस' सुभट-थटान की उमंडि उत,
चंपत को नंद कोप्यो उमंग समर की।
हाथिन की मंड, मारू राग की उमंड त्यों-त्यों
लाली झलकति मुख छत्रसाल बर की,
फरकि-फरकि उठैं बाँहैं अस्त्र बाहिबे को,
करकि-करकि उठैं करी बखतर की।
(हरिकेस कवि)

प्रसाद-गुण

'प्रसादो नैर्मल्ये' के अनुसार प्रसाद का पर्यायवाची शब्द निर्मलता है। काव्य के भाव में बुद्धि को शीघ्र प्रवेश कराने की निर्मलता प्रसाद-गुण में रहती है। क्लिष्टत्व-दोष की मलिनता से यह रहित है। यह प्रसाद-गुण काव्य में प्रशसनीय है। कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—"सरल कवित कीरति विमल तेहि आदरहि सुजान।"

आचार्य-प्रवर श्रीमम्मट कहते हैं—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छे जलवत्सहसैव यः;
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।
(काव्यप्रकाश)

"सूखे ईंधन में अग्नि के समान, स्वच्छ वस्त्रादि में जल के समान जो शीघ्र ही दूसरे में व्याप्त होता है, वह प्रसाद-गुण है। इसकी स्थिति काव्य में सर्वत्र है।"

साहित्य-दर्पणकार इसी का अनुकरण करते हुए लिखते हैं—

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः,
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

"जो समस्त रसों और रचनाओं में चित्त को, सूखे ईंधन में अग्नि के समान, शीघ्र व्याप्त करे, वह प्रसाद-गुण है।"

मेरे विचार से जिस काव्य को बुद्धि शीघ्र ही ग्रहण कर ले, जो सुनते ही समझ में आ जाय, वह काव्य प्रसाद-गुण-युक्त है। यही उपर्युक्त मतों का तात्पर्य है। समर्थ महाकवियों की वाणी में यह गुण अवश्य रहता है। साहित्य-दर्पण में पं० विश्वनाथजी इस गुण के विषय में अपना यह मत देते हैं—

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्ये गुणे नैव परिग्रहः,
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थे समर्पणम्।

"प्रसाद नामवाले गुण में अर्थ व्यक्त करने का गुण होता है। इसमें पदों का तुरत ही अर्थ बोध कराना अर्थ-व्यक्ति है।"

इसका उदाहरण यह है—

राम-नाम-अवलंब बिन परमारथ की आस,
तुलसी बारिद-बूँद गहि चाहत चढ़न अकाश।

इस प्रकार माधुर्य-गुण शृंगार, करुण और शांति नामक रसों में, ओज-गुण वीर, वीभत्स और रौद्र नामक रसो मे एव प्रसाद-गुण संपूर्ण काव्य में—नवो रसों में—अपेक्षित है। हास्य, भयानक और अद्भुत रस मे किसी विशेष गुण का नियम नहीं। इनमें कभी माधुर्य और कभी ओज रहता है, जो वर्णित विषय के अनुकूल होता है।

यहाँ रसों से गुणों का कथन करने से यह न समझना चाहिए कि रस-हीन निकृष्ट काव्य में गुण नही होते, वरन् समझना चाहिए कि शृंगार, करुण और हास्य-रस में ओज गुण नहीं आना चाहिए, और वीर, वीभत्स एव रौद्र रस में माधुर्य नहीं आना चाहिए। यदि इसे न मानें, तो काव्य असुंदर और प्रभाव-हीन हो जायगा।

पुत्रजन्म के उत्सव में रण-भेरी और मारू बाजे नहीं सुहाते। युद्ध के समय सितार की गति नहीं भाती। उपयुक्त वाद्य-विशेष उपयुक्त समय-विशेष में प्रभावोत्पादक होने से भले लगते हैं। माधुर्य और ओज की भी यही दशा है। शृंगारादि में माधुर्य और वीरादि में ओज ही सुहावना लगता है।

कई आचार्यों ने अनेक गुण माने हैं, पर उपर्युक्त तीन गुणों की प्रधानता सभी ने स्वीकार की है। संस्कृत में वामनाचार्य आदि और हिंदी में भिखारीदास आदि ने दस गुण माने हैं। वे ये हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज, (३) प्रसाद, (४) श्लेष, (५) समता, (६) सुकुमारता, (७) समाधि, (८) कांति, (९) उदारता और (१०) अर्थ-व्यक्ति। भाषा के प्रसिद्ध आचार्य श्रीपति १० शब्द-गुण और ८ अर्थ-गुण, इस प्रकार कुल १८ गुण मानते हैं। वे ये हैं—१० शब्द गुण—(१) उदारता, (२) प्रसाद, (३) उदात्त, (४) समता, (५) शांति, (६) समाधि, (७) उक्ति-प्रमोद, (८) माधुर्य, (९) सुकुमारता, और (१०) संक्षिप्त। ८ अर्थ-गुण—(१) भव्यकल्प, (२) पर्यायोक्ति, (३) सुधर्मिता, (४) शब्दता, (५) अर्थव्यक्त, (६) श्लेष, (७) प्रसन्नता और (८) ओज।

धाराधीश महाराज भोज ने सरस्वती-कंठाभरण में २४ गुण माने हैं, इनमें से दस तो वे ही हैं, जिन्हें वामनाचार्य आदि ने माना है, और शेष १४ के नाम (११) उदात्तता, (१२) और्जित्य, (१३) प्रेय, (१४) सुशब्दता, (१५) सूक्ष्मता, (१६) गांभीर्य, (१७) विस्तार व्यास, (१८) संक्षेप, (१९) सम्मित, (२०) भाविक, (२१) गति, (२२) रीति, (२३) उक्ति और (२४) प्रौढ़ोक्ति।

वैसे तो ये सभी गुण आवश्यक हैं, क्योंकि इनसे शब्द और अर्थ का सौंदर्य बढता ही है, पर मेरे विचार से इतने गुण मानना केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहन भेद करके विस्तार बढाना है। फिर इनमें से अनेक गुण अर्थालंकारों व शब्दालंकारों में आ ही जाते हैं। यदि

काव्य में कवि भाव की उत्तमता के साथ-साथ भाषा में प्रसाद, माधुर्य और ओज, इन तीनों गुणों का ध्यान रक्खे, और अपनी रचना में इन तीनों गुणों का विचार-पूर्वक समावेश करे, तो उपर्युक्त अनेक गुण उसकी कविता में स्वयमेव आ जायँगे। श्लेष का वर्णन अलंकार के पृथक् विषय से संबंध रखता है। हिंदी-साहित्य के माननीय धुरंधर साहित्याचार्य श्रीभिखारीदासजी का मत भी यही है। वह लिखते हैं—

माधुर्योज प्रसाद के सब गुण हैं आधीन,
तातें इनहीं कों गनें मम्मट सुकवि प्रवीन।
(काव्य-निर्णय)

इन्होंने भाषा में इन गुणों के अतिरिक्त अनुप्रासादि शब्दालंकारों की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—

रस के भूषित करन तैं गुन बरनैं सुखदानि,
गुन भूषन अनुमान कै अनुप्रास उर आनि।

इसमें संदेह नहीं कि अनुप्रास को गुण चमका देते हैं। गुण रस के उत्कर्ष का हेतु बन जाता है। अनुप्रास गुण-विशेष को लगातार स्थिर रखकर रस को सुस्वादु और प्रभावशाली बना देता है। इससे अनुप्रास का होना आवश्यक है। पर, यह ध्यान रहे कि रस के अनुकूल अनुप्रास हो, एवं भाषा भावानुगामिनी तथा स्वाभाविक प्रवाह-युक्त बनी रहे। अनुप्रास लाने के लिये शब्दों की कपाल-क्रिया करना, व्याकरण-हीन एवं असमर्थ भाषा लिखना या भाषा की स्वाभाविकता नष्ट करना अर्थात् उसे स्वाभाविक प्रवाहमय न रहने देना कदापि प्रशंसनीय नहीं है। अनुप्रास वही प्रशंसनीय एवं वांछनीय है जो काव्य की भाव-राशि में बाधा न डाले।

इसके अतिरिक्त श्लेष भी भाषा-सौंदर्य का कारण है, पर उसके

कारण रचना में क्लिष्टत्व-दोष न आना चाहिए। श्लेष केवल ऐसे शब्दों का होना चाहिए, जिनके एक से अधिक अर्थ प्रचलित भाषा में हों. और जिन्हें लोग सहज ही समझ सकते हों। तात्पर्य यह कि श्लेष के शब्दों में अनेक अर्थ स्पष्ट भासित होना चाहिए, जिससे माथा पच्ची करके अर्थ न निकालना पड़े, क्योंकि ऐसा श्लेष रस के प्रवाह में बाधक हो जाता है। भाव भी सरस होनी चाहिए।

काव्य की भाषा में यमक की भी आवश्यकता है, क्योंकि यह भी भाव की श्री-वृद्धि करता है। परंतु यमक ऐसे ही शब्दों में हो, जिनके अर्थ स्पष्टतया परिलक्षित हों। ये भी ऐसे न हों कि भाषा को जटिल बनाकर रस-प्रवाह में बाधक हों। यमक से काव्य में निराली छटा आ जाती है। जैसे—

कर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न,
हरिनी के नैनान तें हरि नीके ये नैन।

(बिहारी-सतसई)

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त यह भी ध्यान रहे कि काव्य की भाषा देश, काल और पात्र के सर्वथा अनुकूल हो। भाषा किसके मुख से निकल रही है, कहनेवाले ने किससे कही है, एवं किस परिस्थिति में. क्यों कही है, इस बात का विचार कविता की भाषा में—काव्य की भाषा में—अत्यंत आवश्यक है. क्योंकि इससे भाषा में सजीवता रहती है। यदि भाषा सजीव न हो, उसमें वक्ता के मनोविकार की ध्वनि न हो, उसमें वक्ता के हृदय के आह्लाद, क्रोध, शोक, चिंता एवं व्यग्रता आदि की प्रतिध्वनि न हो. तो फिर उस निर्जीव भाषा में माधुर्य, यमक, अनुप्रास आदि, मृतक नारी के अंग के आभूषणों के समान, निरर्थक हैं।

भाषा में शब्दों के उचित. उपयुक्त प्रयोग पर पूर्ण ध्यान देना परमावश्यक है, क्योंकि प्रत्येक शब्द के स्वरूप और अर्थ में कुछ

विशेषता होती है। शब्द का वजन तौलकर यथास्थान औचित्य-पूर्ण प्रयोग ही कवि की कुशलता का परिचायक है। यथार्थ मे चुने हुए उत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम से यथास्थान प्रयोग करना ही काव्य की भाषा का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। अँगरेजी भाषा के सुप्रसिद्ध महाकवि लॉर्ड टेनिसन का मत है कि—

"All the charm of all the muses often flowing in a lovely word."

"बहुधा कविता के एक ही शब्द में संपूर्ण कलाओं का अशेष सौंदर्य उमड़ पड़ता है।"

तात्पर्य यह कि सामंजस्य-पूर्ण साहित्यिक भाषा भावानुगामिनी, अलंकृत, सरल और सुसघटित तथा मँजे हुए शब्दों से युक्त, प्रवाहमयी होनी चाहिए। अब देखिए, बिहारी-सतसई में भाषा का कैसा सौष्ठव है।

ब्रजभाषा बरनी सबै, कबिवर बुद्धि-बिसाल ;
सबकी भूषन सतसई रची बिहारीलाल।

महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने जिस भाषा मे सतसई लिखी है, वह ब्रज-भाषा है। बिहारीलालजी के पूर्व ब्रज-भाषा में अनेक सुकवि हो गए थे। इनमें से श्री १०८ हितहरिवंशजी एवं सूरदास सर्वापेक्षा महान् है। इन कवीश्वरों ने ब्रज-भाषा में बहुत सुधार करके उसे साहित्यिक भाषा बनाने का भगीरथ परिश्रम किया था, यह इनकी रचनाओं से स्पष्ट विदित हो जाता है। यद्यपि साहित्य-सूर्य श्री सूरदासजी ब्रज-भाषा के परम प्रशंसनीय एवं माननीय कवि है पर इनकी भाषा प्रसाद, माधुर्य आदि-सहित होते हुए भी बहुत उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा नहीं है। थोड़े में अधिक कहना—वह भी प्रयोगसाम्य, स्वाभाविक प्रवाहमयी, समुचित भावानुगामिनी भाषा में कहना—बड़ा ही दुस्तर है।

महाकवि बिहारीलालजी की भाषा में, काव्य की भाषा में जिनकी आवश्यकता है, वे सब गुण ओत-प्रोत हैं। शब्दों का प्रयोग सतसई में बड़े ही अनूठे ढंग से, वजन तौलकर, देश, काल, पात्र का ध्यान रखकर. किया गया है। बिहारीलालजी की भाषा में मनोभावों का प्रतिबिंब निर्मल दर्पण की तरह झलकता है। बहुत थोड़े में गंभीर अर्थ ध्वनित करनेवाले सुंदर-सुंदर प्रचलित शब्दों की सुकर सजावट, रसानुकूल भाषा का प्रवाह, मुहाविरे की तेजी आदि सभी दर्शनीय हैं फिर बिहारीलालजी ने माधुर्य और प्रसाद को तो अनुचर-सा बना डाला है।

व्याकरण-विशुद्ध, परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव में बिहारीलालजी अद्वितीय हैं। पद-विन्यास-चातुर्य, माधुर्य, अर्थ-गांभीर्य और स्वाभाविक बोल-चाल आदि गुणों में वह सर्वश्रेष्ठ हैं। हिंदी-साहित्य-मर्मज्ञ सुकवि और सुलेखक स्वर्गीय बाबू राधा-कृष्णदासजी का मत है—

"मुहाविरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह थे। हिंदी में ऐसी बोल-चाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी की कविता में नहीं पाए जाते। उर्दू के कवि-कुल-भूषण नसीम और अनीस भी कदाचित् बोल-चाल में इनके सामने न ठहर सकेंगे।"

(कविवर बिहारीलाल, पृष्ठ १७)

मिश्रबंधु भी नवरत्न में लिखते हैं—

"कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलालजी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रक्खे हैं कि दोहा चमचमा उठता है। इसी प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार-भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २९१)

और भी लिखते हैं—"इस कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारतआराई भी खूब ही की है।"

(पृष्ठ २९०)

पं० पद्मसिंह शर्मा का मत है कि बिहारी-सतसई की भाषा सर्व-श्रेष्ठ, परम रसीली है। उसे छोड़कर जो दूसरी भाषा पढते हैं, उनसे सहृदयता मचल-मचलकर कहती है—"जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अँगूर।" अस्तु।

बिहारीलालजी की भापा में बोल-चाल की कैसी उत्कृष्टता है, इसे उनका प्रत्येक दोहा दिखला रहा है, फिर भी अपने पाठक, को यहाँ मैं दो-चार दोहे दिखलाता हूँ। देखिए—

किसी गोपिका ने प्रेम-कलह करके पास आए हुए गोपाल को लौटा दिया है। गोपाल के चले जाने पर वह खेदित होती है, पर उसका मान अभी छूटा नहीं है, और वह गोपाल की ढिठाई या कपटी व्यवहार आदि के बारे मे सोचती हुई बैठी है। इसी समय कोई प्रवीण सखी उसे समझाने आई है। वह उस कलहांतरिता नायिका को श्रीकृष्ण का संदेश सुनानेवाली है। उसे देखते ही प्रियतम से मिलने के हेतु उत्सुक वह गोपिका अपने रूप-गर्व में मदमाती हो पूछती है—

अहे कहै न कहा कह्यो तोसों नंदकिशोर ;

सखी कहती है—

बड़ बोली, बलि, होति कत, बड़े दृगनु के जोर।

इसमें बोल-चाल की स्वाभाविकता देखते ही बनती है; कैसी भावानुगामिनी भाषा है, इसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ देखें। इसी प्रकार निम्न-लिखित दोहों में देखिए—

कौन सुनै, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह ;
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह।

फिरि-फिरि बूझति, कहि, कहा कह्यो साँवरे गात ।
कहा करत देखे कहाँ, अली, चलो क्यों बात ?
लाज गहो, बेकाज कत घेर रहे, घर जाँहि ;
गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिँ ।
कौन भाँति रहिहै बिरद, अब देखिबी मुरारि ;
बीधे मोसों आयकै, गीधे गीधहिँ तारि ।
बाल कहाँ लाली भई लोयन कोयन माहिँ ;
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन बिच छाँह ।
तेह तरेरे त्यौर करि कत करियत दृग लोल,
लीक न हो यह पीक की स्रुति-मनि झलक कपोल ।

इसी प्रकार और भी समझना चाहिए। भाषा को समास रूप से वर्णन करने में अर्थात् थोड़े में बहुत आशय भरने में बिहारीलालजी व्रज-भाषा में सर्वथा अद्वितीय ही है। यद्यपि सूरदासजी की रचना में यह गुण कही-कहीं पाया जाता है, पर विहारीलालजी की रचना मे तो सर्वत्र यही है। इसी से उनकी भाषा में अर्थ-गांभीर्य है, और इसी से प्राचीन मर्मज्ञों ने यह सम्मति दी है कि यदि शब्द कामधेनु कहे जा सकते है, तो वे विहारी-सतसई के ही है। इसके भी दो उदाहरण देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौंहँ करै, भौंहँनि हँसै, दैन कहै नटि जाय ।
ज्यों-ज्यों पट झटकति हँसति हठति नचावति नैन ;
त्यों-त्यों निपट उदार हूँ फगुआ देत बनै न ।
कर लै, चूमि, चढ़ाय सिर, उर लगाय, भुज भेंटि ;
लहि पाती पिय को लखति, बाँचति, धरति समेटि ।

मर्मज्ञ पाठक देखे कि इन दोहों में महाकवि बिहारीलालजी ने घंटों की बातचीत किस प्रकार भर दी है। इनका आशय घंटों मजे

में नाटक के रंग-मंच पर पात्रों के द्वारा दर्शित किया जा सकता है। कल्पना-मूर्तियों की ऐसी स्वाभाविक वातचीत कराने में ब्रज-भाषा का कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ। सचमुच गागर में सागर भर दिया है।

माधुर्य में तो विहारीलालजी के दोहे मानो सने हुए है। ब्रज-भाषा का माधुर्य तो माना हुआ है ही। प० पद्मसिंह शर्मा ने ठीक ही कहा है—

"संस्कृत-भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रज-भाषा का माधुर्य भी एक निराली चीज है। वह सितोपला है, तो यह द्राक्षा है। विहारी शृंगारी कवि, भाषा, ब्रज-भाषा. शृंगार-रस की कविता (शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्) अहो रम्य परंपरा! इसका आस्वादन कर चुकने पर भी यदि चित्त-वृत्ति कुसंस्कार वश कहीं अन्यत्र रसास्वाद के लिये जाना चाहती है, तो सहृदयता विहारी के शब्दों में मचलकर कहती है—

मो रस राच्यो आन रस कहै कुटिल मति कूर ;
जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अँगूर।"

(सतसई-संजीवन-भा० भू०; पृष्ठ २४)

दो-चार दोहे माधुर्य-गुण-संपन्न भी देख लीजिए—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहि विकास इहिं काल:
अली कली ही तैं बँध्यो आगैं कौन हवाल ?
रससिंगार मंजनु किए कंजन भंजन दैन,
अंजन रंजन हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन।
ह्वै कपूर-मनिमय रही मिलि तन दुति मुकुतालि :
छिन-छिन खरी बिचच्छिनौ लखति छ्वाय तृन आलि।
रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधु-नीर ;
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर।

पल सोहैं पगि पीक रँग, छल सोहैं सब बैन ;
बल सौंहैं कत कीजियत ये अलसौंहैं नैन।
सही रँगीलैं रति जगैं जगी पगी सुख चैन ;
अलसौंहैं सौंहैं किएँ कहैं हँसौंहैं नैन।

इसी प्रकार के माधुर्य से बिहारी-सतसई के दोहे लबालब भरे हैं। उनसे से मानो माधुर्य छलक रहा है।

अनुप्रास भी बिहारीलालजी की रचना में ओत-प्रोत है। देखिए, एक वर्ण की दो शब्दो के आदि या अंत में दो बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास माना गया है। अनेक वर्णों की अनेक शब्दों में अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यानुप्रास है। एक ही शब्द का बात को जोरदार बनाने या सौंदर्य बढाने के लिये दो बार या दो बार से अधिक प्रयोग वीप्सा अलंकार है। बार-बार एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में रखना यमक है। एक ही शब्द म अनेक अर्थ रखना ...प है। यह अभंग पद और सभंग पद होने से दो प्रकार का होता ...। अच्छा, अब इस शब्द-सुषमा का दर्शन बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहों मे कीजिए—

अधर धरत हरि के परत ओंठ दीठि पट ज्योति ,
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र-धनुष-रँग होति।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भाषा की श्रेष्ठता देखते ही बनती है। 'अधर' एवं 'धरत' दोनो ही नगण में होने से बड़े ही मनोहर हैं। कितने तौल-कर रक्खे गए हैं। फिर 'अधर' के अंत में 'धर' और 'धरत' के आदि में 'धर' होने से भाषा मे निराला बाँकपन आ गया है। एक के अंत के दो अक्षरो को लेकर उन्हीं से दूसरा पद बनाना और उसे भी उसी गण मे, बिना किसी प्रकार की विकृति के, रखना साथ ही भाषा के स्वाभाविक बोल-चाल को—उसके प्रवाह को—

अनुप्रास रखना बड़ा ही सुहावना है। 'धरत' और 'परत' भी नगण में है, एवं इन दोनो के अंत मे भी 'रत' है, इससे भाषा में जिह्वा एक पद से दूसरे पद पर समान गति से जाती है। ह्रस्व स्वर के लगातार उच्चारण से उत्पन्न ध्वनि की स्थिरता कर्णेंद्रिय को परम सुखदा है। 'हरि' और 'हरित' भी कम मनोहर नहीं हैं। दोनो में 'हरि' का प्रयोग बड़ा ही विलक्षण है। 'बाँस की बाँसुरी' में बाँस की बहार बहुत बढ़िया है। इस प्रकार संपूर्ण दोहा भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट है। 'जोति' और 'होति' का अंत्यानुप्रास हृदयहारी है ही। ओंठ और 'दीठ' में यद्यपि ठकार का प्रयोग कर्ण-कटु है, पर ओंठ का अनुस्वार और ठकार का अनुप्रास इस दोष को बहुत कुछ शांति कर देता है।

देखिए, 'रँग'-शब्द पर बिहारी कैसे उड़े है। यमक का प्रयोग दर्शनीय है। लिखते है—

कहैं देत रँग रात के रँग निचुरत-से नैन।
(बिहारी-सतसई)

इसमें 'रँग' के प्रयोग की छटा अद्भुत एवं दर्शनीय है। रँग का अर्थ क्रीड़ा या आनंद और वर्ण या रंग होता है।

❀ ❀ ❀

हिंदी-भाषा में ज्यों-ज्यों क्रिया-विशेषण के पश्चात् त्यों-त्यों का प्रयोग होना चाहिए, तभी वह उत्तम भाषा कहला सकती है, इसकी चेतावनी देते हुए बिहारीलालजी लिखते है—

ज्यों-ज्यों जोबन-जेठ दिन कुचमित अति अधिकाति,
त्यों-त्यों छिन-छिन कटि-छपा छीन परति नित जाति।
(बिहारी-सतसई)

दोहे में 'ज्यों-ज्यों के पश्चात् 'त्यों-त्यों' का प्रयोग मनोरम शुद्ध ढंग से हुआ है। 'छीन-छिन' मे वीप्सा की बहार है। 'ज्यों-ज्यों

जोवन-जेठ' में जकार का दो वार से अधिक प्रयोग होने से वृत्त्यानुप्रास स्पष्ट है। 'परत, नित, नित एवं अति' में अंत के अकार की अनोखी आभा है। 'अति' एवं 'अधिकाति' मे 'अति' और 'अधि' में छेकानुप्रास की छटा है। अधिकाति एवं नित जाति के अंत्यानुप्रास (तुकांत) मे भी उत्तमता है। इस प्रकार संपूर्ण दोहे मे भाषा की श्रेष्ठता एवं उसका स्वाभाविक प्रवाह हृदयहारी है।

  

मानहु सुख दिखरावनी दुलहिन कर अनुराग—
सास सदन मन ललन हू सौतिन दियो सुहाग।
(बिहारी-सतसई)

'मानहु' और 'मुख', 'मुख' और 'दिख', 'दिखरावनी' और 'दुलहिन'. 'सास' और 'सदन', 'सदन', 'मन' और 'ललन', 'दुलहिन' और 'सौतिन' एवं 'अनुराग' और सुहाग में भाषा की जो आनुप्रासिक छटा है, वह अद्वितीय है।

समरस समर-सकोच-वस विवस न ठिक ठहराइ;
फिरि-फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि-दुरि उझकति जाइ।
(बिहारी-सतसई)

समरस और समर के आदि में 'समर' का प्रयोग, 'समरस', 'समर' और 'सकोच' में सकार की शोभा, 'वस' और विवस' में 'वस' की बहार, ठिकु' और 'ठहराइ' का छेकानुप्रास, फिरि-फिरि' और 'दुरि-दुरि' का वीप्सालंकार एवं 'ठहराइ' और 'जाइ' का अंत्यानुप्रास भाषा की समृद्धि है। दोहे में शब्दालंकार की अच्छी छटा है। छेकानुप्रास, वृत्त्यानुप्रास, यमक, वीप्सा और अंत्यानुप्रास आदि सभी विलक्षण हैं। इतने छोटे-से दोहे में इन सवका इतनी

सुंदरता से होना चकित कर देता है। इन उपर्युक्त गुणों के साथ-भाषा के स्वाभाविक प्रवाह की मनोरमता एवं प्रसाद-गुण की अक्षुण्णता कवि के भाषाधिकार का प्रकृष्ट प्रमाण है।

* * *

स्वाभाविक, प्रवाहमय, परिमार्जित, शुद्ध साहित्यक भाषा में सुंदर अनुप्रास और यमक की शोभा पात्र एवं काल के अनुकूल निम्न-लिखित दोहे में दर्शनीय है। बोल-चाल के ढंग को जैसे निवाहा है, उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। लिखते हैं—

लाज गहौ, बेकाज कत घेर रहे ? घर जाँहि,
गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिं।

(बिहारी-सतसई)

वैसे तो संपूर्ण दोहे में भाषा-सौष्ठव दर्शनीय है, पर 'गोरस' का प्रयोग तो गजब ढा रहा है। 'गोरस' का अर्थ दूध-दही भी होता है, एवं इंद्रियों का रस भी होता है। कैसे अनोखे ढंग से कहा है—

गोरस चाहत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिं।

* * *

निम्न-लिखित अवतरणों में देखिए, बिहारीलालजी ने शब्दा-लंकारों की कैसी सजावट की है—

(१) फूली आँगन में फिरै, आँग न आँगि समात।
(२) लखि मोहन जो मन रहै तो मन राखौं मान।
(३) ललन चलन की चित धरी कल न पलन की ओट।

(बिहारी-सतसई)

इन अवतरणों में प्रथम फूली और न समात का संबंध जितना सुहावना है, उतना सुहावना शब्दालंकार चिह्नित स्थलों में भी है। द्वितीय में मन और मान एवं मोहन में अर्थ-चमत्कार का निर्वाह एवं अनुप्रासिक सुषमा दर्शनीय है। तृतीय अवतरण में

ललन, चलन, कल, न, पलन में मानो शब्द-समृद्धि की लूट है। इतने पर भी तोड़-मरोड़ या विकृति का न होना अत्यंत प्रशंसनीय है। बिहारी-सदृश समर्थ कवि ही भाषा का ऐसा निर्वाह कर सके हैं।

❀ ❀ ❀

निम्न-लिखित अवतरणों में शब्द कैसे तौलकर रक्खे गए हैं, एवं वृत्यानुप्रास की कैसी अनोखी छटा छहराई गई है, इसे सहृदय मर्मज्ञ पाठक देखें।

(१) नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन,
गति पाली आली अनत, आए बनमाली न।

(बिहारी-सतसई)

❀ ❀ ❀

एवं—

(२) तुरत सुरत कैसे दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि।

(बिहारी-सतसई)

नख-रेखा सोहैं नईं, अलसौंहैं सब गात,
सोहैं होत न नैन ये, तुम कत सौंहैं खात।

(बिहारी-सतसई)

नवीन नख-रेखा (सोहैं) शोभा देती हैं, सब गात (अलसौंहैं) आलस-युक्त है। ये नैन (नेत्र) सम्मुख (सोहैं) नहीं होते, तुम (सौंहैं)शपथें (कसमें) क्यों खाते हो ?

इसमें 'सौंहैं' का प्रयोग कितना हृदयहारी एवं अनूठा है।

❀ ❀ ❀

सदन-सदन के फिरन की सद न छुटै यदुराय ;
रुचै तितै बिहरत फिरौ, कत बिहरत उर आय।

(बिहारी-सतसई)

'सदन-सदन' के प्रयोग मे वीप्सा की बहार एवं 'सदन-सदन फिर

सद न' में वृत्ति का वैभव है। 'रुचे तित विहरत फिरौ, कत बिह-रत उर आय' की शब्द-सुषमा हृदयहारिणी है। 'बिहरत' का श्लेष भी बड़ा मनोहर है। बिहरत का अर्थ 'फिरना एव 'क्रीड़ा करना' होता है। तुकांत की श्रेष्ठता है ही। इस प्रकार संपूर्ण दोहे की भाषा प्रशंसनीय है।

❋ ❋ ❋

जाति मरी बिछुरती घरी जल सफरी की रीति ;
छिन-छिन होति खरी खरी अरी जरी यह प्रीति।

(बिहारी-सतसई)

इतने छोटे-से दोहा छंद में 'मरी, घरी, सफरी, खरी खरी, जरी, रीति, प्रीति एवं छिन-छिन' में पद क्या हैं, देदीप्यमान अनमोल रत्न हैं। फिर क्या मजाल कि इतनी उत्कृष्ट शब्द-सुषमा के लिये बिहारीलालजी ने एक भी शब्द तोड़ा-मरोड़ा हो। वृत्त्यानुप्रास एवं वीप्सा की छटा दोहे में अवर्णनीय है।

❋ ❋ ❋

गुड़ी उड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह ,
बौरी लौं दौरी फिरै, छुवति छबीली छाँह।

देखिए तो, गुड़ी और उड़ी, लखि और लाल, अँगना और अँगना, बौरी और दौरी, फिरति और छुवति, छबीली और छाँह तथा माँह और छाँह में शब्द-समृद्धि कैसी अनोखी प्रभा दर्शित कर रही है। ऐसे उदाहरणों से कवि के भाषा पर एकाधिपत्य रखने की सूचना मिलती है।

❋ ❋ ❋

लाल तिहारे विरह की अगिनि अनूप अपार ;
सरसै बरसैं नीर हू, झरहू मिटै न झार।

(बिहारी-सतसई)

दोहे में 'अगिनि अनूप अपार' में अकार का अनूठापन अद्वितीय अवश्य था, पर 'सरसै बरसै नीर हू झरहू मिटै न झार' में जो शब्द-सुषमा एवं भाषा-प्रौढ़ता है, वह अवर्णनीय है। किसी भी दृष्टि से दोहे की भाषा सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक भाषा सिद्ध होती है।

* * *

पिय के ध्यान गही-गही, रही वही ह्वै नारि ;
आप-आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।

(बिहारी-सतसई)

इसमे इतने तालकर पद रक्खे गए हैं, जिनकी प्रशंसा शब्दों में नहीं हो सकती। दोहे में शब्दालंकारों का अनूठापन, सुंदर प्रबंध-योजना, अर्थ-गांभीर्य, अर्थ-व्यक्ति, प्रसाद-गुण एवं भाषा का स्वाभाविक प्रवाह एवं प्रयोग-साम्य सभी कुछ है। 'गही गही रही वही' मे भाषा का निराला चमत्कार है। 'आप-आप ही आरसी में भी शब्द-सुषमा है। 'रिझति रिझवारि' में तो मानो शब्द-समृद्धि लूट ली है। जब नायिका 'रिझवारि' है, तभी वह 'रीझति' है।

* * *

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बान ;
आक-कली न रली करै, अली अली जिय जान।

(बिहारी-सतसई)

कैसी मधुर, अलंकृत एवं समुचित नियंत्रित उत्कृष्ट भाषा है। फिर बोल-चाल की स्वाभाविकता तो सोने में सुगंध है। कौन कह सकता है कि खरी व तरी, कान व बान एवं कली, रली, अली और अली का प्रयोग ऐसे अनूठे ढंग से चौबीस मात्राओं के दोहा-छंद मे ऐसी कुशलता से भावानुगामिनी भाषा मे कर जाना बिहारीलालजी के भाषा पर एकाधिपत्य का परिचायक नहीं है?

* *

मार सुमार करी खरी, अरी मरीहिं न मार ;
सींच गुलाब घरी-घरी, अरी बरीहिं न बार ।

(बिहारी-सतसई)

मार एवं सुमार, करी एवं खरी और 'अरी मरीहिं न मार', घरी-घरी एवं 'अरी बरीहि न बार' सभी पद विलक्षण हैं। दोहे में उत्कृष्ट प्रौढ़ अलंकृत साहित्यिक भाषा का भावानुकूल देश-काल-पात्रानुसार स्वाभाविक प्रवाह होना बरबस हृदय को खींचता है।

❀ ❀ ❀

अब लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा का अद्भुत संघट्टन देखिए। निम्न-लिखित दोहे में शब्दालंकारों की संसृष्टि दर्शनीय है। फिर भी यह नहीं है कि प्रसाद-गुण न हो। भाषा का प्रवाहमय समुचित नियंत्रण और मनोमुग्धकारी माधुर्य-गुण न हो।

फिर सुध दै सुध पाइए इहि निरदई निरास,
नई-नई बहुरौ दई, दई उसास उसास ।

(बिहारी-सतसई)

❀ ❀ ❀

प्रायः संपूर्ण साहित्याचार्यों ने यमक की श्रेष्ठता अंगीकार की है। बिहारीलालजी ने यमक का प्रयोग भावानुगामिनी, स्वाभाविक प्रवाहमयी भाषा में कैसे अनूठे ढंग से किया है, यह दर्शनीय है।

वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न ;
हरिनी के नैनान तैं, हरि नीके ये नैंन ।

(बिहारी-सतसई)

कितनी मनोरमता से यमक की छटा छहराई है। संपूर्ण दोहा भाषा-सौष्ठव का—यमक के प्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है।

❀ ❀ ❀

केलि-तरुन दुखदैन ये, केलि तरुन सुखदैन ।

(बिहारी-सतसई)

इसमें भी यमक की अद्भुत छटा है। केले के पेड़ को दुख और केलि (रति-केलि) में तरुन के सुख देनेवाली जंघाओं के वर्णन में केलि (केला व रति-क्रीड़ा) तरुन (वृक्ष व तरुण मनुष्यों) का जो प्रयोग किया गया है, वह सर्वथा दुर्लभ है। ऐसी भाषा प्रसाद-गुण को अक्षुण्ण रखते हुए—भाषा को विशुद्ध रखते हुए लिखना बिहारीलालजी का ही काम है।

❀ ❀ ❀

गनी गुनी सब कोउ कहत, निगुनी गुनी न होत ;
सुन्यों कहूँ तरु अर्क तैं अर्क - समान उदोत ।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में वैसे तो भाषा-संबंधी अनेक गुण है, पर 'अर्क' (अकौआ, सूर्य) का यमक बड़ा ही हृदयहारी है।

❀ ❀ ❀

कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ ;
वह खाएँ बौरात है, यह पाएँ बौराइ ।

(बिहारी-ससतई)

इसमें यमक की शोभा दर्शनीय है। कनक का अर्थ धतूरा और स्वर्ण दोनो हैं। फिर यमक में भी जो अर्थ-गांभीर्य रक्खा है, उसमें भी जो शब्द-सुषमा रक्खी है, वह प्रशंसनीय है।

❀ ❀ ❀

किस शब्द का किस स्थान में कैसा प्रयोग करना चाहिए, इसे हम बिहारीलालजी की टकसाली भाषा में बड़ी सुंदरता से देखते हैं। लिखते हैं—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट छीन ;
मानहुँ सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन।

(बिहारी-सतसई)

इसमें चंचल नयन चमचमात, घूँघट-पट भीन, विमल जल जुग मीन उछलत में चिह्नित शब्दों के प्रयोगों पर ध्यान दीजिए।

लहलहात तन तरुनई, लच लग लौं लफ जाइ ;
लगै लंक लोयन भरी, लोयन लेत लगाइ।

(बिहारी-सतसई)

इसमें तन तरुनई लहलहात, लच लग लौ लफ जाइ, में प्रयोग-साम्य है, साथ ही लहलहात, लच, लग, लौ, लफ, लगै, लंक, लोयन, लोयन, लेत, एवं लगाइ में लकार से प्रारंभ होने-वाले पदों का बाहुल्य है; पर फिर भी भाषा में न तो किसी प्रकार की बनावट या तोड़-मरोड़ है, एवं न उससे भाव-राशि में किंचित बाधा पड़ती है।

निम्न-लिखित दोहे में भावमयी, आह्लादकारिणी, मधुरिमामय, उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और शब्दों के औचित्यपूर्ण विशुद्ध प्रयोग पर ध्यान दीजिए।

पलन प्रगटि, बरुनीन बढ़ि, छिन कपोल ठहरायँ ;
अँसुआ परि छतियाँ छिनकु, छनछनाय छिपि जायँ।

(बिहारी-सतसई)

इसमें कैसी अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण रसीली ब्रजभाषा है। इसका एक-एक पद अनूठा है। यथार्थ में दोहे की लड़ी में अनर्घ्य मणियाँ पिरोई गई हैं। संपूर्ण दोहे में शब्दालंकार की छबीली छटा छहरा रही है। बिहारीलालजी के यश की ध्वजा भी ऐसी अनूठी भाषा

लिखने के कारण ही फहरा रही है, एव लोगों को यह कहने पर विवश कर रही है कि महाकवि बिहारी के समान उच्च कोटि की, भावानुगामिनी, परिमार्जित, प्रयोग-साम्य, साहित्यिक भाषा विश्व के बहुत ही थोड़े कवि लिख सके होंगे।

❋ ❋ ❋

बिहारीलालजी की भाषा में श्लेष-वर्णन का चमत्कार अनेक दोहों मे पाया जाता है। यहाँ दो दोहे देखिए—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर ;
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'वृषभ+अनुजा' से बैल की बहन और 'हलधर के बीर' के—हल को धारण करनेवाले बैल के बधु एवं वृषभानुजा से वृष के अत्यंत तेजवान् मार्तंड (सूर्य) से उत्पन्न एवं हलधर से (हल= पृथ्वी, धर=धारण करनेवाले) पृथ्वी को धारण करनेवाले शेष-नाग के अवतार बलराम के भाई एवं हलधर के वीर से बलराम के भाई कृष्ण एवं वृषभानुजा से वृषभानुराय की पुत्री राधिका का बोध होता है। दोहे में भंग पद श्लेष का अनोखा चमत्कार है।

❋ ❋ ❋

अजौं तरयोना ही रहो, श्रुति सेवत इक अंग ;
नाक बास बेसर लहो, बसि मुकुतन के संग।

(बिहारी-सतसई)

पहले इसके शब्दार्थ देख लीजिए—

'तरयोना'=(१) कर्णफूल, कान में पहनने का आभूषण, (२) तरा नहीं, मोक्ष नहीं पाया।

श्रुति=(१) कान, कर्ण, (२) वेद।

नाक =(१) नासा, नासिका, (२) वैकुंठ, स्वर्ग ।

वेसर =(१) नथ, नाक का आभूषण, (२) अद्वितीय, अनुपमेय

मुकुतन= (१) मोतियों, (२) जीवन्मुक्त महात्माओं ।

श्लेष का ऐसा विशुद्ध उदाहरण कठिनता से मिलेगा।

बिहारीलालजी ने उपर्युक्त प्रकार के श्लेषात्मक दोहे क्लिष्टत्व-दोष आ जाने के कारण थोड़े ही लिखे है । यथार्थ में उन्होंने ऐसे श्लेष कहे हैं, जिनसे साहित्य-संसार की शोभा है। इस ग्रंथ में उनके वैसे अनेक दोहे पाठकों को मिलेंगे। यहाँ उदाहरण के लिये एक दोहा देता हूँ, देखिये—

जोग-जुगति सिखई सबै मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे का अर्थ मै समता के अध्याय में लिख चुका हूँ, एवं वहाँ इसकी कुछ विवेचना भी कर चुका हूँ। इस दोहे मे 'कानन' का श्लेष ही सब कुछ है। 'कानन' से कर्णों (कानो) एव 'कानन' से जंगल अर्थ होता है। इस कानन से ही अद्वैतता के अर्थ का एवं योग-युक्ति का सामंजस्य ठहरता है। ऐसे श्लेष ही यथार्थ मे प्रशसनीय है, और विहारीलालजी ी सतसई में ऐसे ही श्लेप भरे हैं।

* * *

इस कवि ने भाषा में प्रचलित मुहाविरों का जैसी उत्तमता से प्रयोग किया है, वह सर्वथा सर्वोतोभावेन सराहनीय है। इस ग्रंथ में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। यहाँ दो उदाहरण देखिये—

(१) सीतलताऽरु सुवास कौ घटै न महिमा-मूरु ;
पीनसवारो जो तज्यौ सोरा जानि कपूर।

(बिहारी-सतसई)

(२) आँखिन आँखि लगी रहैं, आँखैं लागति नाहिं।

(३) जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन।

(४) डौंड़ी दै गुन रावरे कहति कनौड़ी डीठि।

(५) वे ही कर व्यौरनि वही व्यौरे कौन विचार;
जिनहीं उरझ्यो मो हियो, तिनहीं सुरझे वार।

विहारीलालजी के नीति के दोहे अब कहावतों के रूप में प्रचलित हो चुके हैं।

वर्णन में सजीवता लानेवाली, भावानुगामिनी भाषा में विहारीलालजी ने जिस प्रयोग-साम्य का निर्वाह किया है, एवं जो अनूठी रचना की है, वह सदैव हिंदी के माथे की विंदी रही है, और रहेगी। अब मैं एक दोहा देकर विहारीलालजी के भाषा-वर्णन को दिखलाना समाप्त करता हूँ। कहते हैं—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहि बाट;
निपट विकट जब लगि जुटे खुलहिं न कपट-कपाट।
(विहारी-सतसई)

मन की कोमलता दिखलाने के लिये 'मन-सदन' का प्रयोग कितना अनूठा है, इसे विज्ञ जन ही समझ सकते हैं; परंतु मन की यह कोमलता तब होती है, जब मन निष्कपट हो जाता है। निष्कपट, कोमल 'मन-सदन' में ही हरि का आगमन होता है। जब तक मन निष्कपट नहीं हुआ, तब तक उसमें कठोरता है, इसी कठोरता की सीमा दर्शित करने के लिये ही भाषा पर एकाधिपत्य रखनेवाले महाकवि विहारीलालजी ने 'निपट विकट कपट-कपाट जुटे' लिखा है। इस परुषवृत्त्यानुप्रास में कपट के कपाटों की निपट विकटता केवल टकार के अनेक वार के प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है। इन वर्णों की ध्वनि सुनकर ही श्रोता को कपट की भीषणता का अनुभव हो

जाता है। तुरंत ही ध्यान में आ जाता है कि कपटी का मन बड़ा ही कठोर है। उस कठोरता को बिना हटाए, मन को पर-दुःख-कातरता एव दया आदि गुणों से कोमल बनाए बिना, उस 'मन-सदन' में हरि का आगमन नहीं होता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिहारीलालजी ने अत्यंत उच्च कोटि की साहित्यिक व्रज-भाषा लिखी है। वह प्रायः व्याकरण-विशुद्ध, परम-परिमार्जित, अत्यंत मधुरिमामयी और भावानुगामिनी है। उसमें काव्य की भाषा के सर्वोत्कृष्ट गुणों का अच्छा दिग्दर्शन है। यथार्थ तो यह है कि जिस प्रकार महात्मा श्री तुलसीदासजी गोस्वामी ने अवधी-भाषा सर्वथा अद्वितीय और अत्यंत उच्च कोटि की लिखी है, उसी प्रकार श्री बिहारीलालजी ने व्रज-भाषा सर्वथा अद्वितीय और अत्यंत उच्च कोटि की लिखी है। इसी से मर्मज्ञों ने—भाषा के जौहरियों ने—यह निर्णय दे दिया है—

व्रज-भाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि-विसाल ;
सबको भूषन सतसई रची बिहारीलाल।

श्री मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में बिहारीलालजी की अद्वितीय भाषा पर भी कटाक्ष किया है। आप लोगों ने जहाँ बिहारी सतसई की अद्वितीय, पीयूषवर्षिणी, भावानुकूल, मुहाविरेदार, सजीव भाषा की बेहद प्रशंसा की है, वहाँ उसमें से कुछ ऐसे शब्द बड़े परिश्रम से ढूँढ़ निकाले हैं, जिन्हें आप लोगों ने अप्रयुक्त, भ्रष्ट एवं विकृत करार दिया है। परंतु मुझे तो वे सब साहित्यिक व्रज-भाषा में प्रयुक्त मँजे हुए प्रयोगों के उत्कृष्ट उदाहरण जान पड़े हैं, और उनके दोष बतलाने में श्री मिश्रबंधुओं की ही भ्रमात्मक भूल जान पड़ती है, जो अच्छे एवं प्रामाणिक समालोचक की मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध

जान पड़ती है। उन शब्दों के प्रयोग कितने सही और सुंदर हुए है, यह मैं यहाँ श्री मिश्रवंधुओं के आक्षेपों-सहित सप्रमाण दिखलाता हूँ—

(१) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

हाँ से ह्याँ, ह्याँ से वहाँ, नेकौ धरति न धीर ;
निसि-दिन डाढ़ी-सी रहै, बाढ़ी गाढ़ी पीर ।

(बिहारी-सतसई),

इसमें 'डाढ़ी' पद के प्रयोग पर श्री मिश्रवंधु बहुत ही बिगड़े है, और सतसई के सूरति मिश्र और सरदार आदि प्राचीन तथा पं० पद्मसिंह एवं 'रत्नाकर' आदि आधुनिक साहित्य-विशारद टीकाकारों ने 'डाढी' का जो 'जली हुई' अर्थ किया है, उसे लक्ष्य कर हिंदी-नवरत्न में लिखते है—

"प्रसिद्ध अँगरेजी-समालोचकों का मत है कि ऐसे प्रांतीय प्रयोग भाषा की अशिष्टता (Barbarity of Language) प्रकट करते है। कहा जा सकता है कि सतसई व्रज-भाषा में लिखी गई है। फिर भी साधु व्रज-भाषा का लिखना श्रेयस्कर है, ग्राम्य का नहीं। डाढी शब्द डाढ़ा (दौरहा-आग) से निकला हुआ समझ पड़ता है। 'डाढ़ी' को जली हुई के अर्थ में कहना ठीक नहीं समझ पड़ता। यदि कोई अपने मन का गढा हुआ चाहे जो अर्थ कह दे, तो उसके प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ होने से हम ऐसी-ऐसी अनुचित बातों को उचित मानने के लिये तैयार नहीं है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २८५)

इन महाशयों की इस आक्षेप-प्रणाली पर कुछ न कहकर मै यहाँ हिंदी के स्तंभ-महारथियों की रचनाओं मे इसी शब्द के प्रयोग दिखलाता हूँ। देखिए—

(अ) व्रज-भाषा के सर्वस्व, हिंदी-साहित्य-सूर्य श्री सूरदासजी लिखते हैं—

धेनु दुहति अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहिनि पहुँचावति, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।

*　　　*　　　*

सखी संग की निरखति इहि छवि भई व्याकुल मनमथ की डाढ़ी ।

[सूर-सागर (वेंकटेश्वर-प्रेस) दशमस्कंध, पृष्ठ १६३]

परम वियोगिनि सब मिलि ठाढ़ी ,
ज्यों जल-हीन दीन कुमुदिनि-गति, रबि-प्रकास की डाढ़ी ।

*　　　*　　　*

सूरदास प्रभु अवधि कहौं तौ प्रान तजति ब्रज-नारी ।

[सूर-सागर (नवलकिशोर-प्रेस), मथुरालीला, पृष्ठ ७६०]

इन दोनो उद्धरणों में श्री सूरदास ने 'डाढी' का प्रयोग 'जली हुई' के अर्थ में स्पष्टतया किया है ।

(ब) हिंदी के सर्वस्व कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

निकसि बसिष्ठ द्वार भे ठाढ़े ;
देखे लोग बिरह-दव डाढ़े ।

(राम-चरित-मानस, अ० कां०)

यहाँ पुंलिंग बहुवचन में स्त्रीलिंग 'डाढ़ी' का रूप 'डाढ़े' हो गया है ।

लखन तेज तनु हत भयो, जिमि डाढ़ी दव बेलि ।

(राम-चरित-मानस, लं० कां०)

इन उद्धरणों में तुलसीदासजी ने 'डाढ़े' एवं 'डाढ़ी' का प्रयोग 'जले हुए' एवं 'जली हुई' के अर्थ में किया है ।

(स) हिंदी-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ आचार्य महाकवि केशवदासजी लिखते हैं—

हठ-हित-कर प्रीतम लियौ, कियौ सो सौत सिगार ;
अपुनैं कर मोतिन गुह्यौ, भयौ हरा-हर-हार।

[बिहारी-सतसई]

'भयौ हरा-हर-हार' का अर्थ 'हार हलाहल के समान हो गया' लगाकर श्री मिश्रबंधुओं ने इस पर यह आक्षेप किया है कि इसमें 'हलाहल' स्थान में 'हरा-हर' लिखा गया है, अतएव भाषा की भ्रष्टता है। परंतु साहित्य मर्मज्ञ कहलानेवाले इन समालोचकों ने यह न सोचा कि बिहारीलालजी-सदृश महाकवि हलाहल को हार उपमान कैसे वर्णन करेंगे? आर्य-साहित्य में संस्कृत और हिंदी के महाकवियों की प्रणाली हार को सर्प के समान वर्णन करने की परंपरा से है। हार से और सर्प से अधिक साम्य होने से आर्य महाकवियों ने हार को बिरह में सर्प के समान वर्णन किया है। मै यहाँ हिंदी-भाषा, विशेपकर ब्रज-भाषा के सम्मानीय कवीश्वरों की रचनाओं में के उद्धरण ही इसके प्रमाण में देना ठीक समझता हूँ। देखिए—

(अ) श्रीराधावल्लभ-संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु आचार्य श्री हित-हरिवंशजी महाराज, जिनकी कविता को श्रीयुत मिश्रबंधु सूरदास की जोड़ की समझते, यदि वह परिमाण (quantity) में सौर कविता के बरावर होती, लिखते है—

चलसि किन मानिनि कुंज-कुटीर।
तो बिनु कुँवर कोटि वनिता-युत मथत मदन की पीर।

... ...

वंशी विसिख, ब्याल मालावलि, पंचानन पिक-कीर।

मलयज गरल, हुतासन मारुत, साखामृग रिपु चीर ;
'हितहरिवंस' परम कोमल चित सपदि चली पिय तीर।

[श्रीहित-चतुरासी]

इस उद्धरण में 'व्याल मालावलि' में माला को सर्प के समान वर्णन किया है।

(ब) महाकवि आचार्य केशवदासजी लिखते हैं—

फूल ना दिखाव सूल फूलत है हरि बिन,
दूर कर वाला माला व्याल-सी लगति है;
चँवर चलाव जनि, बीजन डुलाव जनि,
'केसव' सुगंध-वायु बाय-सी लगति है।
(रसिकप्रिया, पृष्ठ १४६)

इस उद्धरण में भी 'माला व्याल-सी लगति है' में माला की समता सर्प से की गई है।

(स) सुप्रसिद्ध हिंदी-कवि पद्माकरजी लिखते हैं—

कै गिनती-सी इती विनती,दिन तीनक लौं बहु बार सुनाई ;
त्यों 'पदमाकर' मोह-मया करि तोहिं दया न दुखीन की आई।
मेरो हरा हर हार भयो अब, ताहि उतार उन्हें न दिखाई ;
ल्याई न तू कबहूँ बनमाल, गुपाल की वा पहिरी पहिराई।
(जगद्विनोद)

इसमें भी हरा की हर-हार (शंकर के गले का हार=सर्प) से समता की गई है। यहाँ विहारीलालजी को ही सुगठित, मनोहर शब्दावली है।

तात्पर्य यह कि श्री मिश्रबंधुओं ने अज्ञानता-वश यह भूल की है। उन्होंने जिस देव कवि को हिंदी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ महाकवि कह डाला है, उसने भी 'हार' का उपमान विरह में 'सर्प' ही माना है। देव ने लिखा है—

'देव' तेहि काल गूँथि ल्याई माल मालिनि,
सो देखत विरह-विष-व्याल की लहरि परी।

इसमें देव ने विरहावस्था की माला को विषैला सर्प बनाया है। और भी लिखा है—

देखे दुख देत चैत-चंद्रिका अचेत करि,
चैन न परति चद चंदन को टारि दै,
फूँकै ज्यों फनी री, फूल-माल को न नीरी करि,
एवी री वरी ये जाति या बीरी बगारि दै।
(प्रेमचंद्रिका पृष्ठ २३, छं० ४०)

यहाँ भी माला व्याल (फनी) है। श्री मिश्रवंधुओं ने 'हार' को 'हरा' लिखने पर जो आक्षेप किया है, वह निर्मूल है; क्योंकि 'हार' को 'हरा' लिखने की व्रज-भाषा के कवियों की परिपाटी रही है, और गद्य में आज तक 'हार' के स्थान में 'हरा' का प्रयोग लोग प्रचुरता से करते हैं। जैसे—'दो पैसे के वेला के हरा ले आओ।'

(३) महाकवि विहारीलालजी ने लिखा है—

दियौ जु पिय लखि चखनु में खेलत फागु खयाल ;
वाढ़त है अति पीर सु न काढ़त वनत गुलाल।
(विहारी-सतसई)

इसमें जो 'खयाल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में किया गया है, उसे मिश्रवंधु अप्रयुक्त और विकृत मानकर आक्षेप करते हैं। पर यह आक्षेप इन सज्जनों की अध्ययन-हीनता का ही फल है।

(अ) व्रज-भाषा के सर्वस्व महाकवि श्री सूरदासजी लिखते हैं—

चकृत देखि कहैं नर-नारि ;
धरनि-अकास-वरावर ज्वाला झुरसी लपटि करारि।
नहिं वरस्यो नहिं छिरक्यो काहू कहँ धौं गई विलाय ;
अति आघात करति वन भीतर कैसे गई वुझाय।
तृण की आगि वरति नहिं वुझ गई हँसि-हँसि कहत गुपाल।
सुनहु 'सूर' वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल॥

इस उद्धरण में 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में स्पष्ट है।

(ब) हिंदी के सर्वस्व गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

बालक नृपाल जू के ख्याल ही पिनाक तोर्‌यो।

(कवितावली-रामायण)

इसमें 'ख्याल ही' का प्रयोग 'खेल ही' के अर्थ में स्पष्ट है।

(स) कविवर ठाकुर ने लिखा है—

मचि रहि फाग और सब सब ही पै घालैं।
रंग औ' गुलाल लाल ख्याल अवलोकौं मैं;
मो पै तुही 'ठाकुर' लगाए घात घूमें घेरि;
देखौं अब जात कित इत-उत रोकौं मैं।

इसमें 'ख्याल' खेल के अर्थ में स्पष्ट है।

(क) कविवर पद्माकर लिखते हैं—

मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सु दृग-मिचावनी के ख्यालन हितै-हितै;
नैसुक नवाय ग्रीवा धन्य-धन्य दूसरी को
औचक अचूक मुख चूमत चितै-चितै।

यहाँ भी 'ख्याल' का प्रयोग खेल के अर्थ में हुआ है।

(ख) कविवर ग्वाल ने ख्याल का प्रयोग खेल के अर्थ में अनेक बार सुंदरता से किया है—

बोलीं तब बाल भले आओ नँदलाल अब
देखैं ख्याल तेरो भजि आयो फँसि-फँसिकै;
'ग्वाल' कवि स्यामै गहि कोउक नचावै,
कोऊ चेरौ कै छुड़ावै फेरि आवै घसि-घसिकै;

एवं—

'ग्वाल' कवि नैन में कि वैन में कि सैन में
कि रंग लैन-दैन में कि आँगुरी अँगूठी मैं;

मूठी में, गुलाल में कि ख्याल में तिहारे प्यारी,
कामें भरी मोहिनी, जो भयो लाल मूठी में।

इन दोनों अवतरणों में 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में हुआ है।

(ग) राजा शंभुनाथ सोलंकी ने भी लिखा है—

'शंभु' सनेह समाए रहैं, रस-ख्यालन में सिगरी निसि जागैं;
दोऊ दुहूँन सों मान करैं, पुनि दोऊ दुहूँन मनावन लागैं।

इस उद्धरण में 'ख्यालन' का प्रयोग 'खेलों' के अर्थ में स्पष्ट हुआ है।

(घ) देव कवि ने भी श्रीदेव-माया-प्रपंच नाटक में लिखा है—

हाय दई इहि काल के ख्याल में
फूल-से फूलि सबै कुम्हलाने।

इसमें देव ने 'ख्याल' का प्रयोग खेल के अर्थ में ही किया है।

इसके सिवा अन्य अनेक कविवरों ने 'ख्याल' का प्रयोग 'खेल' के अर्थ में किया है। इस प्रकार जिसका प्रयोग सूर, तुलसी, बिहारी, ठाकुर, पद्माकर, ग्वाल, शंभु और देव आदि कवियों ने प्रचुरता से किया हो, वह जिन्हें अप्रयुक्त जान पड़े, उनकी अध्ययनशीलता की बलिहारी है।

(४) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

नित संसौ, हंसौ बचत मानहुँ इहि अनुमान;
बिरह-अगिनि-लपटि न सकै, झपटि न मीच-सिचान।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'संसौ' शब्द पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—

"संसौ—साँस के अर्थ में असाधारण, अव्यवहृत और बिगड़ा हुआ स्वरूप है।"

(हिंदी-नवरत्न, पृष्ठ २८१)

जान ही नहीं पड़ता कि श्रीमिश्रबंधुओं ने 'ससौ' का अर्थ 'साँस' कहाँ से ले लिया। दोहे का तो स्पष्ट अर्थ है—"नित्य यही संदेह रहता है कि इस वियोगिनी का जीव कैसे बचा हुआ है? यही अनुमान ठीक जान पड़ता है कि मृत्यु-रूपी बाज विरहाग्नि की लपटों के डर से हंस-रूपी जीव पर झपट नहीं सकता।"

दोहे में 'संसौ' का अर्थ 'संदेह' बिलकुल स्पष्ट है। ब्रज-भाषा में संसौ शब्द संशय का रूप है। खेद है, जिन सज्जनों की समझ में दोहे का अर्थ भी नहीं आता, वे ही आक्षेप करने बैठ जाते हैं। यदि श्रीमिश्रबंधुओं ने देव कवि का काव्य दी ध्यान से पढ़ा होता, तो उन्हें 'संसौ' का अर्थ संदेह मिल जाता। यहाँ एक उदाहरण देखिए—

उत्तम मध्यम नीच क्रम लघु चिंता अवसाद ;
महासोक ये घन गए हित संसौ सु बिषाद।

(भावविलास)

(५) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

सम रस समर-सकोच-बस बिबस न ठिकु ठहराति ,
जक न परति चकरी भई, फिर आवति फिर जाति।

(बिहारी-सतसई)

इसमें बिहारीलालजी ने स्मर के अर्थ में जो 'समर' का प्रयोग किया है, इस पर श्रीमिश्रबंधुओं ने आक्षेप किया है, पर यह आक्षेप भी अनुचित है। ब्रज-भाषा के श्रेष्ट एवं प्रसिद्ध महाकवि इसे इसी रूप में लिखते आए हैं। श्रीमिश्रबंधुओं के समान ही श्री पं० रामचंद्रजी शुक्ल ने भी अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में 'समर' के प्रयोग को अनुचित समझकर लिखा है – "बिहारी ने दो-एक स्थलों पर विकृत शब्द भी लिखे हैं। जैसे 'स्मर' के लिये 'समर'।" (पृ० २६२)

इसके विषय में मेरा विनम्र निवेदन यह है कि जिस प्रकार स्नेह के स्थान में सनेह का प्रयोग शुद्ध ब्रज-भाषा है, उसी प्रकार स्मर

के स्थान में समर का प्रयोग भी शुद्ध ब्रज-भाषा है। विस्तार-भय से यहाँ दो प्रबल प्रमाण दिए जाते हैं—

(अ) ब्रज-भाषा के सर्वस्व महात्मा श्रीसूरदासजी लिखते हैं—

निरखि सोभा समर लज्जित, इंदु भो भ्रम-भोर,
'सूर' धन्य सु बनि किसोरी, धन्य नंदकिसोर।
[सूरसागर (वेंकटेश्वर-प्रेस), पृष्ठ ३१०]

(आ) जिनकी ब्रज-भाषा को विनोद में श्रीमिश्रबंधुओं ने आदर्श ब्रज-भाषा माना है, वह महान् आचार्य और कवि श्रीभिखारीदासजी ने भी 'समर' का प्रयोग 'स्मर' के अर्थ में किया है। देखिए—

सोहै सरबंग सुख पुलक सुहाए हरि,
आए जीति समर समर महाराय सों।
(काव्यनिर्णय, पृष्ठ ४८, छं० सं० ३५)

इसमें भिखारीदासजी ने पहले समर का अर्थ युद्ध और दूसरे समर का अर्थ स्मर (काम) स्पष्ट ही लिखा है। तात्पर्य यह कि बिहारी-लालजी का प्रयोग अनुचित एवं निंद्य कदापि नहीं कहा जा सकता।

(६) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा है—

बचै न बड़ी सबील हू चील घोंसुआ माँस।
(बिहारी-सतसई)

इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"सबील युक्ति के अर्थ में लाया गया है, इसका शुद्ध अर्थ है मार्ग। 'भाई, इसकी कोई सबील निकाल दो' ऐसे वाक्य में सबील का अर्थ युक्ति माना जा सकता है, किंतु 'बचै न बड़ी सबील हू चील घोंसुआ माँस' में युक्ति का अर्थ नहीं लगता है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं० पृष्ठ २८५)

यह आक्षेप भी निर्मूल है। सबील का प्रयोग दोहे में प्रयत्न के अर्थ में बड़ा औचित्यपूर्ण है। हिंदी-शब्द-सागर में इसके विषय में लिखा है—

"सबील—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) रास्ता, मार्ग, सड़क। (२) उपाय, तरकीब, यत्न।"

(हिं० श० सा०, छठा खंड, पृ० ३४५२)

(७) महाकवि बिहारीलालजी ने पनिहा का प्रयोग जासूस या चोरी का पता लगानेवाले के अर्थ में किया है इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"पनिहा चोरों का पता लगानेवालों के अर्थ में आया है शुद्ध बुंदेलखंडी शब्द है पनाही। जो धन लेकर किसी के चोरी गए हुए ढोरों का पता लगाता है, उसे पनाही कहते हैं। इसी से कवि ने मनमाना शब्द गढ़ लिया।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि सं० पृष्ठ २२८)

यह इन सज्जनों की भूल है। पनिहा शब्द पनाही से नहीं बना है। यह संस्कृत-भाषा के 'प्रणिधा' का अपभ्रंश (तद्‌भव रूप) है। प्रणिधा का प्रयोग संस्कृत में दूत या गुप्तचर के अर्थ में होता है इसी से पणिहा और फिर आधुनिक पनिहा बना है। इसे बिहारीलालजी की गढ़ंत कहना तो इन सज्जनोंकी अध्ययनहीनता का फल है। बिहारीलालजी के जन्म के बहुत पहले ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के गुरु प्रसिद्ध राधावल्लभी महात्मा श्रीहरिरामजी व्यासकी रचना में इसका प्रयोग पाया जाता है। एक उदाहरण यहाँ देखिए—

सैननि बिसरे बैननि भोर।

बैन कहत कासों पिय प्यारे, बिहँसत कतहिं किसोर ;
काके पायँ गहत मम प्यारे, कासों करत निहोर ;
काहि न बिकल कियो नवनागर तुम पनिहा, तुम चोर।
निज बिहार आरोपि आन पर कोपि मान-गढ़ तोर ;
ब्यास स्वामिनी बिहँसि मचाई सुरस-समुद्र-हिलोर।

इसमें श्रीव्यासजी ने पनिहा का प्रयोग चोरी का पता लगानेवाले के अर्थ में किया है।

(८) महाकवि बिहारीलालजी ने 'नीठि' शब्द का प्रयोग अरुचि अथवा अनिच्छा और 'नीठि-नीठि कर' का प्रयोग 'ज्यों-त्यों करके' अथवा 'कठिनता से' के अर्थ में किया है। इस पर इन सज्जनों ने आक्षेप किया है। पर यह केवल वितंडावाद है।

हिंदी-शब्द-सागर में इनका प्रयोग और अर्थ इस प्रकार लिखा है—

"नीठि संज्ञा स्त्री०—अरुचि। अनिच्छा। (क्रिया) कठिनता से। मुश्किल से।

नीठि-नीठि करके=ज्यों-त्यों करके। किसी न-किसी प्रकार। कठिनता से। मुश्किल से।

नीठि-नीठि=त्यों-त्यों करके। किसी-न-किसी प्रकार। जैसे-तैसे। मुश्किल से। कठिनता से।"

(हि०-श० सा०, पृष्ठ १८७४-१८७५)

इसका प्रयोग बिहारीलालजी ने बड़ा ही सुंदर किया है। शब्द-सागर में भी इनके पाँच दोहे उद्धृत किए गए हैं। वे ये हैं—

कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हलाइ;
सदा समीपिन सखिन हू नीठि पिछानी जाइ।
चकी-जकी-सी ह्वै रही बूझे बोलति नीठि,
कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की दीठि।
नेकु हँसौहीं बान तजि, लख्यो परत मुख नीठि;
चौका चमकनि चौंध में परति चौंध-सी दीठि।
नीठि-नीठि उठि बैठि हू पिय-प्यारी परभात,
दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिर जात।
भौंहैं उचै, आँचर उलटि, मौरि मोरि मुँह मोरि;
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि।

इसका प्रयोग अन्यान्य श्रेष्ठ कवियों की रचना में भी प्रचुरता से पाया जाता है। जैसे—

(अ) छूटी लट लटकति कट-तट चितवति नीठि-नीठि कर ठाढ़ी।
(रसिक प्रिया)

चहुँ ओर चितै सत्रास, अवलोकियो आकास।
तहँ शाख बैठो नीठि तब परयो बानर दीठि।
(रामचंद्रिका)

(ब) बार अंध्यारनि में भटक्यो जु,
निकारयो मैं नीठि सुबुद्धिन सों घिरि;
'दास' कहो अब कैसे कढ़ै
निज चाड़ सों ठोड़ी की गाड़ परयो गिरि।
(काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५६)

(स) आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सुहाई सूही ईडुरी सुपट की;
कहै 'पद्माकर' गहीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
(जगद्विनोद)

(ड) निठुर डिठौना दीन्हें नीठि निकसन कहै,
डीठि लागिबे के डर पीठि दै गिरत है।
(सुखसागर-तरंग, छं० २५१)

इसी प्रकार अन्यान्य कवियों की रचनाओं में भी इसके प्रयोग प्राप्त होते हैं।

(९) महाकवि विहारीलालजी ने लिखा है—

नैंकु न जानी परति यों, परयो बिरह तन छाम;
उठति दिया लौं नादि हरि, लियैं तिहारो नाम।
(विहारी-सतसई)

इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबधु लिखते हैं—"दिया लौं

नादि उठति', में नादि उठति सचेत होने के अर्थ में आया है, किंतु नाद से शब्द-संबधी अर्थ निकलता है, न कि सचेत होने का।"

(हिंदी-नवरत्न, पृ० २८८)

इसके संबंध में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने लिखा है-"जब दिए में तेल इत्यादि कम हो जाता है, और बुझने को होता है, तब पहले दो-एक बार भभककर बल उठता है। इसे दिए का नाँदना कहते हैं। (बिहारी-रत्नाकर, पृष्ठ ५२)

हिंदी-शब्द सागर में इसके संबंध में लिखा है—"नाँदना क्रि० अ० [स० नंदन] लहकना, लहलहाना। प्रफुल्लित होना।"

(पृष्ठ १७९५)

(१०) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा—

रस कैसे रुख ससि मुखी, हँसि हँसि बोलति बैन ;
गूढ़ मान मन क्यों रहै भए बूढ़ रँग नैन।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'बूढ़' के 'बीरबहूटी' क अर्थ में प्रयोग पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"हमने ब्रजवासियों से पूछा, तो उन्होंने कहा कि हमारे यहाँ बीरबहूटी, इंद्रबधू और राम की डोकरिया, ये शब्द इस अर्थ में माने जाते हैं, न कि बूढ। संभवतः बिहारीलालजी ने बूढ़ शब्द राम की डोकरिया से निकला हो। ऐसी दशा में यह शब्द निंद्य अवश्य है।" (हिंदी नवरत्न, पृष्ठ २८५)

न-जाने यह आक्षेप क्यों किया गया है। बूढ शब्द का प्रयोग बिहारीलालजी ने यहाँ संज्ञा पुंलिंग में किया है, जिसका अर्थ हिंदी-शब्द-सागर के अनुसार (१) लाल रग और (२) बीरबहूटी है। (देखो पृष्ठ २४८९)

फिर इसका प्रयोग ब्रजभाषा-काव्य में प्रचुरता से पाया जाता है। जिन भिखारीदासजी की भाषा को स्वयं मिश्रबंधुओं ने विशुद्ध एवं

आदर्श ब्रजभाषा घोषित किया है, उन्होंने भी अपनी रचना में बूढ़ का प्रयोग इंद्रबधू के अर्थ में ही किया है। देखिए—

नृत्यत कलापी, झिल्ली-पिक हैं अलापी,
विरही जन बिलापी हैं मिलापी रसरास मैं ;
संपा को प्रकाश बक-अवली को अवकास,
बूढ़नि-बिकास 'दास' देखिबो को या समै।
(काव्य-निर्णय पृष्ठ २६, छं० १७)

जब महाकवि दास-जैसे महान् भाषा-विज्ञ आचार्य 'बूढ़' शब्द का प्रयोग बीरबहूटी के अर्थ में करते हैं, तब यह सिद्ध है कि इसका प्रयोग निंद्य नहीं माना जा सकता।

(११) महाकवि बिहारीलालजी ने लिखा—

डारे ठोड़ी-गाड़ गहि नैन-बटोही मारि ;
चिलक चौंध में रूप-ठग हाँसी-फाँसी डारि।
(बिहारी-सतसई)

इसमें महाकवि ने चिलका का प्रयोग चमक के अर्थ में किया है। इस पर आक्षेप करते हुए श्रीमिश्रबंधु लिखते हैं—"चिलक हमारे प्रांत में बड़ी पीड़ा को कहते हैं। लोग प्रायः ऐसा कहा करते हैं कि अमुक को चिलक (दर्द) देकर पेशाब उतरता है, या अमुक अंग में चिलक (दर्द) है। बुंदेलखंड और ब्रज में इसका अर्थ चमक माना जाता है। हमें ऐसा प्रांतीय या संदिग्ध शब्द नापसंद है।"

(हिंदी-नवरत्न द्वि० सं०, पृष्ठ २८४)

और, विद्वानों का ऐसा निंद्य आक्षेप नापसंद है। जब बुंदेलखंडी और ब्रज में चिलक का अर्थ चमक माना जाता है, और सतसई ब्रज-भाषा में लिखी गई है, तब बिहारीलालजी का चिलक को चमक के अर्थ में लिखना प्रशंसनीय है। सतसई केवल श्रीमिश्रबंधुओं की पसंदगी के लिये नहीं लिखी गई है। यदि इन सज्जनों के समान

संस्कृत-भाषा का पंडित फारसी के दस्त और फारसी का मौलवी संस्कृत के 'पाद्'-शब्द पर आपत्ति करने लगे, तो कैसा उपहास कृत्य होगा। फिर इसका प्रयोग ब्रजभूमि और बुंदेलखंड के सैकड़ों प्रसिद्ध कवियों ने किया है।

इसी प्रकार के चार-छ शब्द और हैं, जिन पर इन महाशयों ने आक्षेप किया है, और जिनका औचित्य उपयुक्त प्रकार से भलीभाँति सिद्ध किया जा सकता है। और तो ठीक ही, इन सज्जनों ने तो अग्गिनि और आधीन-जैसे शब्दों पर भी निंद्य आक्षेप किया है। यह कोई विचारणीय आलोचना नहीं है। इन महाशयों के अनुचित आक्षेपों को लक्ष्य कर पं० रामचंद्र शुक्ल ने बिलारीलालजी की भाषा के विषय में, अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में, आक्षेपों पर विचार करना व्यर्थ समझकर लिखा है—"जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को 'संक्रमण' (अप० संक्रौन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ क अर्थ में संस्कृत-शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है, और कबीर-जायसी-द्वारा बार-बार 'व्यवहृत हुआ है, 'सोन जाई' शब्द-स्वर्ण जाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में वारि और 'वार्' दोनों शब्द है, और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है। चलती ब्रज-भाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है। 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा। यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ, तो बेचारे बिहारी-लालजी का क्या दोष?" (पृष्ठ २६२)

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी की अप्रतिम, पीयूषवर्षिणी, अर्थ-गांभीर्यमयी, भावानुकूल भाषा पर कटाक्ष करनेवालों ने बिना समझे-बूझे उसे सदोष कहा है, जो सर्वथा निंद्य है।

काव्य-कला-कुशलता

जो हित के साथ वर्तमान है, वह हुआ 'सहित,' और जिसमें 'सहित का' भाव हो, वह हुआ 'साहित्य'। इस प्रकार साहित्य वह है, जिसमें हितकारी भावों का वर्णन हो। यद्यपि साहित्य का यह अर्थ सर्वमान्य है, परंतु यथार्थ में किसी जाति अथवा राष्ट्र के पास जो ग्रंथ-समूह का संग्रह उसके शताब्दियों से संचित ज्ञान एवं उसकी भावनाओं को दिखलानेवाला होता है, वही उसका साहित्य कहा जा सकता है। ऐतिहासिक ग्रंथों में साहित्य-शब्द का प्रयोग ऐसे ही अर्थ में किया जाता है। स्थूल रूप से साहित्य के दो मूल-विभाग हैं— (१) ज्ञान-प्रधान और (२) भाव-प्रधान। इन्हें (१) विज्ञानमय साहित्य और (२) आनंदमय साहित्य भी कहते हैं। विज्ञानमय साहित्य का संबंध मस्तिष्क से है, और वह आवश्यकता-वाद के सकीर्ण घेरे मे घिरा रहता है। इसके अंतर्गत दर्शन, गणित, इतिहास और अर्थ-शास्त्र आदि की गणना है। आनदमय या भावमय साहित्य का संबंध हृदय से है, और यह आवश्यकता-वाद से परे लोकोत्तर आनंदप्रदाता है। इन दोनों में अर्थात् विज्ञान और काव्य में अपेक्षाकृत काव्य प्रधान है। ज्ञान की अपेक्षा भाव के प्रधान होने के कारण ही ज्ञानियों को भी भाव की शरण लेनी पड़ती है; क्योंकि भाव के विना आत्मा आनंद-पूरित नहीं हो सकती। जिसकी प्राप्ति का उपाय ज्ञान बतलाता है, उसका अनुभव भाव-मुग्ध व्यक्ति अपने अंतर्हृदय में करता है। स्मरण रहे, विज्ञानमय कोष के भीतर ही आनंदमय कोष है। इसी से भाव-व्यंजक आनंद-मूलक साहित्य को प्रधानता दी जाती है, एव विज्ञान-मूलक दर्शन और

इतिहास आदि की गणना उसके पीछे की जाती है।

काव्यानंद ब्रह्मानंद-सहोदर है। काव्य की उपयोगिता सृष्टि में व्याप्य ब्रह्म के अनेक रूपों के साथ मनुष्य की जीवात्मा की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य स्थापित करने में है। वह हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित कर हमारे जीवन में एक नवीन स्फूर्ति डाल देता है। काव्य हमारे हृदय को विशाल बनाता है, जिससे हमें अनुभव होने लगता है कि सृष्टि की संपूर्ण वस्तुएँ हमारे ही आनंद से आनंदित हो रही हैं। पक्षी हमारे लिए ही राग अलापते हैं। सूर्य, चद्र, ग्रह और नक्षत्रादि हमारे हृदय की गति के अनुसार ही नाच रहे हैं। हमें जान पड़ता है कि यह शोभामय दृश्यमान जगत्, जिसके द्वारा हम अपने सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्षीभूत कर रहे हैं, हमसे भिन्न नहीं हैं। यदि हमसे इसका भिन्नत्व होता, तो फिर यह सागर अपनी लहरों से हमारी मन-नौका को चलायमान कैसे करता। जो लोग कविता की उपयोगिता समष्टि के साथ व्यष्टि के तादात्म्य सबंध को स्थापित करने में मानते हैं, वे बड़े ही विचारशील है। यहाँ यह ध्यान रहे कि कविता भाव-प्रधान कला है, और कला का उद्देश्य सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्षीभूत करना होता है। भाव-प्रधान काव्य-साहित्य में सबसे श्रेष्ठ भाव प्रेम भाव है। इस प्रकार सर्व-श्रेष्ठ काव्य-साहित्य वह है, जिसमें प्रेम और सौंदर्य का वर्णन रहता है। जिस साहित्य का लक्ष्य प्रेम और सौंदर्य है. वह कल्पना की मधुरिमा से संसार को रंजित कर उसमें सर्वथा अनिद्य सुषमा का मनोरम दृश्य दिखलाता है। हमारे सर्वापेक्षा महान् एवं वैज्ञानिक प्राचीन आर्य-साहित्य में रस ही को काव्य का प्राण माना है; एव यह व्यवस्था दी है कि स्थायी भाव ही आलंबन और उद्दीपन-विभाव एवं अनुभाव और सचारी भावों से पुष्ट होकर रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि करता है। रस-अगी के साथ काव्य में छद, अलकार-गुण, रीति एव व्यग्य आदि क

भी वर्णन रहता है। ये सब रस-अंगी के अंग बनकर उसके उत्कर्ष एव पूर्णत्व में सहायक होते हैं।

काव्य के महाकाव्य, खंड काव्य, नाटक, चंपू, उपन्यास और आख्यायिका आदि अनेक भेद हैं, जिनके उपभेदों का सांगोपांग विस्तृत वर्णन आर्य-साहित्य के साहित्य-रीति-ग्रंथों में प्रचुरता से प्राप्त होता है। गद्य-पद्यात्मक इन दृश्य-श्रव्य काव्य-भेदों के इन रीति-ग्रंथों में विवेचनात्मक वर्णन मिलते हैं, जिनमें शास्त्रीय वैज्ञानिक विश्लेषण का उत्कर्ष द्रष्टव्य है। इन सब काव्य-भेदों में एक भेद मुक्तक माना गया है। मुक्तक उस पद्य-छंद को कहते हैं, जिसका संबंध अगले अथवा पिछले पद्यों से नहीं रहता, और जो अपने निवद्ध विषय को स्पष्टतया पूर्णरूपेण व्यक्त करने में अकेला ही समर्थ होता है। यह सत्य है कि मुक्तक की रचना काव्य-कला-कुशलता का चरम आदर्श है। एक पूरे प्रबंध (ग्रंथ) में विस्तृत कथानक का आश्रय लेकर कवि को रस-स्थापना का जो कार्य करना पड़ता है, वही कार्य एक छोटे-से मुक्तक छंद मे कर दिखाना विलक्षण काव्य-रचना-सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है। एक छोटे-से स्वतंत्र पद्य में स्थायी भाव, आलंबन-विभाव, उद्दीपन-विभाव, अनुभाव और संचारी भावो से परिपूर्ण रस का सागर लहराना, एक संपूर्ण आख्यायिका को इने-गिने ध्वन्यात्मक शब्दों में भर दिखाना, कथन-शैली में एक निराला बाँकपन, एक निराला चमत्कार पैदा करना, उपमान-उपमेयों द्वारा भाव-साधर्म्य अथवा भाव-वैधर्म्य के अलंकारिक वेष को सजाना और सबके ऊपर देश-काल-पात्र के सर्वथा अनुकूल, स्वाभाविक, प्रवाहमयी अलंकृत और मुहावरेदार, गंभीर, अर्थमयी, नपी-तुली, भावानुकूल, प्रांजल भाषा का सहज सुकुमार प्रयोग करना सचमुच असाधारण प्रतिभा और भारी क्षमता का कार्य है। मुक्तक की रचना प्रधानतया व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य में होती है। यथार्थ में मानव-प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करना, प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं

प्रकृति की अनुभूति के साथ गहन-से-गहन निगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करना मुक्तकों की रचना का आदर्श होता है।

एक तो मुक्तक की रचना करना ही कठिन है, फिर अपनी संपूर्ण रचना केवल थोड़े-से मुक्तकों में रख जानेवाले ऐसे सिद्ध सारस्वतीक महाकवि थोड़े ही हुए हैं, जो नपे-तुले दस-पाँच शब्दों में ही मनोभावों की सजीव मूर्ति का रसमय शब्द-चित्र अंकित कर अपनी प्रखर प्रतिभा और कवि-कल्पना के बल से कुछ अनोखा प्रतीयमान सौंदर्य दिखलाकर, कला-प्रेमियों के हृदय पर अपनी छाप छोड़ सके हों। महाकवि श्रीबिहारीलालजी संसार के उन कतिपय-महान् कवीश्वरों में हैं, जिन्होंने अपनी संपूर्ण रचना मुक्तकों में ही की है। थोड़े-से ध्वन्यात्मक अर्थ-गांभीर्य-पूर्ण शब्दों में मनोरम आख्यायिकाओं को झलकाकर सजीव भाव-पूर्ण मनोहर काल्पनिक मूर्तियों को अंकित करने में बिहारीलालजी अप्रतिम हैं। अत्यंत सत्तेप में एक पूरे कथानक को कुशलता से भरकर उसमें किसी प्रधान रस को मनोरम अनुभावों द्वारा प्रवाहित करने और साथ ही अलंकार, छंद, व्यंग्य,रीति और गुणों आदि काव्यांगों का सुंदर निर्वाह करते हुए मानव-प्रकृति का निगूढ़ रहस्य प्रकट करने में बिहारीलालजी अत्यंत श्रेष्ठ हैं। व्यंग्य-प्रधान काव्य में अर्थ-सौरभ-पूर्ण अधखुली शब्द कलिकाओं के सुंदर, छोटे स्तवकों का संग्रह देखकर बिहारी-सतसई की प्रशसा ही करते बन पड़ती है।

बिहारीलालजी की काव्य-कला-कुशलता के विषय में मैं कहाँ तक लिख सकूँगा, इसका मुझे भय है। बड़े-बड़े महारथियों ने बिहारी-सतसई की टीका लिखी, पर वे भी पूर्णरूपेण प्रकाश न डाल सके। कोई भी गर्व से यह न कह सका कि मैं बिहारी सतसई के दोहों का अनूठापन पूरी तरह समझ सका हूँ। फिर मैं यह दावा किस प्रकार करूँ? परंतु प्रसंग-वश मैं भी सतसई के कुछ ऐसे दोहे दिखलाता हूँ, जिनमें उत्कृष्ट काव्य-कला-कुशलता हो।

वैसे तो बिहारी-सतसई का प्रत्येक दोहा बहुत उत्कृष्ट है, पर यहाँ मैं कुछ नमूने के तौर पर दिखलाता हूँ। देखिए—

प्रियतम ने रात्रि में अन्य नायिका से सुरति की है। उसके शरीर पर अन्य-स्त्री-संभोग-सूचक चिह्न थे। प्रौढ़ा धीरा-धीरा नायिका ने उसे देखकर कोप किया है। नायक उसे चंद्रमुखी कहकर संबोधित करता है। इसका वह कैसा मुँहतोड़ उत्तर देती है। व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य का कैसा चमत्कार है। देखिए—

(१) ससि-बदनी मोसों कहत, सो यह साँची बात ;
नैन-नलिन*ये रावरे न्याय† निरखि नै जात।

(बिहारी-सतसई)

भावार्थ—हे नायक! जो आप मुझसे शशिमुखी कहते हो, सो ठीक है। मेरा मुख सचमुच चंद्रमा है। क्योंकि यदि मेरा मुख

* नलिन का अर्थ कमल है। यह पुलिंगवाची है, देखिए—

कुमुदिन्यां नलिन्यां तु बिसिनी पद्मिनी मुखा ;
वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्।

(अमरकोष वारिवर्ग, श्लोक-सं० ३९)

† यहाँ चंद्र-चंद्रिका-न्याय से तात्पर्य है, क्योंकि कमल को संकुचित करने का गुण चंद्र में सदैव रहता है। देखिए—

जाको गुण जन्न जाहि सों कबहुँ जुदौ नहिं होय ;
भली भाँति लख लीजिए चंद्र-चंद्रिका सोय।

(काव्यप्रभाकर, पृष्ठ ६२९)

चंद्रमा न होता, तो आपके नेत्र जो कमल हैं, उसके (मुख के) सम्मुख संकुचित होकर नीचे की ओर न जाते (लज्जा से आँखें नीची न होतीं)।

जिस काव्य में रस, व्यंग्य की प्रधानता, अलंकार और माधुर्यादि गुण हों, वही काव्य आचार्यों ने श्रेष्ठतम माना है। प्रस्तुत दोहे में इन सबका समावेश विदग्धता से किया गया है। उपर्युक्त दोहे में नायिका का कोपावेश देखकर, अपराधी नायक लज्जित होकर नीचे की ओर देखने लगता है। वह नायिका के मुख की ओर देखने का साहस नहीं करता। परंतु नायिका का कोप पूर्णरूपेण प्रकट भी नहीं होता। वह कटु शब्द नहीं बोलती। बुरा-भला नहीं कहती। केवल उसकी मुखाकृति या उसके व्यंग्य-वचन बोलने से ही नायक को जान पड़ता है कि वह उससे (नायक से) कुपित हो गई है। अतएव धीराधीरा नायिका है क्योंकि—

लक्षण धीराधीर को कोप प्रकट अरु गोप।

(भाषाभूषण)

व्यंग्य-सहित होने से प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रयोजनवती के शुद्ध और गौणी दो भेदों में से शुद्ध लक्षणा है। शुद्ध लक्षणा के भी आचार्यों ने जो चार भेद माने हैं, उनमें से सारोपा लक्षणा है। प्रयोजनवती लक्षणा होने से लक्षणा-मूलक व्यंग्य है। वह भी आर्थी व्यंग्य है। ध्वनि व्यंग्यार्थ है।

दोहे में नायक-नायिका शृंगार-रस के आलंबन हैं। उद्दीपन शृंगार-रस में सर्वदा अपेक्षित नहीं है। नेत्रों का अधोमुख होना आदि अनुभाव है। नायक का नायिका के मुख की ओर देखकर लज्जित होना तथा नायिका का नायक को अपने सम्मुख देखने में असमर्थ पाकर अपने मुख को चंद्रमा और नायक के नेत्रों को कमल कहना क्रम से लज्जा और गर्व-संचारी भावों का स्पष्टीकरण करते

है। स्थायी भाव रति है। इस प्रकार स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आदि से वर्धित हुआ पूर्ण शृंगार-रस दोहे में अपनी छटा दिखा रहा है। फिर शृंगार के सहायक हास्य की भी दोहे में एक हल्की, पर सुखद झलक है। कथन का बाँकपन और भाषा का औचित्य-पूर्ण प्रयोग-साम्य होना तो सोने में सुगंध है। फिर देखिए 'शशिवदनी' के मुखचंद्र के सम्मुख 'नैन-नलिन' का 'नै' जाना परिणामालंकार को कैसा समुज्ज्वल कर रहा है। माधुर्य और प्रसाद-गुण की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

इस दोहे के भाव को लेकर बनाए हुए दो पद्य देखिए। बीर कवि लिखते हैं—

हेरति ही सौंहैं लाल जानै अरसौंहैं, तऊ
तिन्हैं ताकि काम-बान लागत अनैसे हैं;
रस-भरे, लाल तैसे, एऊ रस-भरे लाल,
भौंर ठौर देखियत तारकानि तैसे हैं।
इतनो अचंभो मोहिं आवत है 'बीर' कवि,
जानो नहीं कबतें सुभाइ गहे ऐसे हैं;
रैन रहैं खुले दिन देखि मुँदे आवत हैं,
रावरी सों रावरे कमल-नैन कैसे हैं;

बिहारीलालजी के इसी उत्कृष्ट दोहे के भाव को लेकर आधुनिक कवि मुंशी कालीचरणजी (सेवक) ने निम्न-लिखित मनोहर छंद बड़े ही अनोखे ढंग से कहा है। देखिए—

सगुन - अगुन रूप आपको बदत बेद
हिये बिन गुन माल सोहै सोई अंक है;
नैन मद-भरे कबि सेवक कहत साँच,
अट-पट बैन, चाल लटपट बंक है।

आरसी दिखाय मनमोहन को बार-बार
भामिनि यों गूढ़ बैन कहत निसंक है;
संकुचित कंज-नैन रावरे बिलोकियत,
साँची तुम कहौ मेरो आनन मयंक है।

(२) घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि पुंज,
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती - कुंज।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में वर्णित नायिका स्वयं अपना दूतत्व करती है, अतएव वह स्वयं दूतिका है। वह वचन-चातुरी से अपना मतव्य नायक पर प्रकट करती है। और उसे सहेट के योग्य स्थान बतलाती है। वह उस मनचाहे नायक पर यह भी व्यंजित कर देती है कि तुम जाकर सहेट में ठहरो, मैं तुमसे वहाँ किसी बहाने आकर मिलती हूँ। कहती है—"यमुना के तीर पर तमाल-तरु से मिले हुए एवं सुंदर भ्रमर-समूह से मढ़े हुए मालती के कुँज में घड़ी-भर ठहरकर घाम निवारण कीजिए।"

इस कथन में वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यग्यार्थ वाच्यार्थ में ही उसी प्रकार शोभा दे रहा है, जिस प्रकार देह के अतिरिक्त जीव देह में शोभा देता है। इस दोहे का प्रत्येक पद पृथक् रूप से देखिए—

(अ) 'घाम घरीक निवारिए'—इससे नायिका का यह अभिप्राय व्यंजित होता है—"हे नायक! तुम वहाँ घड़ी-भर ठहरकर मेरी बाट जोहना। मैं अवश्य आऊँगी। मेरे आने में कुछ विलंब देखकर तुम मेरे न आ सकने का संदेह करके कहीं अन्यत्र न चले जाना। वहाँ बड़ी सघन छाया है, इससे हमें वहाँ कोई न देखेगा। तुम देखोगे, वहाँ इतनी सघन छाया है कि धूप नहीं पहुँच पाती।"

(ब) 'कलित ललित अलि-पुंज'—इससे वह यह व्यंजित करती है कि वह स्थान सहेट के सर्वथा योग्य और प्राकृतिक सौंदर्य-संपन्न है,

जहाँ सुगंधित, विकसित सुमनों के पराग के लोभी भ्रमर-समूह मढ़े है। इससे यह भी तात्पर्य है कि उस मार्ग से लोगों का आवागमन भी नहीं होता, क्योंकि यदि लोगों का आवागमन उस स्थान में रहता, तो वहाँ भ्रमर-समूह का मढ़ा हुआ होना कैसे सभव था, अतः समझ लो कि प्रणयियुग्म के सम्मिलन-योग्य वह सहेट स्थान सर्वथा उपयुक्त एव रमणीय है।

(स) 'जमुना-तीर'—इससे नायिका यह व्यंजित करती है कि वह स्थान बस्ती से दूर है, और वहाँ मेरा आना जल भरने के बहाने बेखटके हो सकता है। 'जमुना-तीर' से उद्दीपनकारी, शीतल समीर होने का भी अर्थ ध्वनित होता है।

(ड) 'तमाल-तरु मिलित मालती-कुज'—इसके वह यह व्यंजित करती है कि वह स्थान उद्दीपनकारी भी यथेष्ट है। वहाँ मनुष्यों और पशु-पक्षियों की कौन कहे, तमाल-तरु और मालती-बेलि आपस में पुरुष-स्त्री-भाव से मिले हुए—लिपटे हुए—हैं।

इस दोहे में रति स्थायी भाव है, जो रसोत्पत्ति-पर्यंत अतिरस्कृत रूप से ठहरता है। वह रति स्थायी भाव नायिका के हृदय में नायक का अवलंबन करके ठहरता है। अतएव नायक उस रति स्थायी भाव का आलंबन विभाव है। नायक के सौंदर्य और गुण आदि का दर्शन उस रति स्थायी भाव के उद्दीपन विभाव हैं। उससे मिलन की अभिलाषा संचारी भाव है। सहेट में मिलने के हेतु नायिका का चातुर्य-पूर्ण कथन अनुभाव है। दोहे में स्थायी भाव रति के साथ आलंबन और उद्दीपन विभाव एवं अनुभाव और संचारी भाव का समुचित समावेश होने से शृंगार-रस का प्रस्फुटन अच्छा हुआ है। नायक उपपति और नायिका परकीया है, जो रूप, यौवन एवं विद्या-चातुर्य-संपन्ना है। नायक भी क्रिया-चतुर और वचन-विदग्ध जान पड़ता है, तभी नायिका उसे व्यंग्यार्थ द्वारा गूढ़ भाव से समझाने का साहस करती है।

इस प्रकार इस दोहे में व्यंयार्थ इष्ट होने से इसमें ध्वनि का प्राधान्य है। इस ध्वनि को केवल साहित्य-मर्मज्ञ और मनोभावों के प्रवीण वेत्ता ही जान सकते हैं, अतएव गूढ ध्वनि है। फिर भी इसमें वाच्यार्थ का संपूर्णतया परित्याग नहीं हुआ है, और व्यंग्यार्थ द्वारा एक घटना-विशेष का बोध कराया गया है, इससे यह विवक्षित वाच्यांतर्गत वस्तुध्वनि का स्वरूप है। इस दोहे में महाकवि बिहारी-लालजी ने ध्वनि को ही प्रधानता दी है, इसीलिये ध्वनि-चमत्कार इतना प्रबल है कि उसके कारण दोहे में अलंकारों की वैसी प्रमुखता नहीं रही। फिर भी इस दोहे में पर्यायोक्ति अलंकार की अच्छी छटा है। माधुर्य-गुण का प्राधान्य होने से संपूर्ण दोहे में मधुरा या कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य उत्तम काव्य माना जाता है। व्यंजक पात्र की आधार शुद्ध परकीया और उपपति माने जाते हैं, सो बिहारीलालजी के दोहे में भी व्यंजक पात्र के आधार ऐसे ही हैं। इतना सब होने पर भी भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और अर्थव्यक्त गुण के साथ-साथ अन्यर्थपदत्व का होना बड़ा ही प्रशंसनीय है।

इस दोहे में अनेक काव्य-गुण हैं, जिन्हें यहाँ विस्तार-भय से नहीं दिखला सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि दोहे में शृंगार-रस का प्रस्फुटन श्रेष्ठ कलात्मक ढंग से, समर्थ मनोहारिणी भाषा में, निराले ढंग से, हुआ है।

(३) मृग-नैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन-फूल ;
बिनहीं पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल।

(बिहारी-सतसई)

इसमें 'पलटन लगी दुकूल' से यह ध्वनित होता है कि नायिका उत्तमा स्वकीया है, उत्कृष्ट पतिव्रता और धर्मवती सती है। वह पति के विरह में मलिन वेश धारण किए हुए थी, परंतु आज पति के

आगमन की सूचना पाकर वह सुहागिनी, पति-गत-प्राणा, सती प्रियतम-विरह की अवस्था के मलिन वेष का त्याग करती है—उत्तम वस्त्रा-भूषण धारण करती है। प्रिय पति के आगमन के उल्लास से उल्लासिनी नायिका आज उसकी—अपने प्रियतम की—प्रसन्नता के हेतु सुंदर शृंगार सजती है। वह रात-दिन—तीस दिन—अपने प्राणप्यारे के आगमन की प्रतीक्षा में तन्मय रहती थी। आज बाई आँख फड़कते ही उसने जान लिया कि मंगल होगा। प्रियतम-विरहिणी प्रेमिका पतिव्रता को मगल तभी है, जब प्राण-प्यारा पति निकट हो। उसने जान लिया, उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि ये सब शुभ शकुन प्राणप्यारे के आगमन की सूचना दे रहे हैं। उमंग में भरकर, वह अपने वियोग-सूचक मलिन वस्त्रों को त्याग-कर नवीन धारण करने लगी। उसके हृदय में प्रियतम से मिलन का उछाह था और इसी से उसके शरीर में रोमांच हो आया। वह उत्कृष्ट प्रेमिका प्रेम-पात्र से मिलने के आनंदमय विचारों में ऐसी विभोर हो गई, इतनी प्रेम-विह्वला इतनी आत्मविस्मृता—हो गई कि उस ध्यान द्वारा सम्मिलन के आनंद में ही उसे सुध-बुध न रही। न्योछावर आदि व्यावहारिक कार्य करने का उसे ध्यान तक न रह गया। प्रेम की संलग्नता की इसमें चरम-सीमा है।

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी के अन्याय सैकड़ों दोहों के समान ही अलंकारों की अद्भुत छटा है। देखिए—

(१) 'मृग नैनी'—साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर अल-कार है।

(२) 'उर-उछाह'—छेकानुप्रास है, जो उकार की पुनरावृत्ति से स्पष्ट हो रहा है।

(३) 'बिनहीं पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल'—प्रियतम के आगमन-रूप आधार का अभाव रहते हुए भी आगमन पर की

जानेवाली 'शृंगार सजने की' क्रिया को नायिका करने लगती है, अतएव 'विशेषालंकार' है।

(४) 'दृग की फरक'—दृग की फरक रूप अपूर्ण हेतु से शृंगार सजने का कार्य पूर्ण हुआ, अतएव, द्वितीय विभावना अलंकार है।

(५) आगमन रूपी कारण के बिना ही शृंगारादि सजने का कार्य होने लगा, अतएव प्रथम विभावना अलंकार हुआ।

(६) दृग की फरक, उर-उछाह और तन-फूल इनका एक ही धर्म है, अतएव तुल्ययोगिता अलंकार की झलक है।

(७) दोहे में दृग की फरक, उर-उछाह और तन-फूल में मन की प्रसन्नता को प्रसन्नता देनेवाली कई बातों का एक साथ वर्णन हुआ है, इससे सहोक्ति अलंकार हुआ। क्योंकि—

जहँ मन-रंजन बरनिए एक साथ बहु बात,
सो सहोक्ति आभरण है ग्रंथन में विख्यात।

(८) दृग की फरक आदि केवल उत्पादक हेतु का वर्णन रहने और कार्य-कारण एक साथ वर्णित होने से हेतु अलंकार हुआ।

(९) दोहे में उर-उछाह, तन-फूल एवं दृग की फरक-रूप तीनों कारणों से दुकूल पलटने का कार्य होता है, अतएव द्वितीय समुच्चय अलंकार हुआ। क्योंकि—

एक काज के करन को होय जु हेतु अनेक,
ताहि समुच्चय दूसरो बरनैं कवि सविवेक।

(१०) दृग-फरक, उर-उछाह और तन-फूल में अर्थावृत्ति दीपक है।

इस प्रकार इस दोहे में १० अलकारों का समावेश होने से संकर अलंकार है। दोहे में शृंगार-रस का भी बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण वर्णन है। मृग-नैनी नायिका का आश्रय, प्रेम-पात्र नायक आलंबन और दृग की फरक आदि उद्दीपन विभाव है। सुंदर दुकूल पलटना

अनुभाव हैं। उत्कंठा, हर्ष और अवहित्थादि संचारी भाव हैं। ललित हाव का लालित्य दर्शनीय है। रति स्थायी भाव है।

इस प्रकार इस छोटे-से दोहे में शृंगार-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। आगतपतिका नायिका शृंगार-रस का सर्वस्व हो रही है। अन्यान्य काव्य-गुणों मे भी दोहा बहुत उत्कृष्ट है।

(४) सोवत, जागत, सुपन-बस, रिस, रस, चैन, कुचैन ,
सुरत श्यामघन की सुरत बिसरैं हूं बिसरै न।
(बिहारी-सतसई)

किसी व्रज-बाला पर घनश्याम के प्रेम का जादू चल गया है। वह प्रेमोन्मत्ता एक पल के लिए भी, कभी किसी दशा में भी, घनश्याम को नहीं भूलती। उसकी स्मृति घनश्याम के भावमय हो रही है। वह अनन्य प्रेमिका सोवत में 'रिस-बस', जागत में 'रस-बस' और स्वप्न में 'चैन-कुचैन-बस' है। उसे घनश्याम (श्रीकृष्ण) की स्मृति किसी भी भाँति विस्मृत नहीं होती। वह सोते में निद्रा की रिस के बस है। उसे वियोगिनी समझकर निद्रा उससे रुष्ट हो गई है। उसके नेत्रों में प्रियतम का बास देखकर अब उनमें निद्रा नही आती। प्रेमिका नायिका भला प्रेम-पात्र के विरह में सो ही कैसे सकती है ? उसे तो प्रिय-मिलन की चिंता है। और, जहाँ चिंता है, वहाँ निद्रा आती ही कहाँ है ? इसी पर एक प्रेमी सुकवि ने यह दोहा कहा है—

नींद पुरानी ग्रेहिनी राति न आई हाय !
चिंता-नव बधु देखिकै झाँकि झाँकि चलि जाय।

वह जागते में 'रस-बस' है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में प्रियतम का ध्यान करते-करते उसकी, बिहारीलालजी के शब्दों में ही, ऐसी दशा हो गई है कि 'पिय के ध्यान गही-गही रही वही है नारि ; आपु-आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।' इसी दशा में

ध्यान-तन्मयता में उसे बड़ा आनंद या रस प्राप्त होता है। स्वप्नावस्था में वही नायिका 'चैन-कुचैन-बस' हो जाती है। अर्थात् जब जागते-जागते शरीर शिथिलता का अनुभव करता है, और अर्ध-निद्रित अवस्था हो जाती है, जो जागने और सोने के मध्य की अवस्था है, तब उसे ध्यान-तन्मयता के कारण उसके प्रियतम घनश्याम श्रीकृष्ण, जिनका उसे निरंतर ध्यान रहता है, उसके पास ही बैठे दिखाई देते है। वह स्वप्न में देखती है कि मुरलीमनोहर घनश्याम उसके करतलद्वय को अपने हाथों में लिए उसके सुंदर अधरों का चुंबन कर उसकी विरह-ज्वाला शांत कर रहे हैं। तब उसे चैन है। परंतु ज्यों ही वह प्रेमावेश में अपनी कोमल, मृणाल-सी बाहुओं को प्रियतम के कंबु-कंठ में डालना चाहती है, त्यों ही वह सुभग, श्यामल मूर्ति अंतर्धान हो जाती है। स्वप्न का सुख आलसी के उत्साह के समान नष्ट हो जाता है, और उसे अपनी विरहावस्था का स्मरण हो आता है। इस प्रकार वह नायिका स्वप्नावस्था में चैन और कुचैन दोनों के 'वस' होती है। घनश्याम की सूरत का ध्यान वह भुला देना चाहती है, पर नहीं भुला सकती।

अब दोहा रूपी मंजूषा में भरे अनेक बहुमूल्य अलंकारों की छटा का भी कुछ परिचय प्राप्त कीजिए—

(१) सोवत-बस रिस, जागत-बस रिस और सुपन-बस चैन कुचैन का वर्णन क्रम से है, अतएव दोहे में उत्कृष्ट क्रमालंकार है।

(२) सोवत, जागत, रिस, रस, चैन, कुचैन और बिसरै हूँ बिसरै न में दोनों प्रकार के—आदि-अंत के—छेकानुप्रासों की छटा छहर रही है।

(३) बस, रिस, रस और सुरत, श्यामघन तथा सुरत में दोनों प्रकार के वृत्त्यानुप्रास हैं।

(४) 'सुरत श्यामघन की सुरत बिसरै हूँ बिसरै न' में स्मृति अलंकार का अच्छा प्रस्फुटन है।

(५) बिसारने की क्रिया-रूप कारण के विद्यमान रहते हुए भी विस्मृति-रूप कार्य नहीं होता, अतएव विशेषोक्ति अलंकार है।

(६) 'जागत, सोवत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में जब, जहाँ, जिस भाव में देखती है, तब, वहाँ उस भाव में नायिका को घनश्याम दिखाई देते हैं। उसके स्मृति-पटल पर घनश्याम की मूर्ति अंकित हो गई है। घनश्याम की सूरत की सुरत वह भूलती ही नहीं है। इसमें एक घनश्याम का अनेक स्थिति और स्थलों पर युक्ति से वर्णन होने के कारण तृतीय विशेषालंकार हुआ।

(७) 'जागत, सोवत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में अनेक भावों का एक साथ गुंफन होने से समुच्चय अलंकार हुआ।

(८) नायिका प्रथम सुषुप्तावस्था का आश्रय लेती है, फिर जाग्रत अवस्था का और पश्चात् शिथिलता आने पर आलस्य के कारण स्वप्नावस्था का आश्रय लेती है, और—'एक बस्तु क्रम सों जहाँ आश्रय लेय अनेक, ताहि प्रथम पर्याय कबि बरनै सहित विवेक।' इसमे प्रथम पर्याय अलंकार हुआ।

(९) 'जागत में रस-बस'—इसमें वियोगिनी को प्रियतम-विरह में, जाग्रत अवस्था में दुःख उत्पन्न न होकर ध्यानावस्थित होने से प्रियतम की एक प्रकार से प्राप्ति हो जाने का भ्रम होने के कारण रस (आनंद) का अनुभव होता है, और जहाँ 'जाको जो कारण नहीं उपजत ताते तौन' वहाँ चतुर्थ विभावना अलंकार होता है।

(१०) नायिक की विकलता आदि का वर्णन किया है, पर दोहे में स्पष्टया यह कहीं नहीं लिखा कि वह विरहिणी है, और विरहाधिक्य के कारण उसकी ऐसी व्याकुल स्थिति है, अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार हुआ।

(११) 'सोवत, जागत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' में 'बस' शब्द का प्रयोग देहरी-दीपक अलंकार का उदाहरण है।

(१२) 'सुरत स्यामघन की सुरत' में एक 'सुरत' का अर्थ सूरत या स्वरूप और दूसरे 'सुरत' शब्द का अर्थ 'ध्यान' है अतएव यमक अलंकार है।

(१३) दोहे में दंत्य अक्षरों का अधिकतर प्रयोग किया गया है। इससे छद में मधुरता आ गई है, अतएव श्रुत्यानुप्रास है।

(१४) 'सुरत स्यामघन की सुरत बिसरै हू बिसरै न' इस उत्पादक हेतु से सोवत, जागत, सुपन, रिस, रस, चैन, कुचैन हैं, अतएव हेतु अलंकार है।

(१५) घनश्याम साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर का उत्कृष्ट उदाहरण है, क्योंकि घनश्याम से सजल-जलद-छवि-रूप श्रीकृष्ण का बोध होता है, जो रस (जल) की वर्षा करते हैं।

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने विरह-व्याकुल प्रोषित-पतिका नायिका के विरह की स्मरणावस्था का बड़ा ही अनूठा वर्णन किया है। दोहे मे वियोग-शृंगार की पूर्णता दर्शनीय है। स्थायी भाव रति है, क्योंकि स्मरण होने से नायक-दर्शन की जो प्रबल आकांक्षा होती है, वह कुछ समय तक ठहरकर चली नहीं जाती, वरन् रति के स्थायित्व के कारण अविछिन्न प्रेम होने से स्थिर रहती है। घनश्याम वियोग-शृंगार के आलंबन है। प्रियतम की स्मृति उद्दीपन विभाव है। बिछुड़े हुए नायक की स्मृति होने से—'सोवत, जागत-सुपन-बस रिस-रस-चैन-कुचैन' का होना अनुभाव है सोवत (निद्रा), सुपन (स्वप्न), सुरत (स्मृति), चैन (हर्ष) एवं कुचैन (व्याधि) आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार दोहे में वियोग शृंगार की पूर्णता है। माधुर्य एवं प्रसाद-गुण के साथ भाषा और भाव के सरस प्रवाहमय वर्णन-शैली की

मनोहरता के साथ कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति का अच्छा सामंजस्य है।

(५) बाल-बेलि सूखी सुखद इहि रूखी रुख घाम ;
फेरि डहडही कीजिए सरस सींचि घनस्याम।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारी के इस दोहे में परकीया का पूर्वानुराग उद्वेग दशा में किस प्रकार झलक रहा है, यह दर्शनीय है। उसकी विरहावस्था बड़ी शोचनीय है। वह वियोग में घुल-घुलकर बिलकुल शक्ति-हीन हो गई है। केवल शक्ति-हीन ही नहीं, बिलकुल सूख जाने की स्थितिवाली बेलि के समान उसकी दशा हो गई है। यही देखकर उसकी सखी घनश्याम से नायिका की बिरह-व्याकुल-दशा का निवेदन करती हुई कैसे सुंदर, श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कर अपनी अद्भुत वाक्चतुरता का परिचय देती कहती है–"हे घनश्याम ! वह सुखद (हरी-भरी, तरोताजा, डहडही कांतिवाली) बाला-बल्ली तुम्हारी इस रुखी रुख की (दाहक) धूप से सूख गई है (सूखकर काँटा हो गई है)। अब आप तुरंत ही नेह मेह खींचकर उसे पुनः हरी-भरी कीजिए।'

इसमें घाम में सुखद बेलि का रस (जल) के सींचन के अभाव में सूख जाने का वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक है। वही सूखी-शब्द, श्लिष्ट अर्थ लेने पर, दुबली हो जाना भी बतलाता है, और प्रेमिका नायिका का विरहावस्था में सूखकर काँटा हो जाना भी बड़ा ही स्वाभाविक है। 'सरस' में 'जल' और नेह (प्रेम) का सुंदर श्लेष है। 'घनश्याम' भी श्लेष वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है। दोहे में घनश्याम से श्यामसुंदर श्रीकृष्ण और 'काले मेघ' दोनों अर्थ हैं। घनश्याम मे साभिप्राय विशेष्य होने से परिकरांकुर अलंकार भी है। क्योंकि घनश्याम से सजल-जलद-छविवाले श्रीकृष्ण का बोध होता है।

नव-यौवना बाला को सुखद बेलि और विरहावस्था में प्रेम-पात्र की रूखी रुख को घाम बनाकर महाकवि बिहारीलालजी ने बाला-रूपिणी वल्ली को कैसी विदग्धता से सुखाया है, यह दर्शनीय है। फिर उस बाला-वल्ली को सरस 'नेह-मेह' सींचकर डहडही (तरो-ताज़ा, हरी-भरी) करने की फरियाद घनश्याम (रसिक कृष्ण और सजल, श्यामल मेघ) से कितनी खूबी के साथ की गई है, यह देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।

(६) देखौ, जागति वैसिए, साँकर लगी कपाट ;
कित ह्वै आवत-जात भगि, को जानै किहि बाट ?
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी के इस स्वप्न-दर्शन के वर्णनवाले दोहे का भाव हृदय-तल को हिला देनेवाला है। इसमें जितनी तन्मयता है, उतना ही बाँकपन भी। सीधे, सहज शब्दों में ऐसा अनूठा रस इस प्रकार प्रवाहित करने में हिंदी का कोई भी कवि समर्थ नहीं हो सका। इसमें प्रेमिका नायिका को स्वप्न में नायक के दर्शन होते हैं। वह अपनी सखी से कहती है—

हे सखी, देखो, (इस एक ही शब्द में आश्चर्य का भाव कैसे विलक्षण ढंग से सन्निहित है। कहनेवाली की व्यग्रता किस प्रकार निराले ढंग से सूचित हो रही है।) 'जागत वैसिए' (किस प्रकार अपनी सफाई दे रही है। साथ-साथ इस कथन में नायिका की विरहावस्था का भी अच्छा वर्णन है। कहती है—'मैं वियोग में वैसे ही जागती रहती हूँ।) 'साँकर लगी कपाट' (किवाड़ों में साँकल लगी ही है, जिससे जब तक हम किवाड़ न खोलें, तब तक कोई भी यहाँ—इस स्थान में—आ ही नहीं सकता)। परंतु फिर भी वह प्यारा कौन जाने 'कित ह्वै आवत' (कहाँ से आ जाता है) और फिर किस (बाट) रास्ते से भाग जाता है।

इस संपूर्ण दोहे में प्रम की तन्मयता का अच्छा खेल दिखलाया गया है। जिस समय अर्ध-निद्रावस्था—स्वप्नावस्था—में नायिका नायक के ध्यान में तन्मय होती है, उस समय नायक उसके नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। परंतु जैसे ही वह उसे छूने या पकड़ने की चेष्टा करती है, वैसे ही वह देखती है कि वहाँ कोई भी—कुछ भी—नहीं है। ध्यान की तन्मयता फिर होती है, और फिर वही प्रियतम नेत्रों के सम्मुख आ जाता है। पर स्पर्श-सुख के लिये उसकी ओर झपटने पर वहाँ कुछ भी नहीं मिलता। नायिका विक्षिप्त के समान उस ध्यान की मूर्ति को हृदय से लगाने के हेतु पलँग से उठकर उसकी ओर दौड़ती है, पर वह प्रेम-पात्र की मूर्ति अंतर्धान हो जाती है। तब वह किवाड़ों की ओर देखती है, पर उन्हें पहले के ही समान बंद पाती है। फिर मुँह फेरती है, तो वही प्रियतम की मोहिनी मूर्ति सम्मुख उपस्थित हो जाती है। जब वह पुनः उसकी ओर झपटती है, तब वह मूर्ति पुनः अंतर्धान हो जाती है। नायिका किवाड़ों की ओर फिर देखती है, और उन्हें पूर्ववत् बंद पाती है। इस क्रीड़ा से जब वह घबरा-सी जाती है, तब पास में पड़ी हुई सखी से कहती है—"देखो, मैं जाग रही हूँ। किवाड़ों में वैसी ही साँकल लगी हुई है। कौन जाने मेरा वह प्रेम-पात्र यहाँ किस मार्ग से आ जाता है, और किस मार्ग से भाग जाता है।" इसमें कितना सुंदर कल्पनामय सजीव शब्द-चित्र है?

(७) लग्यो सुमन ह्वै है सुफल, आतप-रोस निवारि ;
बारी, बारी आपुनी, सींचि सुहृदता-बारि।
(बिहारी-सतसई)

तरुणी नायिका के घर नायक के आने की बारी (पारी) है। नायिका यद्यपि नायक पर अनुरक्त है, पर उसके आने में विलंब होने के कारण वह कुपित होकर उद्यान में जो बहलाने के निमित्त

चली आई है। वहाँ उद्यान में माली तथा उस नायिका की बहि-रंगिणी सखियाँ उपस्थित हैं। नायक के पास से उसकी अंतरंगिणी सखी वहीं आई है, और निम्न-लिखित वचन-चातुरी-पूर्ण बात कहती है। इसमें एक अर्थ तो माली पर लागू होता है, और दूसरा मुख्य अर्थ नायिका पर। सखी कहती है—

(१) माली के प्रति—हे (बारी) माली! तेरी वाटिका में लगा हुआ यह सुमन (फूल) फल-युत (सफल) होगा। अतएव तू अपनी बगीची को सुहृदयता के जल से (ऐसे जल से जो सुहृद्वत् लाभ-दायक सिद्ध हो) सींच, और आतप (घाम) के रोष अर्थात् प्रचंड ताप को निवारण कर, आतप के प्रकोप से इसे बचाए रख।

(२) नायिका के प्रति हे भोली कमसिन! अयि मुग्धे! जो तेरे मन में लगा है, सो सफल होगा, अर्थात् तेरा अभीष्ट सफल होगा। मेरी रानी! तू अपने इस दाह के रोष को दूर कर। तू अपनी पारी में नायक के प्रति क्रोध प्रदर्शित न कर। क्योंकि इससे उसे दुःख होगा, और फिर तेरे यहाँ आने से विरक्ति-सी होने लगेगी। तू तो अपनी पारी में नायक के प्रेम-प्यासे हृदय को अपनी मैत्री के जल से सींचकर हरा-भरा रख।

मर्मज्ञ देखें कि इस पद्य में समर्थ महाकवि बिहारीलालजी ने अंतरंगिणी सखी द्वारा नायिका की अभीष्ट गुप्त बात किस विलक्षण चतुराई से माली की ओट में बहिरंगिणी सखियों और माली के सामने खुले खजाने कहलवा दी है। महाकवि के इस दोहे में मानवती नायिका के प्रति अंतरंगिणी सखी की मान-मोचन एवं मैत्री-प्रदर्शन की शिक्षा के साथ-साथ श्लेष अलंकार का कैसा अद्भुत सामंजस्य है।

किसी प्रोषितपतिका नायिका को वियोग में जगत् अंधकारमय दिखलाई देता है, उसे चाँदनी भी अंधकार का ही रूपांतर प्रतीत होती है। वह अपनी सखी से चाँदनी के विषय में कहती है—

(८) जोन्ह नहीं यह तम वहै, कियो जु जगत निकेत ;
होत उदै ससि के भयो मानो ससिहर सेत।
(बिहारी-सतसई)

"यह चाँदनी नहीं है। यह तो वही अंधकार है, जिसने संसार को अपना घर कर रक्खा है। जान पड़ता है, मानो चंद्रमा के उदय होने से वही अंधकार हटकर सफेद हो गया है।"

इसमें विरह-दशा में दाहक चाँदनी को विरहिणी का अंधकार समझना एवं प्रियतम के विरह में हर्षालोक के अभाव में उसे सारे संसार में अंधकार का प्रसार दिखाई पड़ना बड़े ही सच्चे वर्णन है। चाँदनी को अंधकार कहकर दोहे में जो यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उदय को प्राप्त हुए अपने सबल शत्रु चद्रमा को देखकर डर से वही अंधकार श्वेत वर्ण का हो गया है, इसमें निराली कल्पना का सौंदर्य आ गया है।

अब देखिए, सजल, श्यामल मेघों पर नीले, पीले, लाल और हरे रंग के इंद्र-धनुष का अनुपम और चमत्कार-पूर्ण दृश्य प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी अपनी अनुपम सूक्ष्म दृष्टि से घनश्याम श्रीकृष्ण की हरे रंग की बाँसुरी में किस प्रकार दिखलाते हैं। हरे रंग की बाँसुरी, उस पर ओठों की लालिमा, दंतावली की सफेदी, पीतांबर का पीतवर्ण, नेत्रों की सफेदी, कालिमा और अरुणिमा, इंद्र-नीलमणि के वर्णवाले श्यामसुंदर के कपोलों और करों की नीलिमा आदि का आरोप इस वर्णन में बड़ी खूबी से हुआ है। इस प्रकार से इंद्र-धनुष के विविध रंगों का सम्मिश्रण श्यामसुंदर के अधरों पर रक्खी बाँसुरी में कर दिखलाना अपूर्व प्रतिभा-संपन्न महाकवि बिहारीलालजी का ही काम है। लिखते हैं—

(९) अधर धरत हरि के परत ओंठ-दीठ-पट-जोति ;
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र-धनुष-रँग होति।
(बिहारी-सतसई)

संपूर्ण हिंदी-साहित्य में इस दोहे की जोड़ का छंद ढूँढ़ निकालना कठिन है। हरि, हरित, अधर, धरत, परत, बाँस, बासुरी, जोति, होति आदि में जो शब्द-चमत्कार है, वह भला किस साहित्य-प्रेमी और कवि की बुद्धि को विमोहित न कर देगा। बड़े-बड़े धुरंधर "कवयोऽप्यत्रमोहिताः।" तद्गुणालंकार का यह दोहा अनुपम उदाहरण है।

अब एक रूपगर्विता कृष्णाभिसारिका परकीया का वर्णन देखिए। यह अपनी अंतरंगिणी सखी से गई रात्रि के अभिसार का हाल सुनाती हुई कहती है—

(१०) अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि ;
संग लगे मधुपन लई भागनु गली अँधेरि।
(बिहारी-सतसई)

"हे अलि ! अर्ध मार्ग में चंद्रोदय देखकर मुझे अत्यंत (खरी) घबराहट हुई। परंतु भाग्य से (भागनु) मेरे शरीर की सुगंधि के कारण मेरे साथ लगे हुए भ्रमरों ने मार्ग को अंधकार-पूर्ण बना दिया।"

इसमें चंद्रोदय से घबराने से जान पड़ता है कि नायिका कृष्णाभिसारिका परकीया 'संग लगे मधुपन लई भागनु गली अँधेरि' से भी परकीयात्व की पुष्टि होती है। दोहे में 'संग लगे मधुपन' से नायिका का पद्मिनी होना पाया जाता है। इस वर्णन में समर्थ महाकवि ने भौंरों को किस प्रकार पद्मिनी नायिका के पीछे, उसके शरीर की सुगंध के लोभ से, दौड़ाया है। फिर आधे मार्ग में चंद्रोदय होना भी किस अनोखे ढंग से लिखकर नायिका को चौंका दिया है। परंतु फिर शीघ्र ही नायिका के चकित होकर, घबराकर खड़े हो जाने से पीछे लगे सुगंध-लोभी भ्रमरों के पास आ जाने पर अंधकार कराके उसकी घबराहट मिटाई है। यह सब कौशल दर्शनीय है। कृष्णपक्ष की रात्रि में भी पिछले प्रहरों में चंद्र का

उदय होता है, यह प्रकृति-निरीक्षक विहारीलालजी ने कैसे अनोखे ढंग से वर्णन किया है।

इस दोहे में श्रृंगार-रस का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। नायिका पद्मिनी नागरी है। रात्रि का अभिसार विशेषकर कुंजादि में जाना ग्रामीणता-सूचक कहा जा सकता है, पर काम की प्रबलता का वर्णन न होने से नागरत्व ही ठहरता है। पद्मिनी नायिका श्रृंगार-रस का आलंबन है। भ्रमर-गुंजार एवं अंधकार उद्दीपन विभाव हैं। अँधेरी रात्रि में अभिसार करना अनुभाव है। सटपटाने में शंका एवं त्रास संचारी भाव है, रति स्थायी भाव है ही। इस प्रकार दोहे में रति स्थायी भाव आलंबन और उद्दीपन विभाव अनुभाव एव संचारी भाव से परिपुष्ट होकर पूर्ण श्रृंगार-रस की दसा का प्राप्त है। दोहे में नायिका का कृष्णाभिसारिका, पद्मिनी और परकीया होना व्यंग्य ही से जाना जाता है। अतएव यह दोहा व्यंग्य-प्रधान काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है, और व्यंग्य काव्य का जीव माना जाता है, इसलिये यह रचना श्रेष्ठतम है।

भाषा-सौंदर्य की भी दोहे में अनुपम छटा है। एक भी शब्द व्यर्थ या भरती का नहीं है। अन्वय देखिए—"अरी! आधे मग विधु हेरि खरी सटपट परी। भागनु संग लगे मधुपन गली अँधेरि लई।"

इसमें प्रसाद-गुण की मात्रा यथेष्ट है। दोहे में माधुर्य तो ओत-प्रोत है, भाषा में छेक और वृत्त्यानुप्रास की छटा के साथ अर्थव्यक्त-गुण का अद्भुत मेल है।

इस दोहे में अलकारोंका भी अच्छा समावेश है। अर्थालंकार के बिना तो भारती विधवा के समान जानी जाती है। देखिए—

(१) 'संग लगे मधुपन' ने 'भागनु, (भाग्यवशात्) 'गली अँधेरि लई'। इसमें आकस्मिक कारणांतर के योग से कार्य सुगम' हुआ, अतएव समाधि अलंकार है।

(२) 'प्रतिबंधक के होत हू होय काज जेहि ठौर'—वहाँ तृतीय

विभावना अलंकार होता है। इस दोहे में भी चंद्रोदय-रूप प्रतिबंधक के रहते हुए भी अभिसार का कार्य हुआ है, अतएव यहाँ तृतीय विभावना अलंकार हुआ।

(३) 'वस्तु बिनासे हू बहुरि तरह पीछली होय'—वहाँ द्वितीय पूर्वरूप अलंकार होता। नायिका का अंधकार में जाना, मार्ग में चंद्रोदय से उस अंधकार का नष्ट हो जाना एवं भ्रमरों के द्वारा फिर उस अंधकार का वैसा ही हो जाना दोहे में वर्णित हुआ है, अतएव पूर्वरूप अलंकार हुआ।

(४) 'जतन बिना ही होत है जहँ चित-चाही बात'—वहाँ प्रथम प्रहर्षण अलंकार होता है। यहाँ यत्न न करने पर भी भ्रमरों ने गली को अंधकारमय बना दिया, जो नायिका को अभीष्ट था, अतएव प्रथम प्रहर्षण अलंकार हुआ।

(५) चंद्र-ज्योत्स्ना का गुण नायिका के परकीया होने के कारण अभिसार में दोष हुआ, अतएव प्रथम व्याघात अलंकार हुआ।

बिहारीलालजी के इस दोहे में मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' में अवज्ञा अलंकार माना है। लिखा है—"चांद्र दोष द्वारा दोष न लगने से अवज्ञा अलंकार आया (पृष्ठ ४५)।" मेरी समझ में यह इन महाशयों की भूल है। यदि चांद्र दोष से दोष न लगता, तो फिर बिहारीलालजी को—'अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि' लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। जान पड़ता है, इन्होंने दोहे का पूर्ण अर्थ समझे बिना अलंकार का नाम लिख दिया है। कुवलयानंदकार ने अवज्ञा के लक्षण को उल्लास के लक्षण के बाद लिखते हुए कहा है—

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि।

अर्थात् "जहाँ एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष हो, वहाँ उल्लास अलंकार है।" फिर अवज्ञा के विषय में लिखा है—

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा।

अर्थात् "अन्य के गुण-दोष से जो अन्य को गुण-दोष न हो" वह अवज्ञा है। पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने भी 'रसगंगाधर' में उल्लास का लक्षण लिखने के बाद अवज्ञा के विषय में लिखा है—'तद्विपर्यऽवज्ञा' अर्थात् "उल्लास के विपर्यय में अवज्ञा अलंकार है।" जैसे—

करि वेदांत विचार हू शठहिं बिराग न होय।

अथवा—

'तुलसी' दोष न जलद को, जो जल जरै जवास।

परंतु बिहारीलालजी के दोहे में अभिसारिका नायिका को चांद्र दोष से दोष लगा है, जो उसके 'खरी सटपट परी' कथन से स्पष्ट है।

इस प्रकार कहाँ तक दिखलावें, संपूर्ण सतसई ही काव्य-कला की चरम सीमा के उदाहरण में पेश की जा सकती है। इन दस दोहो में ही पाठकों ने देखा होगा कि काव्य-कला-कुशलता की दृष्टि से महाकवि बिहारीलालजी अद्वितीय ही है। इस महाकवि का काव्य-कौशल ऐसा अनुपम है कि उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। धन्य बिहारीलालजी और धन्य उनका अप्रतिम काव्य-कौशल।

प्रेम-वर्णन

गिरि तैं ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार ;
वहै सदा पसु नरन को प्रेम-पयोधि पगार ।

(बिहारी-सतसई)

प्रेम-तत्त्व का निरूपण करना टेढ़ी खीर है। संसार की किसी भी भाषा में प्रेम की पूरी परिभाषा नहीं मिलती। विश्व के संपूर्ण महानुभाव प्रेम की प्रशंसा के गीत गाते आए है। यह निर्विवाद है कि प्रेम रागात्मक मनोविकार है। मेरा अपना मत तो यह है कि चित्त की हर्ष से भरी हुई अत्यत आसक्ति ही प्रेम है। मनोराज्य के अधिपति कलाविद् कवीश्वरों ने मानसिक जगत का रहस्य अनेक रूपों में प्रकट कर उसकी गूढ़ पहेलियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। इन सभी ने संपूर्ण मनोवृत्तियों पर प्रेम-वृत्ति को ही प्रधानता दी है। संसार के अणु-अणु में व्याप्त प्रेम-रस की अमृतमयी अविरल धारा बहाना ही विश्व के महान् कवीश्वरों का एकमात्र उद्देश्य रहा है। प्रेम के विभिन्न रूपों का मनोरम, श्लाघ्य वर्णन ही श्रेष्ठतम काव्यों में पाया जाता है। महाकवि (Baily) बेली ने ठीक ही कहा है—

Poets are all who love, who feel great truths ;
And tell them, and the truth of truth is love."

अर्थात् "वे सब कवि हैं, जो प्रेम करते हैं, जो महान् सत्यों की हृदय में अनुभूति करते और उन्हें प्रकट करते है। वह सत्य का सत्य (परम सत्य) है प्रेम।"

इनमें भी शृंगारी कवि पर प्रेम-वर्णन की बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है। क्योंकि शृंगार प्रेममय है। शृंगार में यथार्थ प्रेम-

वर्णन ही होता। प्रेम तत्त्व की अनुभूत अभिव्यंजना ही शृंगार-रस की जान है। इसमें स्थूल, संभोग और बाह्य सौंदर्य का वर्णन उपकरण भले ही हो, परंतु प्रधानता प्रेम-भाव की सहज सुकुमार, आनंदमयी, हर्षातिरेकपूर्ण अभिव्यंजना ही की होनी चाहिए, ऐसा न हो कि स्थूल संभोग की काली मेघ-घटा में प्रेम-चंद्र ढँक जाय; और हमें उसकी उस हर्ष-चाँदनी के सुखद प्रकाश की एक धुँधली-सी किरण भी प्राप्त न हो, जिससे हृदय प्रफुल्लित होता है।

महाकवि श्री बिहारीलाल जी हिंदी-भाषा के सर्वश्रेष्ट शृंगारी कवि है। आर्य-साहित्य में द्विविध शृंगार है—(१) मानुषीय शृंगार और (२) भक्ति-शृंगार। मानुषीय शृंगार में मानवीय प्रेम का वर्णन है, और भक्ति-शृंगार में ईश्वरीय प्रेम का। सतसई में इस द्विविध प्रेम का उदात्त और प्रकृष्ट वर्णन है। सतसई में मानुषीय शृंगार-रस-पूर्ण रचना में महाकवि बिहारी-लालजी का प्रधान लक्ष्य प्रेम-भाव के विभिन्न रूपों का वर्णन और नूतन सौंदर्य की सृष्टि रहा है। ऐसी रचनाओं में भी सृजन-शक्ति के साथ काव्य-कला का नैपुण्य बड़ा ही हृदयहारी है। इसमें उदात्त प्रेम-भाव के विभिन्न रूपों के विन्यास में कवि-कल्पना का उच्च कोटि का विकास देखकर स्तंभित होना पड़ता है। संकोच और लज्जा, अनुराग और विलास एवं गूढ़ व्यथा और अभिमान आदि को व्यक्त कर कवि-कल्पना द्वारा अमूर्त भाव को प्रत्यक्ष मूर्ति देने और केवल इने-गिने शब्दों के मनोरम विन्यास द्वारा पाठकों के अंतस्तल में एक अपूर्व भाव उदित करने में महाकवि बिहारीलालजी की रचना अप्रतिम है। इसी से वह परम प्रशंसनीय हैं। बिहारीलालजी ने प्रेम की सभी अवस्थाओं का वर्णन किया है, और जीवन के अंतस्तल में प्रविष्ट होकर एक निराले सौदर्य की सृष्टि की है। इस प्रकार के वर्णनों में यद्यपि

कल्पना, आवेश और विलास पाया जाता है, तो भी प्रेम-भाव की ऐसी सत्य और सुखद अभिव्यंजना है, जिससे हृत्तंत्री के तार झन-झना उठते है।

भक्ति-श्रृंगार में भक्त आत्मा भगवान् में कांत अर्थात् पति-भाव से भक्ति करती है, और अपना सर्वस्व—लोक और परलोक—भगवान् के श्री-चरणों में समर्पित करती है। इस प्रकार की भक्ति श्रीभागवत धर्म या वैष्णव-धर्म के प्रेम-मूलक भक्ति-मार्गी महान भक्तों ने की है। इसमें अशेष सौंदर्य-निधि, प्रेम-मूर्ति भगवान से मिलन ी तीव्रतम आकांचा होने पर प्रियतम भगवान से भावना-रूप से तदाकारता प्राप्त हो जाती है। भगवान् में यह भाव-भक्ति की तल्लीनता में उस समय होता है, जब भक्त जीवात्मा को वह दृढ अनुभवात्मक ज्ञान हो जाता है कि भोक्ता तो केवल भगवान है, और संपुर्ण चराचर भोग्य है। जब तक अपने आपमें भोग्य दृष्टि भलीभाँति न हो जाय, तब तक भगवान में भोक्ता की दृष्टि असंभव है। ऐसी भक्ति में भक्त जीवात्मा का ध्येय संभोग होता है। वह चिर-सभोग की लालसा से प्रेम-मार्ग में अवतीर्ण होता है, इस दशा में उसके रसिक हृदय में प्रेम-रस-पूर्ण जो मधुर तरंगे उठती हैं, उनमें सभोग की लालसा रहती है। एक क्षण के लिये भी द्वैत का भाव – विलग रहने का भाव—उसे असह्य हो उठता है। उसके संपूर्ण मनोविकारों में संभोग की आशा एवं विप्रलंभ की कसक ओत-प्रोत रहती है। विप्रलंभ की कसक को अनुभूति का वर्णन करता हुआ वह संभोग की लालसा से अग्रसर होता है। उसे रात-दित उसी प्रियतम का ध्यान रहता है। इस प्रकार की भक्ति श्रीकृष्ण-भक्ति के विभिन्न संप्रदायों, रहस्यवादियों के विभिन्न पंथों में एवं सूफी-मत के अनुयायियों में प्रचुरता से पाई जातीहै। इन सबको अपेक्षा श्री ागवत धर्मांतर्गत श्रीकृष्ण-भक्ति के संप्रदायों में इस प्रेम-मूलक भक्ति का चरम उत्कर्ष है। प्रेम-तत्त्व

की जैसी उदात्त अभिव्यंजना वैष्णव कवियों में पाई जाती है, वैसी संसार-साहित्य में सर्वथा दुर्लभ है। विस्तार-भय से यहाँ उसका निरूपण और दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता। हो सका, तो मैं शीघ्र ही अपने किसी दूसरे ग्रंथ में इसका सविस्तर वर्णन उपस्थित करूँगा।

हम बिहारीलालजी के परिचय में लिख आए हैं कि वह श्रीस्वामी हरिदास की श्रीकृष्ण-भक्ति के अनन्य संप्रदाय के वैष्णव थे। इसी से इष्ट-धर्मी श्री बिहारीलालजी ने सतसई के मंगलाचरण में ही श्रीराधिकाजी की स्तुति की है। इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत का यहाँ उल्लेख दुस्साध्य है, अतएव मैं यहाँ इस संप्रदाय के एक मुसलमान-वैष्णव कवि की रचना का कुछ अंश उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ। इसी से इस संप्रदाय के सिद्धांत का बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जायगा, और साथ ही यह भी स्पष्टतया विदित हो जायगा कि इस संप्रदाय के हिंदू-वैष्णव तो ठीक ही, मुसलमान-वैष्णव भी इसके सिद्धांतों से किस प्रकार परिचित थे। देखिए इस संप्रदाय के अनुयायी मुसलमान सज्जन परम वैष्णव रस-रंगजी लिखते हैं—

चौदह तबक हैं या विराट में, तामें तीनो देवा ;
जेते जीव जहान तिते सब करत इन्हीं की सेवा।
ता आगे सुख और बताऊँ जहाँ मियाँ का डेरा ;
आलमीन अल्लह जहँ बैठा सबका करै निबेरा।
ता आगे सुख और बताऊँ जहाँ रमापति राजै ;
बेद कितेब कहैं ह्याँ ही लौं जागे फिर जिय लाजै।
ताके आगे ज्योति निरंजन इन सब ही को मूल ;
सप्त शून्य फिर और बताऊँ मेटौं सबको शूल।

ऊपर अक्षर ब्रह्म अपारा जाकर सकल पसारा ;
सो तो है आभास धाम का जानत जाननहारा ।
सो तो है गोलोक, अनेकन राम-कृष्ण जहँ दोई ;
करि सतसंग जाय कोउ बिरला बड़ी पहुँच जो होई ।
क्षर-अक्षर निःअक्षर छाँड़ै तजै अक्षरातीत ;
आगे हंस हिडंवर बैठ्यो सत्त सुकृत को जीत ।
ताके आगे और पुरुष है गहे आपनी टेक ;
इन सबहिन को करै सकेला रहे अकेला एक ।
हद बेहद बेहद के आगे एतौ सब कहि आए ;
कोटिन ब्रह्म प्रेम कोटिन पर जहँ कोउ गए न आए ।
ताके आगे रास-बिलासी रूप-रंग अनियारा ;
रहै पास नाइब नहिं जानैं यह तो अचरज भारा ।
ह्वाँ तो देखौ रूप सुभानी ह्वाँ तो अजब तमासा ;
सखी-समूह रहैं बीचहि में जाय न कोऊ पासा ।
सो तो निधिवन राज बिराजै रंगमहल ता माहीं ;
श्रीस्वामी हरिदास बतायो कोऊ पहुँचत नाहीं ।
साँची शरण लेय स्वामी की सो तो पहुँच न पावै ;
नातरु रहै बीच हीं हिलग्यो कोटि कल्प नहिं जावै ।

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी श्रीस्वामी हरिदास के संप्रदाय के महंत श्रीनरहरिदासजी के शिष्य और माधुर्यरस-पूर्ण सखी-भाव की भक्तिवाले श्रीराधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे। उनकी सतसई में इस प्रेम के वर्णन भी भरे पड़े हैं। सतसई के अधिकांश दोहों में इसी दिव्य ईश्वरीय प्रेम का वर्णन है। इस प्रकार के वर्णनों

में ब्रह्मानंद के प्रति तीव्र संवेग की स्पष्टता और कर्म-ज्ञान एवं उपासना का श्रीकृष्ण-भक्ति में अद्भुत, अभिन्न सामंजस्य है। हमारे अनेक विद्वान आलोचकों ने इस रहस्यमय वर्णन को समझने में भूल की है। इसका कारण यह है कि इनके रचयिता परम वैष्णव भक्त कवि लोक-परलोक से परे केवल प्रेमानंद का वर्णन करने में तल्लीन रहते हैं। उन्हें लोक-रक्षा, लौकिक मर्यादा से कोई संबंध ही नहीं रहा। उनका वर्णनीय कृष्ण-गोपी-प्रेम भक्त के भावना-लोक का वर्णन है। उसमें लौकिकता की गुंजाइश नहीं है। इनका एकांत उद्देश्य परब्रह्म श्रीकृष्ण और व्रजगोपियों विशेषकर ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति श्रीराधिका को लेकर प्रेम-तत्त्व की विस्तृत अभिव्यंजना-मात्र है। इन रचनाओं में श्रीकृष्ण के लोक-पक्ष का समावेश नहीं है। यथार्थ में ऐसे वर्णनों में तो माधुर्य-पूर्ण प्रेम-भक्ति का ही वर्णन रहता है।

ध्यान रहे, आर्य-साहित्य में भक्ति के प्रधान आचार्य देवर्षि नारद ने प्रेम-मूलक चूड़ांत भक्ति का आदर्श व्रजगोपियों ही को ठहराया है। लिखा है—"यथा व्रजगोपिकानाम्"। परमहंस श्रीशुकदेवजी का मत है—

नेयं विरञ्चो न भवो न श्रीरप्यंगसंश्रया ;
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्।

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् "विमुक्ति देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण से जिस कृपा (प्रसाद) को गोपियों ने प्राप्त किया था, उसे न ब्रह्मा, न शंकर और न उन हरि के वामांग में निरंतर वास करनेवाली लक्ष्मी ही प्राप्त कर सकीं।"

भक्ति-शास्त्र के अनुसार ये ही व्रज-गोपिकाएँ भक्ति का चूड़ांत आदर्श हैं। और, इनमें भी राधिका का प्रेम तो इस मधुर गोपी-

प्रेम का चूड़ांत निदर्शन है। इनकी चरण-रज को प्राप्त करने के हेतु ब्रह्मादिक देवता भी लालायित रहते हैं। भक्ति के चरम आदर्श गोपी-प्रेम को समझने के लिये इस अशुद्ध एवं अन्नमय देह और इंद्रियों तथा वासनामय अंत करण को विकसित करना पड़ेगा। इनके बहुत ऊपर उठकर शुद्ध भाव से भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के हेतु संपूर्णतया आनंद-घन भगवान की शरण लेनी पड़ेगी। इस प्रकार जब विशुद्ध अंतःकरण में प्रेममय इंद्रियाँ और शरीर नूतन उत्पन्न हों, और प्रेममय जगत् में विहरण करें, तब कहीं गोपियों के विशुद्ध प्रेम को समझने की सामर्थ्य हो सकती है। गोपियों के प्रेम में लौकिकता के साथ अलौकिक भक्ति का अद्भुत अभिन्न सामंजस्य है। उनकी उद्दाम चित्त-वृत्ति में प्रेम-भक्ति और वासना का संगम हुआ है। कांत-भाव की भक्ति करनेवाली गोपिकाओं के मनोभावों मे इन तीनो की प्रधानता है, इसी से वे कृष्ण लीलामयी और कृष्ण-विलासिनी थीं। उनके श्रीकृष्ण अनादि, अनत, सर्वा तर्यामी एवं सृष्टिकर्ता, पालक एवं संहारक होते हुए भी उनके लिये यशोदा के पुत्र, ग्वालों के सखा और गोपी-जन-वल्लभ हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण में मनुष्यत्व और देवत्व को पृथक करके नहीं देखा है। वृंदावन के गोपीजन-प्रिय श्रीकृष्ण के अलौकिक में लौकिक जिस मधुर रूप को लेकर इस प्रकार की भक्ति-शृंगारमयी रचनाएँ की गई हैं, उनमें हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है। इसमें लोक-पक्ष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा है, और उस सौंदर्य और प्रेम के निधान सच्चिदानंद के आगे प्रायः शील और संकोच को न्योछावर कर दिया है। इसी से महान् आध्यात्मिक भावना से परिपूर्ण भक्ति-शृंगार की शाखा के भक्त कवीश्वरों ने अपने भगवत्-प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक,

स्थूल दृष्टि रखनेवाले जीवों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। इसी से मलिन-हृदय, विषयांध लोगों ने इस रचना में विषय की प्रधानता समझने का भ्रम किया है। महान् भक्त वैष्णव कवि भगवत्-रसिक, जो बिहारीलालजी के समान ही श्रीस्वामी हरिदास के संप्रदाय के अनन्य वैष्णव थे, इसी को लक्ष्य कर लिखते है—

यह रस-रीति प्रिया - प्रियतम की, दिव्य दृष्टि जल जैसे री,
विषयी, ज्ञानी, भक्त, उपासक, प्राप्त सबनको तैसे री।
कदली - खंभ, पपीहा, सीपी, स्वाति-बूँद जल जैसे री,
'भगवत' कछू विषमता नाहीं भूमि भाग्य फल तसे री।

इस प्रकार की रचना में माखन-चोरी, दान-लीला, चीर-हरण, रास, होरी, मान एवं विरह और उद्धव-गोपी-संवाद के वर्णन प्रमुख हैं। इसमें व्रज-गोपियों विशेषकर श्री राधा को प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार विभिन्न नायिकाओं के रूप में चित्रित किया है। विहारी-सतसई में श्रीराधा-कृष्ण के इसी अलौकिक में लौकिक प्रेम के चित्र अधिकता से अंकित है, जिनमें परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरित्र द्वारा मानव-जीवन के प्रेममय संपूर्ण भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इसी संप्रदाय के सिद्धांतानुसार परब्रह्म में तल्लीन होने के पूर्व भक्त जीवात्मा को परकीया दशा मानकर विहारीलालजी ने परकीया का उत्तम वर्णन किया है। इसमें आचार्यों ने सर्वोत्कृष्ट प्रेम सिद्ध किया है, और 'रसस्तु परकीया, की घोषणा की है।

इस द्विविध प्रेम के वर्णन में महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने उत्कृष्ट प्रेम-भाव की अनोखी अवस्थाओं के साथ जिस उत्कृष्ट काव्य-कला का अद्भुत सामंजस्य दिखलाया है, वह अप्रतिम ही है।

(१) रति स्थायी भाववाले शृंगार को साहित्याचार्यों ने दो

भागों में विभक्त किया है। प्रथम संयोग-शृंगार और द्वितीय वियोग शृंगार। रति में संयोग-काल के अविच्छिन्न में प्रथम अर्थात संयोग-शृंगार है। परंतु संयोग केवल दंपति के सामान्याधिकरण्य मे या एक शय्या पर शयन करने में ही नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था मे भी मान के समय संयोग न होकर वियोग-शृंगार ही होगा। इसी प्रकार वियोग-काल के अविच्छिन्नत्व में वियोग-शृंगार है, परंतु उपर्युक्त कारण से वियोग भी केवल विदेश-गमन में न होकर मिलन में भी हो सकता है।

यथार्थ में संयोग या वियोग-शृंगार चित्त की वृत्ति पर ही निर्भर है। मान को वियोग-शृंगार के अंतर्गत मानने का भी प्राचीन आर्य-साहित्य के आचार्यों ने यही कारण निर्देश किया है। विरह मे संयोग-शृंगार मानने से अनेक लोगों को आश्चर्य हो सकता है, पर इसमें शंका करने की कोई बात नहीं। जिस प्रकार संयोग-काल में मान वियोग-शृंगार माना जाता है, उसी प्रकार विरह में मन-संभोग में संयोग-शृंगार मानना पड़ेगा। विरह में संयोग-शृंगार प्रेम की अथवा लगन की पूर्णता में ही संभव है। इसका वर्णन भाषाओं के भाल की बिंदी हिंदी के शृंगारी कवियों के मौलि-मुकुटमणि महाकवि बिहारीलालजी ने बड़ा ही अपूर्व किया है। लिखते हैं—

ध्यान आनि ढिग प्रानपति, मुदित रहति दिन-राति ;
पल कंपति, पुलकति पलक, पलक पसीजति जाति।

उत्तमा पतिव्रता प्रेमिका अपने प्राणपति को ध्यान के द्वारा अपने निकट बुला लेती है। ध्यान करने से उसके प्रियतम की मूर्ति उसके सम्मुख उपस्थित हो जाती है, ध्यान द्वारा निकट बुलाई हुई प्रियत्तम की उस मूर्ति के दर्शन से उसे सात्त्विक, कायिक अनुभाव होते है। वह क्षण-क्षण में पुलकती और पसीजती है, एवं

क्षण-क्षण में उसे कंप भी होता है। जिसे मनुष्य अधिक चाहता है, जिस पर उसे अत्यंत प्रेम है, जिसके दर्शन की उत्कट अभिलाषा मनुष्य के हृदय में सदैव बनी रहती है, जिसे कलेजा चीरकर हृदय के सिंहासन पर बैठाने की इच्छा रहती है, उसके दर्शनों से कंप, रोमांच तथा स्वेद-प्रवाह का होना कितना स्वाभाविक है, इसे वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने प्रेम किया है—प्रेम के देवता का पवित्र प्रसाद प्राप्त किया है। फिर केवल ध्यान-दर्शन से प्रत्यक्ष दर्शन के समान ही जिसे सात्त्विक होता है, उसके प्रेम का क्या ठिकाना ! फिर वह भी घड़ी-दो घड़ी के लिये नहीं—घंटे-दो घंटे के लिये नहीं, दिन और रात। प्रेम की पराकाष्ठा है—चरम सीमा है। धन्य है ऐसी पतिपरायणा नारी को, और धन्य है ऐसे आदर्श प्रेम के वर्णन करनेवाले महाकवि बिहारीलालजी को ! महर्षि नारद ने भक्ति-सूत्र में एक स्मरणाशक्तिनामक भेद माना है बिहारीलालजी का यह दोहा स्मरणाशक्ति का अच्छा उदाहरण है।

(२) प्रेमी मुक्ति की भी इच्छा नहीं करता। उसकी दृष्टि में वह भी तुच्छ है। बात तो यह है कि प्रेमी के पैरों पर लक्ष्मी लोटती है—मुक्ति उसके पीछे नाचती है। प्रेमी बिहारीलालजी कहते हैं—

जो न जुगति पिय-मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन ;
जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कीन।

प्रेम के सार-तत्त्व को समझनेवाले प्रेमी-प्रवर महाकवि बिहारीलालजी ने इस दोहे में बड़ा ही उत्कृष्ट प्रेम-वर्णन किया है। भक्ति-मार्ग और प्रेम की उत्कृष्टता का यह दोहा बढ़िया उदाहरण है। कैसे अनूठे ढंग से कहा है—

"जो मुक्ति प्रियतम से मिलने की युक्ति नहीं है, यदि उससे प्रियतम का मिलन नहीं है, तो उस मुक्ति के मुख पर धूल डालो। वह मुक्ति किस काम की ? यदि 'सजन' का संग हो—प्रियतम का साथ हो—तो नरक में प्रवेश करना भी इस प्रेमी के लिये श्रेयस्कर

है। नरक में स्वर्ग से बढ़कर आनंद है, केवल प्रेम-पात्र पास हो।"

इस दोहे में मुक्ति को सजीव प्राणी के समान वर्णन करके उसके मुख पर भक्ति या प्रेम के आवेश में, बड़ी खूबी से, विदग्धता से, धूलि डलवाई गई है। जब ऐसा हो, तभी उत्कृष्ट प्रेम कहा जा सकता है।

हिंदी-कवि-कुल-कुमुद-कलाधर महात्मा तुलसीदासजी ने ऐसा ही भाव व्यक्त करते हुए अपने जगत्-प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण में कहा है—

अर्थ न धर्म न काम-रुचि, गति न चहौं निर्बान ;
जन्म-जन्म रति राम-पद, यह बरदान न आन।

यद्यपि महात्मा तुलसीदासजी के दोहे में भक्ति की स्पष्टता होने से अधिक पवित्रता विदित होती है, परंतु इसमें बिहारीलालजी के दोहे के समान प्रेम की प्रखरता नहीं है, यह स्पष्ट है।

कविवर रहीम कहते हैं—

काह करौं बैकुंठ लै, कल्पवृच्छ की छाँहँ,
रहिमन ढाँक सुहावनौ; जो प्रीतम-गल-बाँहँ।
(अहमद या रहीम)

रहीम के दोहे में यद्यपि प्रेम का भाव बहुत ऊँचा है, परंतु वह भी 'जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कौन।' के भाव से बहुत नीचा है। 'ढाँक की छाँहँ' और 'धरक हू कौन' में बहुत अंतर है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए लिखा है—

स्वर्ग नर्क अपवर्ग में कै चौरासी माँहिं,
रहूँ जहाँ निज कर्म-बस, छुटै कृष्ण-रति नाँहिं।

इस दोहे में यद्यपि रहीम के दोहे से अधिक प्रेम है एवं तुलसी-

दासजी के दोहे के समान भक्ति की पवित्रता है, परंतु इसमें लापरवाही है। ये कहीं भी रहना पसंद करते हैं। यदि प्रियतम के साथ स्वर्ग में रहें, तो इसमें क्या ? अपवर्ग में रहने से भी क्या ? हाँ चौरासी और नरक में रहना सचमुच उत्कृष्ट प्रेम का द्योतक है। इसमें बाबू हरिश्चंद्र ने यह नहीं लिखा कि वह नरक में सुख से रहेंगे या नहीं। दुख से भी नरक भोगा जा सकता है। इनके दोहे में इन्हें कर्म की शिकायत है। बिहारीलालजी का दोहा इनसे श्रेष्ठ है। बिहारीलालजी कहते हैं—

जो न जुगति पिय-मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन ;
जो लहिए सँग सजन, तो धरक नरक हू कीन।

यहाँ निर्भर होकर स्वयं प्रसन्नता से, कर्म-वश से नहीं, अपनी मर्जी से प्रियतम के साथ नरक में जाने के लिये कमर कसे तैयार बैठे हैं। प्रेम की पराकाष्ठा का चित्र बिहारीलालजी के दोहे में ही सर्वोत्कृष्ट कुशलता से अंकित हुआ है, एवं प्रेम की तल्लीनता तथा प्रेमावेश बिहारीलालजी के दोहे में अधिक है।

(३) प्रेम में प्रेम-पात्र को मन-समर्पण करने का सतसई में अनूठा वर्णन है। देखिए—

कहा भयौ जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ ;
उड़ी जाति कितऊ गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।
(बिहारी-सतसई)

प्रेमिका नायिका कहती है—"हे नायक ! क्या हुआ, जो तुम बिछुड़ गए ? वियोग तो मन का मन से विच्छेद होने में है। सो मेरे मन का तुम्हारे मन से विच्छेद हो ही नहीं सकता। मैंने अपने मन की पतंग को डोरी से बाँधकर तुम्हारे मन के हाथ सौंप दिया है। मेरा मन तो तुम्हारे मन की मर्जी पर ही उड़ेगा। जब तक प्रेम की डोर बँधी है, तब तक तुम्हारे विलग रहने पर भी मेरा

मन तुम्हारे मन ही के साथ है। पतंग कहीं भी उड़े—कितनी ही दूर आकाश में उड़े, परंतु जब तक वह डोर से बँधी है, तब तक उड़ानेवाले ही के हाथ है।"

इस दोहे में प्रेम-डोर के बँधने में प्रेम का आकर्षण अच्छा व्यक्त हुआ है। कथन का ढंग बड़ा ही सुहावना एवं चित्ताकर्षक है। भाषा भाव के बहुत ही अनुकूल है। दृष्टांतालंकार की छटा सोने में सुगंध के समान है। इसके अतिरिक्त वर्णन-शैली का बाँकपन अवर्णनीय है। कथन में लापरवाही के साथ-साथ दृढ़ता का समावेश अनूठा है।

इसी प्रकार का निम्न-लिखित दोहा भी है, जिसमें प्रेमिका संदेश-वाहक के हाथ में प्रियतम के नाम प्रेम-पत्र देकर कहती है—

कागद पर लिखत न बनत, कहति सँदेस लजाति ;
कहिहै सब तेरो हियौ मेरे हिय की बात।
(बिहारी-सतसई)

इसमें दांपत्य प्रेम की दृढता और एक दूसरे के दृढ़ प्रेम के विश्वास का आधिक्य होने से प्रेम का अधिक प्राबल्य है।

(४) महर्षि नारद भक्ति-सूत्र में लिखते हैं—

"तत्प्राप्य तदेवालोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति।"

अर्थात "प्रेमी प्रेम-पात्र के प्रेम को प्राप्त कर सर्वत्र उसी को देखता है, उसी के विषय में श्रवण करता है, और उसी का चिंतन भी करता है।"

महाकवि बिहारीलालजी ने अपने निम्न-लिखित दोहों में इसी प्रकार के प्रेम के प्रकृष्ट उदाहरण दिए हैं। देखिए, 'तदेव शृणोति' के विषय में लिखते हैं—

लई सौंहँ-सी सुनन की, तजि मुरली धुनि-आन ;
किए रहति है रात-दिन, कानन लागे कान।

(बिहारी-सतसई)

'तदेव चिन्तयति' के विषय में लिखते हैं—

प्रेम अडोल डुलै नहीं, मुख बोले अनखाय ;
चित्त उनकी मूरति बसी, चितवन माँहिं लखाय ।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे का भाव बड़ा ही मनोहारी है। किसी नायिका के हृदय-पटल पर उसके प्रियतम की मूर्ति अंकित हो गई है। वह उसे ही प्रियतम जानकर उसके दर्शन करते-करते ध्यानावस्थित योगी की तरह (अडोल) अचल हो रही है। हृदय-ही-हृदय में वह उसी प्रेम-प्रतिमा से काल्पनिक बातचीत कर रही। यदि कोई सखी उससे उस समय कुछ बोलती है, तो उसकी ध्यानतन्मयता में विघ्न पड़ने के कारण वह उससे अनखती है—रुष्ट होती है। उसके हृदय-देश में बसी हुई प्रियतम की मूर्ति की आभा नेत्रों में झलकती है।

'तदेवालोकयति' के विषय में लिखते हैं—

मोहनि मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ ;
बसत सुचित अंतर, तऊ प्रतिबिंबित जग होइ।

(बिहारी-सतसई)

इसमें प्रेमी को प्रेम-पात्र के सर्वत्र दिखाई देने का बड़ा ही हृदयहारी वर्णन है। इस दोहे में भक्ति की अनन्यता के साथ-साथ एकेश्वरवाद के दार्शनिक सिद्धांत की भी अनुपम झलक है।

(५) प्रेम कैसा होना चाहिए, इसके विषय में महाकवि बिहारीलालजी का मत है—

चित दै देखु चकोर ज्यों तीजे भजै न भूख ;
चिनगी चुगै अँगार की, पियै कि चंद-मयूख ।

(विहारी-सतसई)

यदि प्रीति करना है, तो चकोर के समान चित्त देकर देख। या तो चकोर चंद्रमा की किरणों की सुधा-पान करता है या अंगार की चिनगारियाँ चुगता है। तीसरे किसी प्रकार से उसकी भूख मिटती ही नहीं। इसी प्रकार जो प्रेमी या तो अपने हृदयाराध्य प्रियतम के चंद्रमुख की रूप-सुधा से आनंद मनाता है, या अपने प्रियतम के विरह में—विरहाग्नि में शरीर दग्ध करता है, परंतु तीसरे किसी प्रकार से आनंद मनाने का इच्छुक नहीं होता, उसी का प्रेम यथार्थ प्रेम है। इसमें प्रियतम के सिवा प्रेमी को कोई भी प्रसन्न करने में समर्थ नहीं है। प्रियतम के चरणों में प्रेमी अपने संपूर्ण स्वार्थों और सुखों को किस प्रकार अर्पण करता है, यह चकोर के प्रेम में देखिए। महाकवि विहारीलालजी ने इस दोहे में प्रेम का सच्चा आदर्श दिखला दिया है। इसमें प्रेमी बदला नहीं चाहता।

(६) जो प्रेम-मार्ग प्रेमियों को बड़ा कठिन दिखाई देता है, उसे ही मूर्ख पुरुष सरल पथ समझते हैं। जहाँ हजारों रसिक डूब गए, हजारों प्रेमियों ने जिस मार्ग का ओर-छोर न पाया, उसी मार्ग को—उसी प्रेम-मार्ग को लाँघना दुर्बल-हृदय मूर्खों को एक साधारण-सी बात समझ पड़ती है। महाकवि विहारीलालजी कहते हैं—

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजार ;
वहै सदा पसु नरन को प्रेम-पयोधि पगार।

(विहारी-सतसई)

जिस प्रेम-पयोधि में रसिक प्रेमियों के पर्वत से भी ऊँचे और विशाल हृदय एक-दो नहीं, हजारों की संख्या में डूब गए, उसी प्रेम-पयोधि को—उसी अथाह प्रेम-सागर को पशु के समान हीन-

बुद्धि तथा तुच्छ और क्षुद्र हृदयवाले मनुष्य 'पगार' समझते हैं।

'पगार' उस छोटे जलाशय को कहते हैं, जिसमें घुटने तक पानी रहता है और जसे पाँव-पाँव चलकर पार कर सकते है।

इस दोहे में 'रसिक-मन' को 'गिरि तैं ऊँचे' लिखने में मन का अचल-अटल रहना व्यंजित होता है, जिससे प्रेम की दृढ़ता जानी जाती है। 'पसु-नरन' में 'पाशविक स्थूल-संभोग' के इच्छुक विषयी लोगों से तात्पर्य है, जो प्रेम के आध्यात्मिक भाव को समझने में सर्वथा असमर्थ है। वे केवल पाशविक विषय-लोलुपता को ही प्रेम समझते हैं, अतएव उन्हें प्रेम-मार्ग कुछ भी कठिन नही जान पड़ता पर जो सच्चे प्रेमी है, वे प्रेम की कठिनता को खूब ही जानते हैं।

'रसनिधि' कहते है—

असनेही जानें कहा नेही-मन-अनुराग ;
कहुँ हंसन की चाल को चल जानत हैं काग।

(रतनहजारा)

प्रेम-हीन हृदयवाले मनुष्य क्या प्रेमियों के हृदय के अनुराग को कभी जान सकते हैं? कहीं कौआ भी हंस की चाल चलना जान सकता है?

कबीरदासजी ने भी कहा है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ;
सीस उतारै भौं धरें, सो पैठे इहि माहिं।

कहना यह होगा कि बिहारीलालजी का दोहा साहित्याकाश का एक परमोज्ज्वल नक्षत्र है। इस दोहे की भाव-गंभीरता एवं कवित्व-कमनीयता विलक्षण प्रतिभा का परिचय देती है।

(७) एक प्राण, दो देह के उत्कृष्ट प्रेम का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

उनको हित उनहीं बनैं, कोई करो अनेक ;
फिरत काक-गोलक भयो दुहूँ देह ज्यों एक।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में 'प्राण' का उल्लेख न करके बिहारीलालजी ने न्यून-पद-दोष किया है, परंतु फिर भी जिस प्रकार कलंकी चंद्रमा सुंदर होता है, उसी प्रकार यह भी सुंदर है। प्रेम की पराकाष्ठा का इस दोहे में चित्र-सा खिंच गया है। दृष्टांत भी बड़े मार्के का है। यह जन-श्रुति है कि कौवे की एक ही आँख में तिल होता है। वही एक तिल दोनों आखों के गटेनों में घूमता है। इसी से वह दोनों आँखों से देख सकता है। काना नहीं कहा जा सकता। यही अवस्था नायक और नायिका के दोनों शरीरों की है। उन दोनों के शरीरों में एक ही जीव है, अर्थात् वे एक प्राण, दो देह हैं। कितना उत्कृष्ट प्रेम है।

तत्त्वदर्शी महात्मा कबीरदासजी ने भी कहा है—

प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समायँ।

(८) मध्या नायिका के प्रेम की अवस्था का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी कहते है—

इत तैं उत, उत तैं इतै, छिन न कहूँ ठहराति ;
जक न परत चकई भई, फिर आवति फिर जाति।

(बिहारी-सतसई)

नायिका यहाँ से वहाँ जाती है, और वहाँ से यहाँ आती है। वह कहीं एक क्षण भर के लिये भी नहीं ठहरती। उसे 'जक' पड़ती ही नहीं। प्रेम में शांति कहाँ? जिस प्रकार डोर में बँधी हुई चकरी किसी के द्वारा फिराई जाने पर यहाँ से वहाँ आती-जाती रहती है, उसी प्रकार प्रेम की डोर से बँधी हुई नायिका विरह के द्वारा घुमाई

जाने से फिर-फिर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ आती-जाती रहती है। उसे शांति मिलती ही नहीं।

(९) मित्र प्रेम का वर्णन देख लीजिए। दो सन्मित्रों की प्रीति देखकर दुष्ट लोग उस प्रेम में बाधक बन जाते हैं; परतु यदि मित्र सच्चे हैं, उनकी प्रीति सच्ची है, तो दुष्टों के बाधा पहुँचाने पर भी उसमें किसी प्रकार का अतर नहीं पड़ता, वह यथावत् बनी रहती है। इसी बात को विशेषोक्ति में बढ़ई, कुल्हाड़ी और वृक्ष का रूपक बाँधते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

खल बढ़ई बल करि थके, कटै न कुबत कुठार;
आलबाल उर झालरी, खरी प्रेम-तरु डार।

(बिहारी-सतसई)

काटने से प्रीति घटती नहीं, वरन् और-और बढती जाती है। बिहारीलालजी कहते हैं—

करत जात जेती कटनि, बढ़ि रस सरिता सोत;
आलबाल उर प्रेम-तरु तितौ-तितौ दृढ़ होत।

(बिहारी-सतसई)

(१०) प्रेम करने में अपने प्राणों को प्रेम-पात्र के हाथ में सौंप देना पड़ता है। इसका वर्णन करते हुए बिहारीलालजी ने किसी से नायिका के प्रति कहलवाया है—

मन न धरति मेरो कहो, तू आपने सयान;
अहे परनि पर प्रेम की पर-हथ पारन प्रान।

(बिहारी-सतसई)

(११) प्रेमी प्रेमिका को प्रेम के चिह्न-स्वरूप 'मुँदरी' की भेंट देता है। मुँदरी प्राप्त कर प्रेमिका की कैसी स्थिति होती है, इस बात का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

छला छबीले छैल को नवल नेह लहि नारि ;
चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरति, धरति उतारि ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भी प्रेम की अवस्था का अच्छा खाका खींचा गया है। 'नवल नेह' में 'छबीले छैल' का 'छला' प्राप्त करके प्रेमिका नारी उसे (छला को) चूमती है, उसे प्यार करती है, उसे हृदय से लगाती है, फिर पहनती है। पहनने से कहीं मैला न हो जाय, प्राणपति का दिया हुआ प्रेम-प्रसाद है, इसे उज्ज्वल रखना—प्राणों से अधिक सुव्यवस्थित और सुरक्षित रखना मेरा धर्म है, यह सोचकर वह उस छल्ले को उतारकर रख देती है। प्रेम का कैसा सजीव वर्णन है। काव्य-प्रतिभा की पराकाष्ठा है। नायिका का चित्र बरबस नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। हम सिनेमा के समान नायिका का नवल नेह में पड़ना, उसमें छबीले छैल से छल्ले की प्राप्ति, फिर उस छल्ले को नायिका जिस प्रकार 'चूमति, चाहति, लाय उर, पहिरति, उतारि' आदि-आदि सभी देखते हैं।

(१२) जिस प्रकार स्वकीय प्रेम के वर्णन में बिहारीलालजी ने अपूर्व प्रतिभा दिखलाई है, उसी प्रकार परकीय प्रेम के वर्णन में भी वह बाजी मार ले गए हैं। महाकवि ही ऐसी अनूठी रचना करने में समर्थ हो सकते हैं। देखिए, कोई परकीया नायिका सखी द्वारा परकीय प्रेम-सम्बन्धी नीच-ऊँच समझाई जाने पर उस सखी से कहती है—

कीन्हें हू कोटिक जतन, अब गहि काढ़े कौन ;
भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन ।
(बिहारी-सतसई)

'हे सखी, तेरा समझाना-बुझाना सब व्यर्थ है। करोड़ों यत्न करने पर भी अब ऐसा कोई भी समर्थ नहीं, जो मेरे मन-रूपी

नमक को मोहन के रूप-सिंधु से निकाल सके। भला, तू सोच तो कि कहीं अपार पानी में घुला हुआ नमक भी निकल सकता है। मेरा मन मोहन के प्रेम में डूब गया है, तू मुझे व्यर्थ शिक्षा देकर अपना समय नष्ट न कर। जा, अपना काम देख।

इस भाव पर अनेक प्रसिद्ध कवियों ने काव्य-रचना की, बहुत सिर खपाया, पर बिहारीलालजी के इस दोहे के भाव का 'लह्यो न आधौ आध'। देखिए—

पहले देव कवि को ही लीजिए। लिखते हैं—

बोरयो बंस बिरद में बौरी भई बरजति,
मेरे बार-बार बीर कोई पास बैठो जनि,
सिगरी सयानी तुम बिगरी अकेली हौं ही,
गोहन में छाँड़ो मोसों भौंहन उमेठो जनि।
कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की निकाम यातें ऐंठो जनि,
'देव' तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बाढ़े, हौं तो
बैठी हौं बिकल कोइ मोहिं मिलि बैठो जनि *।

---

* सम्भवतः देव ने यह छंद 'रसखानजी' के निम्न लिखित सवैया को देखकर बनाया है। इसे देखिए—

तुम चाहे जो कोउ कहो, हम तो
नँदवारे के संग ठईं सो ठईं
तुम ही कुल बीनी प्रबीनी सबै
हमहीं कुल छाँड़ गईं सो गईं।
'रसखानि' यों प्रीति की रीति नई
जु कलंक की मोटैं लईं सो लईं,
इहि गाँव के बासी हँसैं सो हँसैं,
हम स्याम की दासी भईं सो भईं।

परकीया नायिका की परकीय प्रेम के कारण कई जगह निंदा हो रही थी। दूसरों के मुख से उसकी बड़ी निंदा सुनकर उसकी एक सखी प्रेम-वश उसे समझाने आई। ज्यों ही वह समझाने लगी, त्यों ही नायिका ने उसे झिड़कते हुए एकदम कहा—"कुलटा कलंकिनी हौ कायर कुमति कूर काहू के न काम की निकाम यातें ऐंठो जनि।" इससे स्पष्ट है कि वह ग्रामीणा है। बिहारीलालजी के दोहे की नायिका के समान नागरी नहीं है। बातचीत का ढंग तक वह जानती नहीं। गँवारी के समान 'बोरथो बस ' आदि कह डालती है। फिर 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन' में जो भाव है, देव के कवित्त में स्वप्न में भी नहीं। उस भावोत्कृष्टता तक स्वप्न में भी नहीं पहुँचते।

देव से कई गुना श्रेष्ठ वर्णन ठाकुर के निम्नलिखित छंद में है। नायिका परकीय प्रेम में पड़ने पर सखियों के तानों से तंग आकर कहती है—

हम तो पर-नारि भईं सो भईं,
तुम तो सुधरो सखियाँ सिगरी,
यह रीति चले जग नाम धरे,
तिहि तें न कढ़ो मग मो ढिग री।
कबि 'ठाकुर' फाटी उलंक की चादर,
दैंउँ कहो कहँ लौं थिगरी;
तुम आपुनी ओर बचाव करो,
हम तो बन के बिगरी बिगरी।

कविवर ठाकुर का यह छंद देव के छंद से श्रेष्ठ है। देव के समान—'कुलटा कलंकिनी हौ कायर कुमति कूर ' आदि ग्रामीणता-सूचक शब्द ठाकुर के छंद में नहीं हैं। 'हम तो पर-नारि भईं सो भईं' में ही ठाकुर ने देव के छंद का आधे से अधिक वर्णन भर

दिया है। ठाकुर के छंद की नायिका में नागरीत्व भी पाया जाता है। उसमें बातचीत करने की योग्यता भी है। फिर जो बात ठाकुर के 'यह रीति चले जग नाम धरे तिहि तें न कढ़ो मग मो ढिग री' में है, वह 'देव तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बाढे, हौ तो बैठी हौं बिकल कोइ मोहिं मिलि बैठो जनि' में कभी है ही नहीं। 'मोहिं मिलि बैठो जनि' से 'न कढ़ौ मग मो ढिग री' बहुत श्रेष्ठ है। कहाँ मिलकर पास बैठने की मनाही और कहाँ मग में ढिग (पास) से निकलने की मनाही। आकाश-पाताल का अंतर है। कहना न होगा कि देव का वर्णन ठाकुर के वर्णन से बहुत नीचा है। पर ठाकुर का यह वर्णन भी बिहारीलालजी के 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन' के भाव नहीं पहुँचता। उसमें जो तदाकारता है, वह ठाकुर के छंद में कहाँ ?

शंभु कवि की उक्ति भी देखिए। नायिका शिक्षा देनेवाली सखी से कहती है—

नलिनी रवि मध्य को आड़ करै,
जुग फूटे जुराफा उड़ावहि को ;
मन चुंबक बीच को लोह भयो,
तहँ दूसरो रूप दिखावहि को।
कबि 'संभु' सनेह की रीति यही,
बिछुरे जल मीन जियावहि को ;
गुनवारे गुपाल की आँखिन सों,
अरुझी अँखियाँ सुरझावहि को।

कवि शंभुजी का यह वर्णन देव, रसखान और ठाकुर, तीनो के वर्णनों से श्रेष्ठ है। 'गुनवारे गुपाल की आँखिन सों अरुझी अँखियाँ सुरझावहि को' में एक नई बात है। 'आँखों का उलझना' हिंदी-भाषा का मुहाविरा है, जिसका अर्थ प्रेम में फँसना होता है। एवं 'गुनवारे' में गुण और रस्सीवाले, दोनो अर्थ निकलते है—

प्रेम में फँसना और गुणवाले गोपाल के। यह बड़े ही मार्मिक ढंग से कहा गया। साथ-साथ रवि और नलिनी, लोह और चुंबक तथा जल और मीन की स्नेह-रीति का वर्णन भी अच्छा बन पड़ा है। पर इसमें भी बिहारीलालजी के 'भो मन मोहन-रूप मिलि पानी में को लौन' वाली बात नहीं है। वैसी तदाकारता का वर्णन इनसे भी न हो सका।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी एक ऐसी ही उक्ति कही है। परकीया नायिका सिखापन देनेवाली सखी से कहती है—

वह सुंदर रूप बिलोकि सखी,
मन हाथ सों मेरे भग्यो सो भग्यो।
चित माधुरी मूरति देखत ही,
'हरिचंद' जू जाय पग्यो सो पग्यो ;
मुहिं औरन सो कछु काम नहीं,
अब तो जो कलंक लग्यो सो लग्यो ;
रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं,
अलि, साँवरे रंग रँग्यो सो रँग्यो* ।

---

* भारतेंदुजी का यह छंद ठाकुर कवि के निम्न-लिखित उत्कृष्ट सवैए का अपहरण-मात्र है। देखिए—

जब तें दरसे मनमोहन जू,
तब तें अँखियाँ ये लगीं सो लगीं ;
कुल-कानि गई सखि वाहि घरी,
जब प्रेम के फंद पगीं सो पगीं।
कवि 'ठाकुर' नेह के नेजन की,
उर में अनी आनि खगीं सो खगीं ;
तुम गाँवरे नाँवरे कोऊ धरो,
हम साँवरे-रंग रँगीं सो रँगीं।

इस सवैया की नायिका में नागरीत्व यथेष्ट है। वर्णन में स्वाभाविकता की मात्रा विशेष है। अंतिम पंक्ति बहुत ही भाव-पूर्ण है। 'साँवरे-रंग रँग्यो सो रँग्यो' में भाव की गभीरता है। साँवरे रंग पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। चित्त में श्याम का प्रेम-रंग चढ़ गया है। इसमें भी प्रेम की उत्कृष्टता है, पर 'पानी में को लौन' हो जाने में प्रेम-वृत्ति की जैसी लवलीनता और तदाकारता है, वैसी इसमें भी नहीं है।

इसी प्रकार अनेक कवियों के वर्णन है, जिन्हें मैं विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत करने में असमर्थ हूँ, पर इतना अवश्य है कि उनमें से कोई भी बिहारीलालजी के इस दोहे की समता नहीं कर सकता।

(१३) यह सभी जानते हैं कि सौंदर्य में आकर्षण है। ब्रह्म भी 'सुंदर' है। कला केवल सौंदर्य का ही तो निदर्शन करती है। सुंदरता में कुछ ऐसा जादू है, जो बरबस मोह लेता है।

सौंदर्य-जन्य प्रेम का वर्णन विश्व के सभी महाकवियों ने किया है। महाकवि बिहारीलालजी ने भी इसका अनूठा वर्णन किया है। दो उदाहरण देखिए—

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-विपाक;
छिन छाकै उछकै न फिरि, खरौ विषम छबि-छाक।
(बिहारी-सतसई)

सौंदर्य-जन्य प्रेम का मद (नशा) बड़ा ही विषम है। अन्य नशे डर से उतर जाते है, पर इसका नशा डर से भी नहीं उतरता। अन्य नशों में नींद आ जाती है, पर इसमें 'नींद न परै' नींद सदा के लिए भाग जाती है। काल-विपाक भी इसका हरण नहीं करता, अर्थात् जिस प्रकार अन्य नशों का असर कुछ समय व्यतीत होने पर स्वयमेव चला जाता है, वैसा सौंदर्य-मद का असर नहीं चला जाता। जब तक वह सौंदर्य है, उस सुंदरता की मूर्ति

है, तब तक उसका प्रभाव कभी नष्ट नहीं होता। सौंदर्य-मद जहाँ एक बार चढा, फिर क्षण-भर के लिये भी नहीं उतरता। प्रेम के नशे में और अन्य नशों में यही विषमता है। व्यतिरेकालंकार का यह दोहा बहुत ही श्रेष्ठ उदाहरण है।

(१४) चित्त की नौका को 'अंग-अंग छवि-भौंर' के भँवर में किस प्रकार फँसाया है, उसे भी विहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे में देखिए—

फिर-फिर चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव ;
अंग-अंग छवि-भौंर में भयो भौंर की नाव।

(विहारी-सतसई)

प्रेम-पात्र के अंग-अंग की छवि 'भौंर' में प्रेमी का चित्त भँवर की नाव बना हुआ फिर-फिरकर उसी (प्रेम-पात्र की) ओर रहता है। अन्य किसी ओर नहीं जाता, क्योंकि उसे प्रेम-पात्र की ओर से खींचनेवाली लाज की (लाव) रस्सी टूट गई है। इस दोहे के रूपक में 'अंग-अंग छवि-भौंर' बहुत भारी और चक्करदार भँवर आ पड़ा है, जिसमें पड़ने से लाज की मजबूत लाव भी टूट चुकी है। अब उसमें से चित्त-रूपिणी नौका का निकालना हो ही नहीं सकता।

(१५) तत्त्वदर्शी महाकवि विहारीलालजी ने सौंदर्य के विषय में जो विचार किया है, उसे भी देख लीजिए, क्योंकि उसी के अनुसार तो सौंदर्य-प्रेम का वर्णन है। सुंदरता का निदर्शन परम दार्शनिक कवि के सिवा और कर ही कौन सकता है ? जब परमात्मा का रूप ही 'सत्यं शिवं सुन्दरं' मान लिया, और जब यह मान चुके कि समग्र सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में उस परमात्मा की ज्योति है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' या 'सर्वं विष्णुमयं जगत' है, तब असुंदर कह ही किसे सकते हैं। और, फिर सुंदरता की कोई परिभाषा भी तो नहीं बनाई जा सकती। महाकवि विहारीलालजी कहते हैं—

समै-समै सुंदर सबै रूप कुरूप न कोय ;
मन की रुचि जेती जितै, तितै तिती छबि होय ।

(बिहारी-सतसई)

समय-समय पर सब सुंदर है, रूपवान् और कुरूप कोई नहीं। मन की जहाँ जितनी रुचि (आसक्ति) होती है, वहाँ उतनी ही सुंदरता (विदित) होती है।

कितना गंभीर, गवेषणा-पूर्ण सिद्धांत है। सुंदर सभी हैं, केवल काली लैला को मजनूँ बनकर देखने की आवश्यकता है।

रसनिधि ने इसीलिये कहा है—

चसमन चसमा प्रेम को पहले लेहु लगाय ;
सुंदर मुख वह मीत को तब अवलोको जाय ।

(रतन हजारा)

(१६) इसीलिये बिहारीलालजी प्रेम के उस आदर्श का वर्णन करते हैं, जिसमें प्रेम को दृढ़ता होती है। वह प्रेम का व्यभिचार वर्णन नहीं करते। देखिए, उसका आदर्श निम्न-लिखित दोहा है। लिखते हैं—

सब ही तन समुहाति छन चलति सबन दै पीठि ;
वाही तन ठहराति यह किबुलनुमा लौं दीठि ।

(बिहारी-सतसई)

कैसा अनूठा प्रेम दर्शित किया है। पक्का प्रेम जो एक जगह जम जाता है, उसे कितना ही हिलाओ-डुलाओ, पर वह हिर-फिरकर वहीं उसी जगह आकर ठहरता है। प्रेमी की दृष्टि अपने प्रेम-पात्र के अतिरिक्त अन्य पर कब ठहर सकती है। सबके सम्मुख दृष्टि जाती है, पर क्षण-भर के लिये। पश्चात् सबको पीठ देकर अर्थात सबकी ओर से हटकर वह उसी प्रेम-पात्र की ओर ठहरती है,

स्थगित हो जाती है। कितना गंभीर प्रेम है। इस दोहे में 'दृष्टि का सबको पीठ देना' लिखकर बिहारीलालजी ने मुहाविरे को जिस विदग्धता से चस्पाँ किया है, उसे देखिए। साथ-साथ दृष्टि के पीठ देने में जो बारीक बीनी है, उस पर भी विचार कीजिए। इतना सब होते हुए 'किबुलनुमा' की उपमा देकर तो कविवर ने गजब ढा दिया है। कैसी सजीव और नवीन उपमा है, इसे अलंकार-प्रेमी देखे। किबलेनुमा' की सुई का रुख सदैव एक निश्चित दिशा की ओर रहता है। जी जाहे, जहाँ को उसका रुख फेर दो, पर वह तुरंत ही निश्चित दिशा की ओर हो जायगा। प्रेमी की दृष्टि की भी यही अवस्था है। कोई अन्य कितना भी सुंदर, मनोहर क्यों न हो, उसे उससे क्या संबंध। उसे तो उसका प्रेम-पात्र ही सबसे अधिक सुंदर है।

(१७) प्रेमी के नेत्रों द्वारा प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रेम-भरी आँखों को कोई छिपा नहीं सकता। भारतेंदु हरिश्चंद्र कहते हैं—

छिपाए छिपत न नैन लगे।

कबीरदासजी कहते है, प्रेम छिपता नहीं, नेत्रों द्वारा प्रकट हो जाता है। इसी से—

कहत कबीरा क्यों दुरै रुई-लपेटी आग।

बिहारीलालजी लिखते हैं—

बहके, सब जिय की कहत, ठौर-कुठौर लखें न ;
छिन और छिन और से, ये छवि-छाके नैन।

(बिहारी-सतसई)

प्रेमी का कथन है—मै क्या करूँ। प्रेम को कैसे छिपाकर रक्खूँ। मेरे छबि-मद पीकर मत्त हुए नेत्र बहक गए है, अर्थात् अपने वश में नहीं रहे, निरंकुश हो गए हैं। ये क्षण-क्षण में और-ही-और प्रकार के हो जानेवाले नेत्र मेरे जी की सब (छिपी हुई बात) कह

देते हैं। और तो ठीक ही, ये इतने बहक गए हैं कि मेरे अंतरंग हृदय का संपूर्ण भेद कहते समय 'ठौर-कुठौर' नहीं देखते। मौके-बेमौके की इन्हें कुछ भी खबर नहीं रहती।

कविवर रहीम का भी इसी प्रकार का यह दोहा है—

एक दीप तैं गेह की प्रकट सबै निधि होय ;
तन-सनेह कैसे दुरै, जहँ दृग-दीपक दोय।

इसी प्रकार के भाव को एक अन्य हिंदी-कवि ने निराले ही ढंग से व्यक्त किया है। लिखा है—

मन-महीप की खबर सब दृग-दिवान कह देत।

पर बिहारीलालजी के दोहे का आलम इन सब उक्तियों से निराला ही है।

(१८) प्रेम-नगर के अंधेर का भी बिहारीलालजी ने वर्णन किया है। लिखते हैं—

क्यों बसिए, क्यों निबहिए, नीति नेह-पुर नाहिं ;
लगालगी लोचन करैं, नाहक मन बँध जाहिं।
(बिहारी-सतसई)

प्रेम-नगर में नीति तो है ही नहीं; बसे, तो क्योंकर बसे और निर्वाह करें, तो क्योंकर करें।। नेत्र तो 'लगालगी' करते हैं, और मन व्यर्थ ही बंधन में पड़ता है, अरे! यह नीति कैसी कि—

और करै अपराध कोउ, और पाय फल भोग।

(१९) प्रेम-नगर की एक विचित्र रीति का वर्णन और भी देखिए, और फिर कहिए कि क्या 'नेह-नगर' में कुछ भी नीति है। लिखते हैं—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
जा तन की झाईं परे स्याम हरित-द्युति होय ।
(बिहारी-सतसई)

इन्हीं राधिका की कृपा से माया-मुग्ध जीव संपूर्ण भ्रम जाल को छिन्न कर आत्मसाक्षात्कार द्वारा आत्मा में राधाकृष्ण-तत्त्व का विकास कर जन्म-मरण से छुटकारा पाता और केवल आनंद को प्राप्त करता है।

श्रीसूरदासजी ने भी अपने निम्न-लिखित पद में श्रीराधिक से विनय की है—

राग सारंग

रमा, उमा अरु सची अरुंधति, नित-प्रति देखन आवैं ;
निरखि कुसुम सुरगन बरसत हैं, प्रेम-मुदित जस गावैं।
रूप-रासि, सुख-रासि राधिका, सील महागुन-रासी ;
कृष्ण-चरण ते पावहिं स्यामा, जे तुव चरन-उपासी।
जगनायक जगदीस पियारी, जगत-जननि जगरानी,
नित बिहार गोपाल लाल सँग, बृंदाबन रजधानी।
रसना एक, नहीं सत-कोटिक, सोभा अमित अपारी,
कृष्ण-भक्ति दीजे श्रीराधे, 'सूरदास' बलिहारी।

(२) गोपी-जन-वल्लभ आत्माराम, मुरलीमनोहर, भगवान श्रीकृष्ण ने प्रेमोन्मादिनी, प्रभु-वल्लभा गोपिकाओं को मुरली-नाद द्वारा वन में बुलाया। क्योंकि उन्होंने भगवान कृष्ण की प्राप्ति के हेतु कठिन कात्यायिनी व्रत किया था एवं भगवान में उनको माहात्म्यज्ञान-सापेक्ष प्रेम था। इस मुरली-नाद के विषय में भागवतकार ने लिखा है—

दृष्ट्वाकुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुंकुमारुणं ;
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।

अर्थात् कुमुद-पुष्पों से परिपूर्ण अखंड मंडलमय वन को, जो लक्ष्मीजी के मुख के अरुण नव-कुंकुम से तथा चंद्रमा की कोमल किरणों से रंजित हो आभामय था, देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने व्रजांगनाओं के मनों को हरण करनेवाला 'कल' वंशी-नाद किया।

इस 'कल' से स्पष्ट है कि यह 'क्लीं' काम-बीज का गान है। यह काम-बीज वह है, जिसमें संपूर्ण कामनाओं का लय हो जाता है। सब रसों के मूल में 'रसो वै सः' के सिद्धांतानुसार एक परमात्मा का अद्वितीय रस ही सर्वत्र व्याप्त है। यही रस (आनंद) संसार में अनेक रूपों में व्याप्त है। एक अद्वैत ब्रह्म-रस को अनेक रसों के रूप में दिखलाना माया का कार्य है, एवं भिन्न-भिन्न भावों या रूपों में आनंद का बोध होना रस का कार्य है। भक्त-वत्सल भगवान की कृपा से जीव को जब यह बोध हो जाता है कि भिन्न-भिन्न रसों की कल्पना मायामय है, एवं सबका मूल एक ही रस है, तब उसे समस्त द्वैत जगत् के प्रेम के मूल मे अद्वितीय भगवान के एक ही प्रेम-रस का अनुभव होने लगता है। इसी से वह संसार से वैराग्यवान होकर भगवान का अनन्य भक्त बन जाता है। श्रीकृष्ण भगवान की त्रिभुवन-विमोहिनी मुरली से यही काम-बीज का कल गान निकला था, जिसे श्रवण कर गोपियों ने संसार के सब द्वैत-मूलक प्रेम को भूलकर, लोक-परलोक का भय त्यागकर श्रीकृष्ण के चरण-कमल की शरण ली थी। जब क्लीं काम-बीज है, तब क्लीं का नाद काम बढ़ानेवाला होगा ही। परंतु यह वह काम था, जिसमें संपूर्ण कामनाओं की परिसमाप्ति हो जाती है। गोपिकाओं

ने मुरली-नाद श्रवण कर 'कांतासक्ति'-भाव से भगवान को भजने के हेतु सर्वस्व त्यागकर वन की राह ली। इसी वंशी-नाद के वर्णन में भक्ति-शृंगारी बिहारीलालजी लिखते हैं—

कितीं न गोकुल कुल-बधू काहि न किन सिख दीन ;
कौनें तजीं न कुल-गलीं, ह्वै मुरली-सुर-लीन।
(बिहारी-सतसई)

(२) शृंगार-भक्ति में भक्तजीवात्मा का उद्देश्य परमात्मा से चिर-सभोग होता है। यह प्रेम-भक्ति की पूर्णता में ही संभव है। ध्यान रहे, 'आत्मा' ही प्रियतम है, एवं भगवान ही आत्माराम हैं। भगवान श्रीकृष्ण सर्वव्यापक परमात्मा हैं, एवं समस्त जीवों के अंतरात्मा स्वरूप है। जब गोपियों का प्रेम और आत्मसमर्पण उन्हीं परमात्मा में हो गया, तब उनके लिये गृहस्थ स्त्री का पति-पुत्रादि के प्रति कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह सका। उन्होंने धर्माधर्म त्यागकर अनन्य भाव से भगवान की शरण ली। उनकी प्रार्थना पर भगवान कृष्ण ने उनकी इच्छा-पूर्ति की। इसी के विषय में लिखा है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः,
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्।

इस श्लोक में योगेश्वर और आत्माराम पदों पर ध्यान देने से इस रास का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। इसमें निर्लिप्तता और स्वरूप में स्थिति का अच्छा स्पष्टीकरण होता है। कांत-भाव से भक्ति करनेवाली भक्त आत्मा की साधना का यही अंतिम फल है, जिसमें परमात्मा-रूप प्रियतम का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसी अवस्था के विषय में रहस्यवादी निर्गुण-मार्गी कबीरदास ने अपने निम्न-लिखित दोहे में संकेत किया है। लिखा है—

विरह-जलंती देखकर साईं आए धाए,
प्रेम-बूँद से छिरकिकै जलती लई बुझाए।

(साखी)

स्मरण रहे, भक्त की भावना के अनुसार हृदय में प्रतिष्ठित भगवान की साकार मूर्ति में एकाग्र ध्यान लगाने से ध्यान के परिपाक में भगवान की साकार मूर्ति के दर्शन होते है। परंतु सर्वांतर्यामी परमात्मा का यथार्थ दर्शन भक्त को उस समय होता है, जब भक्ति और ज्ञान का एकीकरण हो जाता है, और सगुण के साथ निर्गुण का भी साधन हो जाता है। गोपियों ने परमात्मा की साकार मूर्ति के दर्शन तो कर लिए, परंतु पूर्ण आनंद की प्राप्ति तो उन्हें भगवान को सर्वत्र देखने में ही हो सकती थी। परमात्मा के सर्वत्र दर्शन करने ही में परमानंद का पूर्ण लाभ है। रास में गोपियों की परा भक्ति की पराकाष्ठा हुई थी। उन्होंने सर्वत्र भगवान के दर्शन किए थे। इसी रास में गोपियाँ परमात्मा श्रीकृष्णचंद्र के चरण-कमलों में अपने जीवन को समर्पण कर और परमानंद-रूप समुद्र में अपने शरीर, मन, प्राण और जीवात्मा को विलीन करके कृतार्थ हुई थी। महाकवि श्री बिहारीलालजी ने रास के वर्णन में भक्ति-शृंगार के अलौकिक, आध्यात्मिक भाव को लौकिक भाव में, निम्न-लिखित दोहे में, बड़ी सुंदरता से अंकित किया है। लिखा है—

गोपिन संगति शरद की रमत रसिक रस रास,
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास।

(बिहारी-सतसई)

(४) श्रीमद्भागवत में लिखा है कि भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति पर गोपियों को सौभाग्य के अत्यंत गर्व से मान हुआ। विशेप मान

श्रीराधिका को हुआ, क्योंकि इन्हीं के प्रेम में तो मधुर गोपी-प्रेम का चूड़ांत निदर्शन है। इस मधुरतम मान-लीला का वर्णन वैष्णव भक्ति-शृंगारी कवियों ने बड़ा ही भाव-पूर्ण किया है। महाकवि श्री बिहारीलालजी के अनेक दोहों में इसका काव्य-कला-पूर्ण उत्कृष्ट वर्णन पाया जाता है। निम्नलिखित दोनों दोहे देखिए—

तो ही को छुटि मान गो देखत ही ब्रजराज ;
रही घरिक लौं मान सी, मान किए कि लाज ।
सतर भौंहँ रूखे वचन, करति कठिन मन नीठि ,
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौ ही डीठि ।

(बिहारी-सतसई)

निम्न-लिखित दोहे में तो भक्ति-शृंगार-पूर्ण मान का प्रेममय अनूठा निदर्शन है। लिखा है—

सखी सिखावति मान-विधि, सैनन बरजति बाल ,
हरुवे कह मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ।

(बिहारी-सतसई)

इसमें प्रेम-भाव का सहज भोलापन द्रष्टव्य है।

(५) जब भगवान श्रीकृष्ण परमात्मा ने गोपियों के सौभाग्य के मद एवं मान को देखा, तब वह वहीं अंतर्द्धान हो गए। भक्त-वत्सल भगवान भक्त की उन्नति में बाधक अहंकार को नाश करके भक्ति-मार्ग को निष्कंटक कर देते हैं। इसी से गोपियों पर अनुग्रह करके उनके अहंकार को नाश करने के हेतु वह अंतर्द्धान हो गए। इसपर गोपियों का अहंकार नष्ट हो गया और वे अनुताप करने लगीं। गोपियों की यह विरहावस्था ही भक्त के अनुताप की अवस्था है। इस अनुताप की अग्नि से भक्त जीवात्मा के चित्त का संपूर्ण दोष-रूप मैल भस्म होकर चित्त निर्मल हो जाता है, जिससे उसके

हृदयासन पर भगवान आ विराजते हैं। यह विप्रलंभ (विरह) अवस्था ही जगद्गत साधक जीवों को अधिक आनंददायक है, क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण-स्मृति निरंतर जाग्रत रहती है। इसमें अखिल विश्व की बाह्य प्रतीति नष्ट हो जाती है। इसमें प्राणवल्लभ भगवान से संभोग की तीव्र आसक्ति रहने से हृदय की तल्लीनता प्राप्त हो जाती है। इसी मे जीवात्मा की संपूर्ण भावनाएँ भगवान में लय हो जाती है। इसी विरह में प्रेम की पूर्णता होती है। बिहारी-सतसई मे इस विरह के अनेक वर्णन मिलते है। उदाहरण-स्वरूप कुछ दोहे देखिए—

गोपिन के अँसुवन भरी, सदा असोस (ष) अपार ;
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर के बार।
(बिहारी-सतसई)

स्याम-सुरति कर राधिका, तकति तरनिजा-तीर ;
अँसुवन करति तरौंस कौ, खिनकु खरौहौं नीर।
(बिहारी-सतसई)

ऐसे भक्त को भगवान का एक पल का विरह भी सह्य नहीं होता। बिहारीलालजी लिखते है—

जाति मरी बिछुरी घरी जल-सफरी की रीति ;
छिन-छिन होति खरी-खरी, अरी जरी यह प्रीति।
(बिहारी-सतसई)

यह विरह ही ध्यान की अवस्था है। इसी विरह की तीव्रता में—तीव्रतम संवेग में—ध्याता, ध्यान और ध्येय का एकीकरण हो जाता है और भक्त जीवात्मा के रोम-रोम में भगवान के आनंदमय रूप के सिवा कुछ भी नहीं रहता। इसी अवस्था में भगवान से तन्मयता प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ;
तद्गुणान्येव गायन्त्यो नात्मागाराणि संस्मरुः ।
पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ;
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ।

अर्थात् वे गोपियाँ तन्मय होकर भगवान के आलाप में निरत हुईं। वे तत्स्वरूप होकर उन्हीं के गुणों को गाती हुई अपने-अपने घरों को भूल गईं। फिर कृष्ण-भावना-भावित अंतःकरणवाली वे यमुना-तट पर आकर एकत्र सम्मिलित हो भगवान श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा करने लगीं। महाकवि बिहारीलालजी ने ऐसी ही दशा के वर्णन में लिखा है—

जहाँ-जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्याम सुभग-सिरमौर ;
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगन अजौं वह ठौर ।

(बिहारी-सतसई)

(६) राधाकृष्ण-तत्त्व की हृदय में प्रतिष्ठा कर आत्मा में उनकी अनोखी झाँकी निहारकर भक्ति-शृंगारी-अनन्य प्रेमी बिहारीलालजी कहते हैं—

नित प्रति एकतहीं रहत बैस-बरन-मन-एक ;
चहियत युगलकिशोर लखि, लोचन-जुगल अनेक ।

(बिहारी-सतसई)

और इसी में ब्रह्मानंद का अनुभव करनेवाले भक्ति-शृंगारी कविवर ने लिखा है—

तज तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग ;
जेहि ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग ।

(बिहारी-सतसई)

इस प्रकार बिहारी-सतसई में भक्ति-शृंगार का समुज्ज्वल वर्णन प्राप्त होता है। इस वर्णन के इनके अनेक दोहे हैं, जिन्हे स्थानाभाव के कारण यहाँ देने में असमर्थ हूँ। फिर भी केवल चार-छः दोहे यहाँ उद्धृत करता हूँ—

दान-लीला के विषय का यह दोहा दर्शनीय है—

लाज गहो, बे काज कत, घेर रहे, घर जायँ ;
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नायँ।
(बिहारी-सतसई)

मुरली-लीला के विषय का यह दोहा है—

बत-रस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ;
सौंहँ करै, भौंहँन हँसै, दैन कहै, नटि जाय।
(बिहारी-सतसई)

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अवसर के ये दोहे भी देखने योग्य है—

कहा लड़ैते दृग करें, परे लाल बेहाल ;
कहुँ मुरली, कहुँ पीत-पट, कहूँ लकुट-बन माल।
फिरि-फिरि बूझति, कहु कहा कह्यौ साँवरे गात ;
कहा करत देखे कहाँ, अली चली क्यों बात।
रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनियाँ बारि ;
फेरति कर उलटी रई, नई बिलोवनहारि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि श्रीबिहारीलालजी केवल मानवी शृंगार-वर्णन करनेवाले कवि न थे, उनकी रचना में भक्ति-शृंगार के त्रिताप-संतापहारी समुज्ज्वल आध्यात्मिक प्रेम के भी उदात्त वर्णन भरे पड़े हैं।

षट्ऋतु-वर्णन

सत्य तो यह है कि मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है, और कला सौंदर्य का केवल अनुकरण ही नहीं करती, वरन् नूतन सौंदर्य की सृष्टि भी करती है। यदि हम कहें कि कविता सुंदरता का मूर्तिमान रूप है, तो अत्युक्ति न होगी। सौंदर्योपासना द्वारा हम सुंदर वस्तु के अस्तित्व को सार्थक कर अपनी ओर समूचे संसार के एकत्व की स्थापना करते हैं। यह विश्व-व्यापिनी उपासना है। इसका क्षेत्र अत्यंत विशाल है। इसमें कोई सांप्रदायिक भेद-भाव नहीं होता। मत-मतांतरों के झगड़ों से यह कोसों दूर है। इसी उपासना द्वारा हम उस सौंदर्य की झलक प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं, जिससे संपूर्ण विश्व की सुंदर-सुंदर वस्तुओं को अनूठी सुंदरता प्राप्त होती है। इसी उपासना से समष्टि और व्यष्टि के आदर्शों का मेल हो जाता है। प्राकृतिक दृश्यों द्वारा समष्टि के आदर्श के साथ व्यष्टि के आदर्श की समानता हमें इसी उपासना में दृष्टि-गोचर होने लगती है।

सच पूछा जाय, तो प्राकृतिक सौंदर्य के मनोहर दृश्यों को देखने से उदासीनता दिखाना मानो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के प्रति उदासीनता दिखलाना है। प्राकृतिक सौंदर्य दर्शन से आनंद-विह्वल होना मन का एक उत्तम गुण है। वसंत के शोभामय वन अपने सौरभित सुमन-संपत्तिवाले तरु-कदंब की अलौकिक छटा दिखलाते हुए किसका मन हरण नहीं करते? कृष्णा कोकिल की सुरीली कूक किसे सुहावनी नहीं लगती? नदी का निर्मल जल कलरव करता हुआ जब प्रवाहित होता है, तब किसके नेत्र और कान उससे आनंदित होकर अंतरात्मा को उल्लसित नहीं करते? वर्षा-काल का बहुरंगा इंद्र-

धनुष अपनी अलौकिक आभा की सुखद छटा दिखलाकर किसे चकित नहीं करता? सायंकालीन सूर्य की अरुणिमा पश्चिमीय गगन से जब गगन-चुंबी पर्वत-मालाओं पर पड़ती है, एवं सरोवर के जल में जब उसका प्रतिबिंब सांध्य समीरण के प्रवाह से उठती हुई लहरों के कारण डोलते हुए जल में दिखलाई पड़ता है, तब कौन आनंदित नहीं हो उठता? निर्मल आकाश में शारदीय पूर्णिमा का चंद्र नक्षत्रों के साथ कैसी शोभा सरसाता है? जब रात्रि में चंद्र-चाँदनी शांत और स्तब्ध तरु-वृंद को आभामय बनाती है, तब उसे अवलोकन कर किसका हृदय प्रफुल्लित नहीं हो उठता? प्रकृति के इस सौंदर्य का उपभोग तो पशु-पक्षी तक करते हैं। चकोर पूर्ण चंद्र की ओर इकटक देखता रह जाता है। मयूर मेघ को देखकर उन्मत्त हो नाचने लगता है। सर्प केतकी-गंध से आकृष्ट होता है। आम्र-मंजरी के विकसित रूप-माधुर्य को देखकर कृष्णा कोकिल पंचम स्वर में गान करने लगती है। कवि भी इस सौंदर्य को देखकर आनंदातिरेक से विह्वल होता है, और फिर सुंदर काव्य में प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने लगता है।

हिंदी-कवियों ने प्राकृतिक सौंदर्य का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। प्राकृतिक सौंदर्य की सर्वश्रेष्ठ क्रीड़ा-भूमि भारतवर्ष में (१) वसंत, (२) ग्रीष्म, (३) वर्षा, (४) शरद्, (५) शिशिर और (६) हेमंत नामक छ ऋतुएँ होती हैं। इन ऋतुओं में प्रकृति के सौंदर्य में विलक्षण नूतनता उत्पन्न होती है। स्थिर निष्प्राण प्राकृतिक सौंदर्य में भी इन छ ऋतुओं में सजीवता का ऐसा मोहक विकार उत्पन्न होता है, जो तीव्र मादक सौंदर्य-युक्त होता है। हिंदी-कवियों ने ऋतु-वर्णन में प्रकृति का ऐसा उत्कृष्ट वर्णन किया है कि उसकी प्रशंसा शब्दों में नहीं की जा सकती। इस कविजनोचित कल्पना का पूर्ण प्राबल्य तो है ही, साथ ही प्रकृति का भी—प्राकृतिक सौंदर्य का भी—ऐसा सच्चा और हृदयग्राही

सजीव चित्र अंकित किया है, जिसपर रसिक काव्य-प्रेमी हृदय न्योछावर करते है। प्रत्येक ऋतु में प्रकृति के सौदर्य के ऐसे उत्कृष्ट शब्द-चित्र खींचे हैं, जिन्हें पढते ही—समझते ही—प्रकृति का—उस ऋतु-विशेष का—रमणीयतामय चित्र नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसमें ऋतु-विशेष के फल, फूल, हिंदू-उत्सव और हिंदू-त्योहार, उन त्योहारों (उत्सवों) के समय के व्यवहार आदि, उस ऋतु-विशेष में प्रकृति की दशा, उसका मनुष्यों और इतर प्राणियों पर प्रभाव आदि अनेक ऐसे-ऐसे रोचक विषयों का वर्णन है, जो पढने पर ही जाने जा सकते है।

यह ध्यान रहे कि जन-साधारण के कथन की अपेक्षा कवियों के वर्णनो में कुछ विलक्षणता होती है। वे केवल यही कहकर नहीं रह जाते कि "नदी बहती है। उसका जल निर्मल है। उसके दोनों तट ऊँचे है। उसमें भँवर भी पड़ते है।" यह वर्णन कवि का नहीं है। यह जन-साधारण की दृष्टि है। कवियो की दृष्टि कहीं और ही रहती है। हमारे हिंदी-कवियों ने जिन आँखों से प्रकृति की वाँकी झाँकी निहारी है, वे आँखे कुछ और ही है। जनसाधारण के लिये पर्वतों के भीतर से आती हुई शुभ्र और निर्मल जलवाली नदी एक नदी-मात्र है, परंतु कवि के लिये उस श्वेतवस्त्रा, लाजवती का शरीर शृंगार की रंगभूमि है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के जगत्-प्रसिद्ध खड काव्य मेघदूत में ऐसे अनेक वर्णन है। हिंदी-कवियों ने ऐसे अनेक प्राकृतिक चित्र अंकित किए हैं। लू का चलना जन-साधारण अथवा वैज्ञानिक के लिये ग्रीष्म ऋतु का एक गुण-विशेष है, पर महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

अरी, न यह पावक प्रबल, लुएँ चलति चहुँ पास ;
मानहुँ बिरह बसंत के ग्रीषम लेति उसास।

(बिहारी-सतसई)

इसके अतिरिक्त प्रकृति से हमें गहन-से-गहन शिक्षा सदा-सर्वदा सर्वत्र मिल सकती है। प्रत्येक वृक्ष का प्रत्येक पत्र महाकाव्य का पत्र हो सकता है, जिसपर अनमोल शिक्षा और अनंत सत्य का वज्र-लेख लिखा है। इसके लिये केवल देखनेवाला चाहिए। प्रकृति के साधारण पदार्थों के स्वभावमय चित्रण के साथ-साथ वे जिस अटल सत्य की अलौकिक शिक्षा की सदा-सर्वदा घोषणा कर रहे है, उसका भी हिंदी-कवियों ने ऐसा अनूठा दिग्दर्शन कराया है, जिसपर हृदय न्योछावर करना उपयुक्त जान पड़ता है। इसके उदाहरण में कवि-श्रेष्ठ तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की तीन पंक्तियाँ यहाँ देता हूँ। देखिए—

दामिन दमकि रही घन माहीं,
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
छुद्र नदी भरि चलि इतराई,
जनु थोरे धन खल बौराई।
बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे,
खल के बचन संत सहैं जैसे।
(रामचरित-मानस)

इस प्रकार के प्राकृतिक वर्णनों में नीति और कला का अद्भुत मेल है। इन पंक्तियों में मनोरम प्राकृतिक चित्र की सुंदरता अक्षुण्ण रखते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो अनुरूप उपमान उपस्थित किए हैं, वे विलक्षण काव्य-चमत्कार-पूर्ण और अटल सत्यमय हैं।

इन दो प्रकार के प्राकृतिक वर्णनों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के ऐसे वर्णन भी हिंदी-कवियों ने प्रचुरता से किए है, जिनमें प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ मनुष्य के अंतर्जगत् के सौंदर्य का भी वर्णन पाया जाता है। इनमें यह दिखलाया जाता है कि मनुष्य के हृदय

पर प्राकृतिक सौंदर्य का कैसा प्रभाव पड़ता है, आभ्यंतर प्रकृति से बाह्य प्रकृति का कैसा संबंध है, उनका पारस्परिक प्रभाव कैसा पड़ता है, एवं प्रेम आदि के स्थायी भाव एकांत और रमणीक स्थल में कैसे जोरों से उठते हैं ? सच पूछो, तो इस प्रकार के वर्णनों से ही कवि की रचना-कुशलता का पता चलता है। इस प्रकार के वर्णन हिंदी के प्रमुख प्रतिभाशाली कवियों ने शृंगार-रस के विभाव-पक्ष में प्रचुरता से लिखे हैं। इसमें कविजन बाह्य प्रकृति के साथ अंतरंग प्रकृति का अद्भुत मेल मिलाकर जो कलामय शब्द-चित्र अंकित करते हैं, उनमें सर्वथा विलक्षण आनंद होता है। ऐसे शब्द-चित्र काव्य-कला-उत्कर्ष के रमणीय उदाहरण होते हैं। सच तो यह है कि कविता में बाह्य सौंदर्य के साथ हमें अंतरंग सौंदर्य के भी दर्शन होते हैं, जो बाह्य जगत् के सौंदर्य से कहीं अधिक आनंददायी और मूल्यवान होता है। सुंदर स्थल में सुंदर व्यक्तियों के सत्य-प्रेम आदि अंतरंग सौंदर्य के मेल से जिस निराले सौंदर्य की सृष्टि होती है, वह सर्वथा अतुलनीय है। शृंगार-रसाचार्यों के मत से तो सृष्टि-सृजनकारी रति-भाव के कारण ही सुधांशु अपने रूप-लावण्य की पराकाष्ठा पर आकर समुद्र का हृदय डावाँ-डोल कर देता है। बाल-सूर्य की कोमल किरणें कमलों का द्वार खोल देती हैं। कोकिला की कूक में वसुधा का अभाव भरा शृंगार परिलक्षित होता है। सच तो यह है कि शृंगार और सौंदर्य का अविच्छिन्न संबंध है। प्रकृति की सुंदरता की उपासना शृंगार में ही होती है। सुंदर वन, सुंदर उपवन, सुंदर मंदिर, सुंदर वस्त्र, सुंदर आभूषण, सुंदर वेश-भूषा, सुंदर सामग्री, सुंदर संगीत और वह सब जो 'शिवं सुंदरं' है, उस सबका वर्णन शृंगार में ही पूर्णतया होता है। इसी से आद्य साहित्य-संगीताचार्य भगवान भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' में यह आदेश दिया है—"यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं वा दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृंगारेणोपमीयते।"

हिंदी के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने षट्ऋतु-वर्णन पर पृथक् प्रबंध लिखे है, उनमें प्राकृतिक वर्णनों को मनोहरता और काव्य-कला-उत्कर्ष, दोनों ही दर्शनीय हैं। कविवर श्रीविहारीलालजी ने भी अपने गागर में भरे सागर में—सतसई मे—पट्ऋतुओ का सर्वांगपूर्ण और सुंदर वर्णन किया है। यह कितना श्रेष्ठ है, कितना मनोहर है, एवं इसमें प्राकृतिक वर्णनों का कैसा चरम उत्कर्ष है, इसे मर्मज्ञ देखे। हमारे अनेक ज्ञान लवदुर्विदग्ध सज्जनों को बिहारी-सतसई में प्राकृतिक वर्णनों का अभाव दिखाई देता है। इनका ध्यान हम Imperial Gazetter of India के निम्न-लिखित मत की ओर आकृष्ट करते है—

"He is particularly happy in his description of natural phenomena, such as the scent-laden breeze of an Indian Glooming, the way-worn pilgrim from the Sandal South, a dust, not from the weary road, but from his pollen quest, brow-headed with rose-dew for sweat, and lingering 'neath the trees, resting himself, and inviting others to repose." (Vol. II p. 423)

इसपर अधिक न कहकर मै पाठकों के सम्मुख बिहारीलालजी का ऋतु-वर्णन उपस्थित करता हूँ—

वसंत-वर्णन

छकि रसाल-सौरभ सने मधुर माधवी गंध ;
ठौर-ठौर झौंरत झँपत, भौंर-झौंर मधु-अंध।
(बिहारी-सतसई)

रसाल (आम्र) की सौरभ से सने * माधवी-गंध की मधुरता से छककर भ्रमरों के झुंड जो मधु से अंधे हो रहे है—उन्मत्त हो रहे है—ठौर-ठौर 'झौरते' हैं, और आनंद-विह्वल हो 'झँपते' हैं। इसमें

वासंती पुष्प-वृद्धि एवं पुष्पों के पराग के साथ-साथ स्थान-स्थान पर भ्रमरों की गुंजार बड़ी सुहावनी कथित की गई है। भ्रमरों की अवस्था का भी सुंदर वर्णन है। फिर भाषा कितनी नियंत्रित और अर्थ-गांभीर्ययुक्त है। वीप्सा और छेकानुप्रास का तो अपूर्व संघट्टन है।

इस दोहे की शब्द-समृद्धि कई हिंदी-कवियों ने अपनाई है। कवि किशोर लिखते हैं—

आमन के भौंर लागे, अँकुरन मौर लागे,
भौंर लागे झँपन, बसंत आयो अब री।

कोई दिवाकर कवि लिखते हैं—

ब्रज में बसंत, राग बाग में बसंत,
बन-बेलिन बसंत सरसंत आमै बौर में;
भनत 'दिवाकर' समीर नीर तीर-तीर,
बनिता बसंत करि दीन्हीं और तौर में।
ठौर-ठौर कोकिला को बोल अनमोल भयो,
बगरो बसंत है मलिंदन के भौंर में;
और-और लौर-लौर घर-घर जहाँ-तहाँ,
कियो है बसंत सलसंत सब दौर में।

---

* माधव-गंध से वसंत-काल के विकसित कुसुमों की सुगंधि से तात्पर्य है। महाकवि कालिदास ने महाकाव्य रघुवंश में राम-लक्ष्मण को 'मधुमाधवाविव' लिखा है। माल्लिनाथजी ने मधु माधव की टीका में चैत्र-वैशाख लिखा है। प्राचीन कवि मधु-माधव मास को वसंत-ऋतु मानते हैं। कालिदास आदि के समान बिहारीलालजी भी मधु-माधव मास-द्वय को ही वसंत मानते हैं।

कवि देव ने लिखा है—

माधुरी झौंरनि आम के बौरनि
भौंरन के गन मंत्र - से बाँचैं।

पर इनमें से एक भी बिहारीलालजी के वर्णन को नहीं पहुँच सका। 'ठौर-ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु-अंध' में जो बात है, जो काव्य है, जो शब्द-समृद्धि है, उसे देव आदि नहीं ला सके, नहीं ला सके।

दिसि-दिसि कुसुमित देखिए उपवन-विपिन-समाज ;
मनहुँ वियोगिन को कियो सर-पिंजर ऋतु-राज।
(बिहारी-सतसई)

दिशा-दिशा में हर जगह कुसुमित उपवनों और वनों को देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो ऋतु-राज वसंत ने अभागे वियोगियो के प्राण लेने को सर-पिंजर बनाया हो।

'सर-पिंजर' तीरों के उस पिंजड़े को कहते हैं, जिसमें व्याधा पक्षियों को फँसाकर उनके प्राण हरण करता है। इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने सिद्धास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा का किस विदग्धता से वर्णन किया है, यह देखिए। प्रत्येक दिशा मे कुसुमित उपवनों और वनों को 'सर-पिंजर,' ऋतु-राज वसंत को व्याधा और वियोगियों को विहंग बनाकर बिहारीलालजी ने प्रशंसनीय उत्प्रेक्षा कही है।

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि ;
फूल्यो देखि पलास-बन, समुहैं समुझि दवागि।
(बिहारी-सतसई)

वन में फूले हुए पलाश को देखकर और उसे (लाल रंग का होने के कारण) दावाग्नि समझकर नवीन पथिक (क्योंकि नवीन-

पथिक ही अनुभव-शून्य होने के कारण अपनी-अपनी प्राणप्रिया को छोड़कर यात्रा करने निकले थे। उन्हें इतना विदित नहीं था कि कहीं कोई वसंत-ऋतु में भी अपनी प्रणयिनी को छोड़कर यात्रा करने निकलता है।) चकित चित्त से घर की ओर फिरकर (मुड़कर) भाग चले।

इस वर्णन में पथिक को विकसित पलाश-पुष्प देखने से कामोद्दीपन हुआ है, और प्रियतमा का वियोग उसे असह्य हो उठा है। उसके हृदय में वियोगानल से दाह होने लगी है। वह अनुभव-शून्य नवीन पथिक उस दाह का कारण पलाश पुष्पों को जानता है; अतएव विकसित पलाश को दावाग्नि समझता है।

कितना समीचीन वर्णन है, इसे सहृदय देखें। अलंकारवाले इसे भले ही 'भ्रांति' कहें, पर प्रेमी जन इसे बिलकुल स्वाभाविक कहेंगे।

इस भाव पर अनेक कवियों ने रचना की है। दो-चार की वानगी देख लीजिए।

बिहारीलालजी के भावों को अपनाकर नवीन छंद गढ़नेवाले देव कवि लिखते हैं—

बैरी बसंत के आवन में वन बीच दवानल-सी प्रजरैगी ;
फूले पलास के डारन की डरि बेर डरावन डीठि परैगी।

कहना न होगा कि देव का यह वर्णन बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख बिलकुल निष्प्रभ है।

नरेश कवि कहते हैं—

हाय! न कोऊ तलास करै, ये पलासन कौने दवॉर लगाई?

पलाश के दवॉरवाली बात नरेश ने भी कही है, पर बिहारीलालजी का वर्णन तो निराला ही है।

इसी भाव पर भुवनेश कहते हैं—

बीस बिसै बन फूले पलासन देखि अँगारन सों दहि जायगी।

इस वर्णन में भी बात तो वही है, पर बिहारीलालजी की वह काव्य-कुशलता और वर्णन की वह उत्कृष्टता इसमें भी नहीं है।

कवि मंसाराम ने इसी भाव पर एक उत्तम छंद कहा है—

प्यारे के बियोग आली, उठी आगि वृंदाबन,
जरती सदेह कुंजैं सुंदरी महाँ-महाँ;
बौरे कचनार, आच उठति पलासन तें,
कुसुम करील दीठि परति जहाँ-जहाँ।
'मंसाराम' तिन्हें भेंटि आवति समीर वीर,
तजो जात तन ताती लागति तहाँ-तहाँ;
मृग अघमारे, बिलुलात हैं भँवर कारे,
कोयल हू कोप लै पुकारती कहाँ-कहाँ।"

मंसाराम का यह वर्णन देव और नरेश के वर्णनों से अच्छा होने पर भी बिहारीलालजी के वर्णन को नहीं पहुँचता। बिहारीलालजी के वर्णन में बात ही कुछ और है। फूले पलाश पर सेनापति कवि की उक्ति भी दर्शनीय है। लिखते है—

'सेनापति' माधव-महीना में पलास तरु
देखि-देखि भाव कविता के मन आए हैं;
आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे मानो,
विरही दहन काम क्वैला परचाए हैं।

कविवर सेनापतिजी की उक्ति बहुत ही अच्छी है। खिले और अनखिले पलाश-पुष्पों को आधे सुलगे और आधे अनसुलगे कोयला बनाकर विरही को काम जलाना चाहता है। कहना विदग्धता से खाली नहीं है। उत्प्रेक्षा अच्छी है, भाव सुंदर है। देव आदि कवियों से सेनापति की रचना उत्कृष्ट होते हुए भी बिहारीलालजी

के दोहे की भावोत्कृष्टता को नहीं पहुँचता। बिहारीलालजी के—

फिरि घर को नूतन पथिक चले चकित चित भागि,
फूल्यो देखि पलास बन, समुहें समुझि दवागि।

में जो बात है, जो काव्य है, वह अनुपम है।

रुनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु-नीर;
मंद-मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर।

महाकवि बिहारीलालजी का यह दोहा काव्य-जगत् में खूब प्रसिद्धि पा चुका है। इसके समान सुंदर और पवित्र समअभेद रूपक हिंदी-संसार में कठिनता से मिलेगा। माधुर्य और प्रसाद गुण के विषय में जो कुछ कहा जाय, सो थोड़ा है। इसका अर्थ मैं काव्य-कला-कुशलतावाले अध्याय में दे चुका हूँ। वासंती वायु का ऐसा हृदयहारी वर्णन ढूँढ़े भी न मिलेगा।

इसी दोहे के भाव को अपनाते हुए सैयद गुलामनबी 'रसलीन' कहते हैं—

सरवर माहिं अन्हाइ अरु बाग-बाग बिरमाइ;
मंद-मंद आवत पवन राहंजस के भाइ।

'रसलीन' ने बिहारीलालजी के समीर-कुंजर को देखकर पवन को राजहंस बनाना चाहा, पर इनके वर्णन में न तो बिहारीलालजी के दोहे के सदृश मनोहर भाषा है, न वह काव्य है, न वह भाषा का समुचित नियंत्रण। और, इतने पर भी 'रसलीन' से सीधा-सादा रूपक भी तो न बँध सका। 'राजहंस के भाइ' कहकर रूपक की छटा नष्टप्राय कर दी।

इसी प्रकार का भाव कवि ने अपने निम्न-लिखित कवित्त में व्यक्त किया है—

लसत तमाल तरु असित बिसाल अंग,
चंचरीक घंटावलि सबद सुनायो है ;
पुष्प मकरंदन के झरत अनंत पद,
सीतल पवन मन्द गवन सुहायो है।
नाना खग भीर कीर कोकिल महूत लोग,
लतिका-जँजीर-जाल पॉयन बँधायौ है ;
मदन महीपति को दोरघ दिमागदार
आज ऋतु-राज गजराज बनि आयो है।

यद्यपि इसके और दोहे के भाव में अंतर है, परंतु दोहे की भाव-चोरी इस छंद में स्पष्ट झलक रही है। यह होते हुए भी छंद अच्छा बन पड़ा है। ऋतु-राज को गजराज बनाकर कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। पर इतना तो विवश होकर कहना ही पड़ता है कि यह भी बिहारीलालजी के दोहे को नहीं पाता। वह वर्णन, वह भाषा, वह माधुर्य कुछ और ही है।

चुँवत स्वेद मकरन्द-कन, तरु-तरु तर बिरमाय ;
आवत दच्छिन-देस तें थक्यो बटोही वाय।

इसकी विवेचना मैं काव्य-कला-कुशलतावाले अध्याय में दिखला आया हूँ। यहाँ इतना ही कह देना अलम् होगा कि यह दोहा हिंदी के माथे की बिंदी है।

लगभग इसी प्रकार के भाव पर हारकेश कवि ने अपना यह निम्न-लिखित छंद बनाया है। लिखा है—

मलय गुलाबी हाथ सुमन-पियाले आले,
चटक गुलाब चोख चाखत बिचारो सो ;

कहै 'हरिकेस' मोद चारो ओर छायो जोर,
मधुर अलापै राग ताल कूक भारो सो।
सुनि-मन बसन लथोरे नेह बोरे बलि,
हेर झकझौरे करै कारैं पिय प्यारो सो;
सुरभी-कलार कुंज-सदन सु छाक्यो बॉक्यो,
मन्द-मन्द आवत मरुत मतवारो-सो।

हरिकेशजी का यह छंद सचमुच बड़ा अच्छा है। इसमें रूपक भी बड़ा सुहावना है। वर्णन में भी एक निराला बाँकपन आ गया है।

"कुंज के सदन मे सुरभि के कलार से लेकर मलय के गुलावी हाथों से सुमन के आले प्याले मे मरुत का मकरद-मद्य पीकर मतवाला बनना, फिर मधुर अलाप एव ताल-स्वर-युक्त राग का मुजरा सुनना, पीछे मतवालों के समान मंद-मंद डोलते हुए आना बड़ा ही मनोरम वर्णन है। हरिकेशजी की यह प्रशंसनीय रचना यथार्थ में सुकवि की प्रवीण रचना है।

लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद-मकरन्द;
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद वायु गति मंद।

पुष्पों के पराग रूप सुवस्त्रों से आवृत नवोढा के समान वायु मंद गति से आ रही है। जान पड़ता है, नवोढ़ा के समान अल्हड़पन से चलने के कारण स्वेद-विंदु-रूप में मकरंद झर रहा है। मकरंदविंदु का झरना स्वेद के विंदु हैं। वायु के समान सुकुमार नवोढा के चलने में उसका अंग मकरंद-रूप स्वेद से भींगा हुआ है। तभी तो उसमें भींगी सुगंध और शीतलता है। इस दोहे में नवोढा की उपमा देते हुए शीतल, मद, सुगंधित वायु का वर्णन कवि ने कितनी चतुरता से किया है, इसे मर्मज्ञ देखें। छेक और

वृत्ति अनुप्रास भाषा की शोभा बढ़ा रहे हैं। भाषा का समुचित नियंत्रण भी मनोहर है। यहाँ यह देखिए कि रसिक बिहारीलालजी ने वायु को भी कैसी सुकुमार नवोढ़ा के समान कहा है, जो मंद-मंद चलने में भी मकरंद-स्वेद से सन जाती है। संपूर्ण दोहे में अभेद रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालंकार की छटा है। कैसे मजे में थोड़े में कह गए हैं—

"पुष्प-पराग-पट परिधान किए, स्वेद-मकरंद में सनी वायु नवोढ़ा नारी के समान सुखद, मंद गति से आ रही है।"

इसी दोहे के भाव को लेकर सैयद गुलामनबी 'रसलीन' कहते हैं—

सुमन-सुगन्धन सौं सनी, मन्द-मन्द चलि आय ;
प्रौढ़ा-लौं मन को हरति हिय लगि बरसा-बाय।

दोहा वैसे तो ठीक है, पर बिहारीलालजी के दोहे की तुलना में रक्खा ही नहीं जा सकता। वह बात ही कुछ और है।

बृहद्व्यंग्यार्थ-कौमुदी के रचयिता कविवर गोकुल ने वासंती वायु को नटी के रूप में वर्णन करते हुए निम्न-लिखित सुन्दर छन्द कहा है—

बागन में चारु चटकाहट गुलाबन की,
ताल देत तालिया तुलै न तुक तन्त की ;
गुंजत मलिंद-बृंद तान-सी उपज पुंज,
कलरव गान कोकिलान किलकंत की।
'गोकुल' अनेक फूल फूले हैं रँगे दुकूल,
भूमै आम-बौर हाव-भाव रसवन्त की ;
लहरैं तरुन तरु, छहरैं सुगन्ध मन्द,
नाचत नटी-सी आवै बैहर बसन्त की।

कविवर गोकुल का यह छन्द बहुत ही बढ़िया है। बागों में जो गुलाब की कलियों की चटकाहट है, वही 'तालिया' तान दे रहा है। मलिंद-वृन्द की गुंजार तान की उघट है, कोकिलाओं की कूक कलरव गान है। अनेक रंग के फूले हुए फूल रंगीन वस्त्र हैं, आम्र के बौर का झूमना ही रसीले हाव-भाव हैं। नवयुवक-रूपी तरुण तरुओं को हर्ष से लहराती हुई, प्रफुल्लित करती हुई, मन्द सुगन्ध छहराती हुई यह वसन्त की वायु नटी के समान नाचती-सी आ रही है।

कितना उत्कृष्ट रूपक है। इस छन्द की भाषा भी प्रौढ़ और अनुप्रास-युक्त है। यद्यपि इसमें बिहारीलालजी के दोहे के समान प्रसादगुण नहीं है, और न वैसा हृदयहारी भाव है और न वैसी नाज़ुकखयाली है, फिर भी इसमें रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालंकार और अनुप्रास की छटा बिहारीलालजी के दोहे के समान ही है। साथ-साथ माधुर्य और प्रसाद-गुण भी अच्छा है। पाठक देखें, देव कवि का समीर के वर्णनवाला निम्न-लिखित छन्द इस छन्द के सम्मुख कितना निष्प्रभ है—

अरुन उदोत सकरुन ह्वै अरुन-नैन
तरुनी तरुन तन तूमत फिरत है;
द्रुमन-द्रुमन दल दूमत मधुप 'देव',
सुमन-सुमन मुख चूमत फिरत है।
(देव और बिहारी, पृष्ठ ११५)

इसमें दक्षिण नायक का वर्णन समीर के साथ-साथ करना यद्यपि अच्छा है, परंतु फिर भी शब्दों के प्रयोग शोभनीय नहीं। चूमत में अनुप्रास जोड़ने के लिये तूमत और दूमत लिखना प्रसाद-गुण की हत्या तो है ही, साथ-साथ भाषा की भ्रष्टता भी है। इसे बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे से मिलाकर पढ़िए, और कहिए कि क्या देव बिहारीलालजी की समता के हो सकते हैं।

रह्यो रुक्यो क्यों हू सुचलि आधिक राति पधार ;
रहत ताप सब द्यौस को उर लगि यार बयार ।

दिवाकर कवि बिहारीलालजी के दोहे के भाव और शब्द-समृद्धि का अपहरण करते हुए लिखते हैं—

सुमन रसाल-मकरन्द लपटी है, नीकी.
दच्छिन से आइ सुभ लागति सरीर में ;
मन्द-मन्द चाल से मराल को लजाति जाति.
बपु है पवित्रता नहाए गंग-नीर में ।
सुखद सुहावन लुभावन मुनीस-मन,
नवोढ़ा-सी नारि गति चलै अति धीर में ;
भनत 'दिवाकर' सुधा सों निसि सनी प्रात,
जानी क्या बहार है बसंत की समीर में ।

दिवाकर ने बिहारीलालजी के दोहे से भाव और शब्द-समृद्धि पर प्रगाढ़ आसक्ति प्रदर्शित की है ।

बिहारी	दिवाकर
(१) 'गति मंद'	(१) 'मन्द-मन्द चाल से
(२) लपटी पुहुप-पराग-पट	(२) मकरंदन-लपटिकर
(३) नारि नवोढ-लौं	(३) नवोढा-सी नारि
(४) सुखद	(४) सुखद

इसी को प्रबंधहरण भी कह सकते हैं ।

फाग-वर्णन

इस प्रकार बासंती वायु का वर्णन कर सूक्ष्मदर्शी बिहारीलालजी ने वसन्तांतर्गत होली (फाग) का उत्कृष्ट वर्णन किया है । देखिए, नायिका किस प्रकार होली खेल रही है—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि ;
भरि गुलाल की मूठि तिय गई मूठि-सी मारि।
(बिहारी-सतसई)

काव्य-मर्मज्ञ भावुक देखें कि बिहारीलालजी ने फाग खेलती हुई सुन्दरी नायिका का कैसा चित्र खींच दिया है। विषय के अनुकूल शब्द रखकर सोने मे सुगन्ध ला दी है। भाषा का समुचित नियन्त्रण और भाषा-भव्यता तथा माधुर्य और प्रसाद-गुण कितने सुहावने है। अनुप्रास भी मनोहर हैं। कहते है—

"कोई लज्जाशीला सुन्दरी नायिका 'पीठि दिए ही' थोड़ा मुड़कर (घूमकर) हाथ से घूँघट को कुछ सरकाकर दूसरे हाथ से गुलाल की मुट्ठी भरकर 'मूठि-सी' मार गई।"

लीला-हाव का ऐसा वर्णन कदाचित् ही कहीं मिलेगा।

बिहारीलालजी के इस दोहे पर भी कई कवियों ने हाथ साफ किया है। इसका भाव चुराकर अपने-अपने छन्द बनाए है, पर बिहारीलालजी के वर्णन को नहीं पा सके। कुछ उदाहरण देखिए।

हिंदी-भाषा के सुप्रसिद्ध कवि पद्माकर लिखते हैं—

ये नन्दगाँव तें आए यहाँ,
उत आई सुता वह कौन हू ग्वाल की,
त्यों 'पदुमाकर' होत जुरा-जुरी
दोउन फाग रची इहि ख्याल की।
दीठि चली उनकी इनपै,
इनकी उनपै चली मूठि उताल की ;
दीठि-सी दीठि लगी इनके,
उनके लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की।

पाठक देखें, कविवर पद्माकरजी ने बिहारीलालजी के दोहे को किस प्रकार अपनाया है। भाव तो ठीक ही पदहरण तक किया है,

फिर भी विहारीलालजी के उस वर्णन को कहाँ पा सकते हैं। बिहारीलालजी के—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि।

में जो बात है, उस तक पद्माकरजी पहुँच ही न सके। गुलाल की मूठि-मूठि-सी मार गई, या गुलाल की मूठि मूठि-सी लगी में एक ही बात है।

सुप्रसिद्ध कवि गिरिधरदास या गिरिधारनजी विहारीलालजी के दोहे का भावापहरण करते हुए लिखते हैं—

डारत ही 'गिरिधारन' दीठि अबीरन के कन साथ लुठी है;
मोहन के मन मोहन को भटू मोहनी मूठि-सी तेरी मुठी है।

गिरिधारनजी मोहनी विशेषण भले ही जोड़ दें, पर 'मूठि-सी मुठी' इस बात की सदैव साक्षी देता रहेगा कि उनके छन्द की भाव-समृद्धि और यह सुन्दर सूझ विहारीलालजी के दोहे से ली गई है। गिरिधारनजी का वर्णन तो पद्माकरजी के वर्णन से ही बहुत नीचा है।

छुटत मुठिन सँग ही छुटो लोक-लाज, कुल-चाल;
लगे दुहुनि इक सँग ही चलचित नैन गुलाल।
दियो जु पिय लखि चखनि में खेलत फाग खियाल,
बाढ़त है अति पीर सुन काढ़े हू सु गुलाल।

(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारीलालजी के दोनो दोहे सरल और सुस्पष्ट हैं। पाठक स्वयं देखें, इन दोहों में प्रेम का कैसा अच्छा वर्णन है। गुलाल के निकल जाने पर भी प्रेम कम नहीं होता। 'नैन' में गुलाल के साथ-साथ गुपाल भी तो लगे थे। गुलाल निकल गई, तो क्या हुआ, गुपाल तो नहीं निकले।

बिहारीलालजी के इन दोनो दोहों का कतरन लेकर पद्माकरजी ने अपने इस प्रसिद्ध छंद की रचना की है। देखिए—

एकै संग धाए नँदलाल औ' गुलाल दोऊ,
दृगन गए हैं भरि आनँद मढ़ै नहीं ;
धोय - धोय हारी 'पदुमाकर' तिहारी सौंहैं,
अब तो उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं ।
कहाँ जाऊँ, कासों कहौं, कौन सुने मेरी पीर,
कोऊ तो निकासौ जासों दरद बढ़ै नहीं ,
एरी मेरी बीर, जैसे-तैसे इन आँखिन तैं,
कढ़िगो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं ।

पद्माकरजी का यह छंद भाषा-काव्य-जगत् में बहुत प्रसिद्ध है। लोग इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं अघाते। पर इसमें पद्माकर की करतूत नीचे देखिए—

लगे दुहुनि इन संग ही चलचित नैन गुलाल ।
(बिहारी)

एकै संग धाए नँदलाल औ' गुलाल दोऊ
दृगन गए हैं भरि आनँद मढ़ै नहीं ।"
(पद्माकर)

' बाढ़त है अति पीर सुन काढ़े हू सु गुलाल
(बिहारी)

एरी मेरी बीर, जैसे-तैसे इन आँखिन तैं
कढ़िगो अबीर, पै अहीर को कढ़ै नहीं ।
(पद्माकर)

पर इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारीलालजी के दोहे की—
छुटत मुठिन सँग ही छुटी लोक-लाज, कुल चाल ।
वाली बात पद्माकर नहीं ला सके ।

गिरै कंपि कछु, कछु रहै कर पसीज लपटाइ ;
डारत मुठी गुलाल की छुटति झुँठो ह्वै जाइ।

(बिहारी-सतसई)

कोई प्रेमिका नायिका अपने प्रियतम के साथ फाग खेलने आई है। वह मुट्ठी में गुलाल भरकर नायक पर फेंकना चाहती है, पर उसे नायक-दर्शन से सात्त्विक होता है। अतएव हाथ काँपने से कुछ गुलाल गिर जाता है। जो थोड़ा-सा शेष रह जाता है, वह सात्त्विक होने के कारण स्वेद की उत्पत्ति से हाथ के पसीजने पर हाथ से लपटकर रह जाता है। इस प्रकार नायिका यद्यपि साहस करके गुलाल की मूठि प्रियतम पर फेंकती है, पर उसका गुलाल फेंकना झूठा हो जाता है। गुलाल प्रियतम तक पहुँचता ही नहीं।

हिंदी-भाषा के आचार्य कविवर रघुनाथ ने भी फाग में सात्त्विक होने का वर्णन किया है। देखिए—

फागु मची बरसाने के बाग में,
पूर रहो थल तान-तरंग सों ;
गोप-बधू इत ठाढ़ी गुपाल,
उतै 'रघुनाथ' बढ़े सब संग सों।
घूँघट टारि, सखीन की ओट ह्वै
प्यारी चलाई जो प्रेम उमंग सों ;
लागी तो मूठि अबीर की आय,
पै प्यारो अन्हाइ गयो उहि रंग सों।

रघुनाथ ने नायक को सात्त्विक होने का वर्णन किया है। नायिका ने मुट्ठी में भरकर नायक पर गुलाल फेंका। नायक गुलाल से सराबोर हो गया। रघुनाथ का छंद भी बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख नहीं ठहरता। बिहारीलालजी के—

पीठि दिए ही नेक मुरि, कर घूँघट-पट टारि ;
भरि गुलाल की मूठि तिय गई मूठि-सी मारि।

में जो बात है, जो वर्णन है, वह क्या रघुनाथ के—

घूँघट टारि, सखीन की ओट ह्वै
प्यारी चलाई जो प्रेम उमंग सों ;

में स्वप्न में भी है।

संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ कविवर पं० अंबिकादत्त व्यास ने भी फाग में सात्त्विक होने का वर्णन किया है। वह भी देखिए—

आजु की बात कहा कहौं मैं,
मुख सों कछु हू कहो जात न प्यारी
साध सबै मन की मन ही रही
ऐसी कछू बिधि बात बिगारी ;
'अंबिकादत्त' जू जादू करयो
जनु मैं अपनी सुधि हाय बिसारी,
देखत ही मनमोहन को मुख
हाथ सों छूटि परी पिचकारी।

अंबिकादत्तजी कहते हैं कि नायिका ने जैसे ही मनमोहन का मुख देखा, वैसे ही उसे सात्त्विक कंप हुआ, और उसके हाथ से पिचकारी छूट पड़ी। इसका उसे दुःख हुआ, इसीलिये वह अपनी सखी से कहती है कि मनमोहन के साथ फाग खेलने की मेरी साध मन में ही रह गई। इसमें सात्त्विक होने का वर्णन कुछ बुरा नहीं है, पर बिहारीलालजी के समान कवित्व की कमनीयता इनके छंद में कहां ? आ ही कैसे सकती है ?

फगुआ वर्णन

फाग के समय ब्रज की स्त्रियाँ किसी सम्माननीय पुरुष को पकड़ लेती हैं। उन्हें कुछ ले-देकर अपना पिंड छुड़ाना पड़ता है।

इस अवसर पर जो कुछ दिया जाता है, उसे व्रज के लोग 'फगुआ' कहते है। बुंदेलखंड के कई स्थानों मे भी इसका रिवाज है। फगुआ का वर्णन हिंदी के दो-चार कवियों ने ही किया है। विहरीलालजी ने वसंत-ऋतु, वासंती वायु, फाग और फगुआ, सबका बड़ा ही मनोहर और क्रमवार वर्णन किया है। लिखते हैं—

ज्यों-ज्यों पट झटकति, हठति, हँसति, नचावति नैन,
त्यों-त्यों निपट उदार हूँ फगुआ देत बनै न।
(विहारी-सतसई)

ज्यों-ज्यों कोई सुंदरी मोहनी नायिका नायक के वस्त्र के छोर को पकड़कर झटकती है, फगुआ लेने के लिये हठ करती है, उसके हास्य-पूर्ण वचनों पर हँसती और नेत्रों को नचाती है, त्यों-त्यों उस नायक को उसके हाव-भाव और भ्रू-विलास देखकर बड़ा आनंद प्राप्त होता है। अतएव वह वहुत उदार होंने पर भी फगुआ नहीं देता। दे भी कैसे ? फगुआ दे देने पर नायिका की क्रीड़ाओं का अंत हो जायगा, और वह रसिक उसकी विलास-मयी चेष्टाओं पर ही रीझ रहा है।

धन्य हैं रसिक बिहारीलालजी! नायिका के हाव-भावादि पर निपट उदार नायक को रिझाकर फगुआ देने में विलब कराते हुए तुमने जो शृंगार-रस का स्रोत वहाया है, उसे रसिक प्रेमी ही जान सकते है।

हिंदी के कवियों के दो उत्तम छंद फगुआ-वर्णन के और हैं, जिन्हें पाठकों के अवलोकनार्थ उद्धृत करने का लोभ मै संवरण नहीं कर सकता। वे दोनों ये है—

मधुर मधुर मुख मुरली बजाय धुनि
धाम-धाम धमकि धमारन की कै गयो
कहै 'पदमाकर' त्यों अगर-अबीरन की
करिकै घलाघली, छलाछली चितै गयो

को है वह ग्वालिनि गुवालन के संग में
सुअंग छबिवारी रस रंग में भिजै गयो,
ब्वै गयो सनेह-बीज, छ्वै गयो छरा को छोर,
फगुआ न दै गयो, हमारो मन लै गयो
(पद्माकर)

पद्माकरजी ने मधुर आनुप्रासिक भाषा में फगुआ का साधारणतया अच्छा वर्णन किया है। प्रसाद-गुण भी पद्माकरजी के छंद में यथेष्ट है। लिखते हैं—

ब्वै गयो सनेह-बीज, छ्वै गयो छरा को छोर
फगुआ न दै गयो, हमारो मन लै गयो।

यह वर्णन भी विदग्धता से खाली नहीं है। वश में आए हुए नायक का 'सनेह-बीज' बोकर और 'छरा को छोर' छूकर बिना फगुआ दिए भाग जाना लिखना ठीक है, पर पद्माकरजी के छंद का नायक कदाचित लोभी है, जान पड़ता है, वह फगुआ देने के डर से प्राण बचाकर भाग गया। पर बिहारीलालजी के दोहे का नायक निपट उदार है। वह भी फगुआ नहीं देता, पर उसे लोभ नहीं है। वह केवल नायिका की सुखद चेष्टाओं को देखने का इच्छुक है। तात्पर्य यह कि पद्माकर ने बिहारीलालजी के भाव का 'लह्यो न आधौ आध'।

कवि ब्रजचंद्रजी ने भी फगुआ का अच्छा वर्णन किया है। देखिए, कोई सखी अपने साथ श्रीकृष्ण से फाग खेलनेवाली नायिका से कहती है—

खेलति फाग जो मेरी भटू,
इनसों बड़े चाव सों बावरी तू है
केसरि के रंग की भरि सुंदरि,
डारति कामरी पै पिचकै है,

त्यों ब्रजचंद जू साँवरे गातनि,
नावै सुगंधन की लपटैं है।
जो मँगुआ दधि-माखन के,
सो कहो कहँ तैं फगुआ तुहि दैहैं।

"हे सखी, जो तू इन श्रीकृष्ण से बड़े चाव से फाग खेलती है, सो तेरा यह पागलपन है। हे सुंदरी, तू काली कमली पर केशर के रंग की पिचकारियाँ व्यर्थ ही डालती है। साँवरे शरीर पर सुगंधि की लपटों से भरे हुए द्रव्य को डालना भी मुझे उचित नहीं जान पड़ता। यदि तू यह सब इनसे फगुआ लेने की आशा से करती है, तो तेरा यह काम बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि ये कृष्ण जो दधि और माखन के माँगनेवाले हैं, तुझे फगुआ कहाँ से देंगे?'

इसमें कवि का भाव बड़ा ही मनोरम है। उक्ति भी भक्ति-भाव एवं प्रेम-रस से भरी हुई व्यंग-पूर्ण एवं मनोहर है। कथन-शैली में भी बाँकपन है, पर बिहारीलालजी के दोहेवाली बात इसमें भी नहीं है।

अब नायक और नायिका का जमकर होली खेलना भी देख लीजिए।

रस भिंजए दोऊ दुहुन तउ टिक रहे, टरैं न ;
छबि सों छिरकत प्रेम-रँग भरि पिचकारी-नैन।

(बिहारी-सतसई)

"यद्यपि रस (आनंद) से नायक-नायिका दोनों ने दोनों को तर कर भिंगो दिया, तो भी वे 'टिक रहे' उनमें से कोई भी हटता नहीं। 'छबि सों' 'नैन पिचकारी' में 'प्रेम-रंग' भर कर 'छिरकत' हैं।

इस दोहे में पाठक देखें कि नायिक और नायिका नेत्र-रूपी पिचकारियों में प्रेम-रूपी रंग भर-भरकर किस प्रकार एक दूसरे पर डाल रहे हैं, और फिर भी रस से सराबोर होने पर भी, दोनों में

से एक भी टलता नहीं। आनंद में मग्न तथा रस में सराबोर होना कितना सुहावना है। नेत्रों में पिचकारी और प्रेम में रंग का रूपक बाँधना बड़ा ही विदग्धता-पूर्ण है। प्रेम-रंग भाषा-साहित्य में बहुत प्रचलित है। प्रचलित शब्दों में ऐसा उत्कृष्ट रूपक बाँधना बिहारीलालजी-सदृश महाकवियों का ही काम है।

जान पड़ता है, महाकवि बिहारीलालजी के इसी दोहे का भावापहरण करके पद्माकरजी ने अपना निम्न-लिखित छंद बनाया है। देखिए—

या अनुराग की फाग लखो,
जहाँ रागत राग किसोर-किसोरी।
त्यों 'पदमाकर' घाली घली फिर,
लालहिं लाल गुलाल की झोरी।
जैसी - की-तैसी रही पिचकी कर,
काहू न केशर रंग में बोरी;
गोरिया के रँग भींजिगो साँवरो;
साँवरे के रँग भींजिगी गोरी।

बिहारीलालजी के दोहे की अपेक्षा पद्माकरजी की भाषा मनोरम और शब्दालंकार-युक्त है। परंतु भाव, जो काव्य का प्राण है, पद्माकरजी के छंद में वैसा उत्कृष्ट नहीं आया, जैसा बिहारीलाल-जी के दोहे में है। बिहारीलालजी की अनुराग की फाग सचमुच अनुराग की फाग है। पद्माकरजी ने अनुराग की फाग में केशर और गुलाल लिखकर अपनी हीनता दिखला दी। बेचारे करें, तो क्या करें।

सिद्ध सारस्वतीक, अपूर्व-प्रतिभा-संपन्न महाकवि बिहारीलाल-जी की समता करना हँसी-खेल नहीं है।

ग्रीष्म-वर्णन

अब ग्रीष्म का वर्णन देखिए। ग्रीष्म का वर्णन भी बिहारीलाल-

जी ने बड़ा ही मनोरम और सच्चा किया है। इस दोहे के भाव को भी हिंदी के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कविवरों ने अपनाया है। विस्तार-भय से केवल दो-एक उदाहरण ही दूँगा।

नाहिं न ये पावक प्रबल लुएँ चलति चहुँ पास;
मानो विरह बसंत के ग्रीषम लेति उसास।

(बिहारी-सतसई)

"हे सखी! यह प्रबल पावक नहीं है, जिसकी आँच असह्य हो रही है। यह तो चारों ओर से लू चल रही है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, मानो ऋतुराज वसंत (रूपी नायक) के विरह में ग्रीष्मऋतु (रूपिणी प्रोषितपतिका नायिका) जो उसास लेती है-गर्म आहें भरती है—उसी की 'तपन' के कारण यह वायु-मंडल गर्म होकर इतना दाहक हो रहा है।"

इस दोहे में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार में विहारीलालजी ने ग्रीष्म-ऋतु को विरहिणी नायिका और ऋतुराज वसंत को नायक बनाकर अपनी विलक्षण प्रतिभा और प्रगाढ़ पांडित्य का परिचय दिया है। ग्रीष्म की भीषण ज्वाला का भी प्रबल पावकमें भ्रांत्यापह्नुति का आश्रय लेकर आरोप किया जाना कुछ कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। प्रबल पावक के समान ग्रीष्म की लू का वर्णन करके विहारी-लालजी ने ग्रीष्म की मध्याह्नवायु की रोमांचकारी भीषणता दिखलाई है। इस दोहे के भाव पर अनेक कवियों ने छंद बनाए हैं, पर विस्तार-भय से उन्हें यहाँ नहीं देता।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ;
जगत तपोबन-सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ।

(बिहारी-सतसई)

कहते हैं, महाकवि विहारीलालजी ने किसी चित्रकार के चित्र को देखकर यह दोहा कहा था। साहित्य-संसार में यह खूब ही

प्रसिद्ध है। इसके भाव को अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने अपनाया है। इसके उदाहरण अनेक मिलेंगे।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन मन माँहँ ;
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँहँ।
(बिहारी-सतसई)

कितनी उत्कृष्ट रचना है। जेठ की दुपहरी का कैसा सच्चा और रोमांचकारी वर्णन है। जेठ की 'दुपहरी' (मध्याह्न) को देखकर छाँह भी छाँह चाहती है। ठिकाना है इस भीषण ताप का ! भाषा की सुंदर सजावट पर भी एक दृष्टि कीजिए—बैठि, पैठि, सघन, सदन, बन, मन, माँहँ, देखि, दुपहरी, छाँहौ, छाँहँ में जो भाषा-माधुर्य और शब्द-वैचित्र्य है, उसकी प्रशंसा जितनी की जाय, थोड़ी है। भाषा-सौंदर्य में, ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में भाषा की दृष्टि से, बिहारीलालजी का आसन सबसे ऊँचा है।

कविवर सेनापतिजी, जिनका ऋतु-वर्णन हिंदी-काव्य-जगत् में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, इसी प्रकार का भाव अपने एक छंद में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

वृष को तरनि-तेज सहसौ किरनि करि
ज्वालनि के जाल विकराल बरसतु हैं,
तचत धरनि, जग जरत झरनि सीरी,
छाँहँ को पकरि पंथी पच्छी बिरमतु हैं।
'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत
धाम को विषम यों न पात खरकतु हैं ;
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनो
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवतु हैं।

सेनापतिजी के छंद की भाषा अनुप्रास-पूर्ण होने पर भी बिहारी-लालजी के दोहे की भाषा को नहीं पहुँचती, यह स्पष्ट है। तुकांत

भी निकृष्ट कहे जाने योग्य है। तुकांत में एकवचन 'है' और बहुवचन 'हैं' का प्रयोग श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। फिर—

'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत,
घाम को बिषम यों न पात खरकतु हैं।

यह वर्णन अशुद्ध है। 'होत' पूर्वार्ध में न आकर उत्तरार्ध में 'होत घाम को बिषम' के साथ में रक्खा जाना चाहिए था, तब प्रबंध-योजना अच्छी कहलाती। 'होत घाम को बिषम' भी अपूर्ण है। विषम क्या ? यह नहीं लिखा। घाम का विषम क्या होता है ? इसके अभाव के कारण न्यून-पद-दोष है। वहाँ विषम विशेषण के साथ 'प्रकोप' आदि विशेष्य का उल्लेख आवश्यक था। 'घाम को विषम' के स्थान में यदि 'घाम की विषमता' का प्रयोग होता, तो वर्णन ठीक हो जाता। 'सहस्र' का 'सहसौ' भी बेहद तोड़-मरोड़ है। भाषा की तोड़-मरोड़ के साथ-साथ न्यून-पद-दोष और दुष्प्रबंध-दूषण भी सेनापतिजी के छंद के सौंदर्य को नष्ट कर रहे हैं। फिर भाव में भी 'छाँहौ चाहति छाँह' वाली बात सेनापतिजी नहीं ला सके हैं। वैसे सेनापतिजी के छंद में वृष-राशि-स्थित सूर्य की ताप का अच्छा वर्णन है। उस काल में जीव-जंतुओं की स्थिति का भी सामान्यतः स्वाभाविक चित्रण है।

जल-विहार

ग्रीष्मांतर्गत जल-विहार का भी बिहारीलालजी ने अच्छा वर्णन किया है। यहाँ मैं दो दोहे उद्धृत करता हूँ। देखिए—

लै चुभकी चलि जाति जित-जित चल-केलि-अधीर
कीजत-केशर नीर से तित-तित के सर-नीर।
(बिहारी-सतसई)

"सरोवर में डुबकी लगाकर जल-केलि में अधीर हुई नायिका जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ के उस सरोवर के जल को अपने

अंग की आभा से वह केशर घुले हुए जल के समान कर देती है।

नायिका के अंग-प्रत्यंग की केशर समान कांति है, अतएव उसके अंग की आभा से सरोवर का निर्मल जल केशर घुले हुए जल के समान हो जाता है। दोहे की भाषा कैसी सुंदर है। शब्द-समृद्धि के बल से बिहारीलालजी ने दोहे में एक-निराला चमत्कार बिना शब्दों को तोड़े-मड़ोरे भाषा के सहज सौंदर्य को अक्षुण्ण रखते हुए, ला दिया है। केशर-नीर और केसर-नीर में यमक है। जित-जित और तित-तित में वीप्सालंकार की छटा है। तथा लै, चली, जल और केलि में वृत्त्यानुप्रास की बहार है। माधुर्य और प्रसाद-गुण पर तो बिहारीलालजी का एकाधिपत्य जान पड़ता है।

कोई सखी किसी दूसरी सखी से कहती है—

छिरकौ नाह नवोढ़ दृग कर-पिचकी जल जोर ;
रोचन-रँग-लाली भई वियं तिय लोचन-कोर।

(बिहारी-सतसई)

"पति ने हाथ की पिचकारी से इस नवोढ़ा पत्नी के नेत्रों में जल छिड़का। पर उस दूसरी स्त्री अर्थात सपत्नी के नेत्रों के कोए में (सौतिया डाह के कारण ईषत् क्रोध से) गोरोचन के रंग की लाली हो गई।"

यह दोहा भी काव्य-कला-कुशलता का उत्तम उदाहरण है। नवोढा के नेत्रों में जल छिड़का पर लाल हुए सपत्नी के नेत्रों के कोए, अतएव असंगति अलंकार है। नाह, नवोढ़, जल, जोर, रोचन, रंग, लोचन, लाली एवं वियं और तिय में भाषा-माधुर्य और छेकानुप्रास की अद्भुत छटा है। लोचन की लाली को गोरोचन की लालिमा कहना कवि के व्यापक ज्ञान का साक्षी है।

विस्तार-भय से मैं ग्रीष्म-वर्णन को यहीं समाप्त करता हूँ।

पावस-वर्णन

बिहारीलालजी ने अन्य हिंदी-कवियों के समान पावस-ऋतु का

वर्णन कुछ विस्तार से कहा है। पर हम यहाँ दो-चार दोहे उदाहरण-स्वरूप उद्धृत करते है। पावस का भी कैसा सांगोपांग वर्णन कविवर बिहारीलालजी ने किया है, यह दर्शनीय है।

धुरवा होंहि न अलि, उठे धुआँ धरनि चहुँ कोद
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद।
(बिहारी-सतसई)

कोई विरहिणी नायिका पावस को देखकर अपनी सखी से कहती है—

"हे सखी, ये धुरवा नहीं है। पृथ्वी में चारों ओर से धुआँ उठ रहा है। (यहाँ धुएँ के रंग के धुरवाओ को धूम्र बनाना बड़ा ही संगत है।) ऐसा जान पड़ता है कि पावस-ऋतु का प्रथम मेघ-मंडल जगत को जलाता हुआ आ रहा है।"

इस दोहे में कवि की उक्ति बड़ी ही अनूठी है। आर्द्रता प्रदान करनेवाला मेघ-मंडल विरहिणी नायिका को प्रियतम के विरह में दाहक जान पड़ता है। धुरवाओं को वह धूम्र समझती है। इसमें एक बात बहुत ही सुंदर है। प्रकृति का अवलोकन और प्राकृतिक वर्णन अनूठा है। चारोओर धुरवा और मेघ-मंडल का दृश्य बरसात में बड़ा ही सुहावना होता है। विरहिणी भले ही उसे दाहक समझे। दूसरे पक्ष में पावस का प्रथम मेघ-मंडल संसार को दग्ध करता है, कहना भी बिलकुल ठीक है। निदाघ की दीर्घ दाघ से तप्त धरातल पर आषाढ़-मास के प्रथम मेघ जब घिरते है, तब असह्य उष्णता होती है। गर्मी इतनी अधिक बढ जाती है कि निदाघ की दाघ भी उसके समक्ष कुछ भी नहीं जान पड़ती। तप्त पृथ्वी में से प्रथम वर्षा होने पर 'भभूकें' निकलती है। अतएव बिहारीलालजी का 'जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद' कहना बिलकुल ठीक है। इसमें प्रकृति का अच्छा अवलोकन है।

कौन सुनै ? कासौं कहौं ? सुरत बिसारी नाह ;
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ।
(बिहारी-सतसई)

नायिका विरह से व्याकुल हो रही थी। वर्षा-ऋतु के बादलों की ओर देखने से उसकी वेदना और बढ़ भी गई। वह कहती है—

"कौन सुनता है ? किससे कहूँ ? स्वामी ने सुधि भुला दी है। अब ये 'बदराह' 'बदरा' बदाबदी (होड़ा-होड़ी) प्राण लेते है।"

इस दोहे में भाषा के समुचित नियंत्रण, भाषा-माधुर्य, शब्दालंकार और स्वाभाविकोक्ति पर ध्यान दीजिए। जो बात एक कवित्त में कठिनाई से कही जा सकती है, उसी को एक छोटे-से दोहे में और उसे भी इतने अनूठे ढंग से कहना बिहारीलालजी का ही काम है। इस दोहे की द्वितीय पंक्ति की भाषा कई कवियों ने अपनाई है।

सुप्रसिद्ध कवि लाल कहते हैं—

बेदरद बैरी बद बदरा बड़े ही बुरे,
नितप्रति तासों प्रान कैसे के बचाए हैं।

हनुमंत कवि कहते हैं—

गावन मोंहिं सुहात नहीं
बदरा बदराह लगे जुरि धावन।

एक और कवि महाशय लिखते हैं—

काह कहौं सखि, नाह बिना
अब ये बदरा बदराह बतावत।

इस प्रकार और भी अनेकों ने किया है। बिहारीलालजी के इसी दोहे के भाव पर सुप्रसिद्ध शृंगारी कविवर बोधा ने अपना यह छंद बनाया है—

ऋतु-पावस स्याम घटा उनई,
लखिकैं मन धीर धिरातो नहीं ;
धुनि दादुर - मोर - पपीहन की
सुनिकैं छिन चित्त थिरातो नहीं।
जब तें बिछुरे कवि 'बोधा' हितू,
तब तें उर - दाह बुझातो नहीं ;
हम कौन तें पीर कहैं जिय की,
दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि बोधा कवि की इस रचना मे सहृदयता और भावुकता के साथ-साथ भाषा का स्वाभाविक प्रवाह बड़ा ही मनोरम है। छंद हृदय पर आघात करता है, पर फिर भी 'कौन सुने ? कासों कहौ ?' में जो करुणा का भाव है, जो नैराश्य है, जो हृदय-तल को हिला देनेवाली बात है, वह 'हम कौन तें पीर कहैं जिय को, दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं' में कहाँ है ?

बिरह-जरी लखि जीगननि, कहो सु उहि कै बार;
अरी आव भगि भीतरै, बरसत आज अँगार।
(बिहारी-सतसई)

"विरह-दग्ध कामिनी ने जुगनुओं को देखकर कितनी बार अपनी सखियों से कहा कि अरी सहेलियो, आज अँगार बरसते है, उठकर भीतर आ जाओ।"

जुगनुओं की चमक में अंगारों की वर्षा का आरोप खूबी से किया गया है। बिहारीलालजी के इसी भाव पर कोई करनेश या परमेश कवि कहते हैं—

कहैं 'करनेश' (परमेश) चमकति जुगनु नचाय,
मेरे मन आई ऐसी उक्ति अनुमान ते ;

विरही दुखारे तिन पर क्रूर दई मारे,
मानो मेघ बरसत अँगारे आसमान ते।

इन्होंने तो गजब ढा दिया। दूसरे की उक्ति को कितने गर्व से अपना अनुमान कह रहे है।

हिंडोला-वर्णन

हेरि हिंडोरे गगन तैं परी परी-सी टूटि;
धरी धाय पिय बीच हीं, करी खरी रस-लूटि।
(बिहारी-सतसई)

कोई अप्सरा के समान सौंदर्यवती, नवयौवना नायिका हिंडोले पर आनंद से झूल रही थी कि अकस्मात् उसका पति आ पहुँचा। पति को देखकर उस सुंदरी को सात्त्विक भाव हुआ, और सात्त्विक में कंप होने से वह हिंडोले से गिर पड़ी। उस समय की अवस्था-विशेष का वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

"नायिका को हिंडोले-रूपी गगन से परी के समान धरा-मंडल पर नीचे आते हुए देखकर पति ने दौड़कर उसे बीच में ही 'धरी' (पकड़ी), और 'खरी रस-लूट करी'।"

इस दोहे में हिंडोले को गगन और नायिका को परी बनाकर बिहारीलालजी ने काव्य के साँचे में जिस अनूठे ढंग से उतारा है, वह सर्वथा स्तुत्य है। 'परी परी-सी टूटि' की उपमा और 'हिंडोरे गगन' का रूपक दोनों ही चमत्कार-पूर्ण है।

इसी भाव पर, इसी दोहे के पदहरण करके, कवि तोप लिखते हैं—

रावटी तिमहले की बैठी छबिवारी बाल,
देखति तमासो गुड़ि आलिनि लगायो है;
परि गयो नजर हरिन-नैनी जू के हरि,
हरि हू ने तिरछि कटाछहिं चलायो है।

मन सरवरी तरफ़र गिरी परी ऐसी,
बीच हरि धरि खरी लूटि रस पायो है;
सास-नंद धाइ आईं पायँ गहैं कहैं 'तोष'
आज ब्रजराज घर ऊजरो बसायो है।

इतना तो स्पष्ट ही है कि बिहारीलालजी की भाषा तोष के छंद में बहुत ही ढीली-ढाली हो गई है।

बिहारी	तोष
(१) परी परी-सी टूटि	(१) गिरी परी ऐसी
(२) धरी धाइ पिय बीच हीं करी खरी रस-लूटि।	(२) बीच हरि धरी खरी लूटि रस पायो है।

तोष के छंद में 'रावटी तिमहले को' लिखना अप्रयुक्त जान पड़ता है। 'रावटी' छोटे-छोटे डेरों को कहते है, जिनमें तिमंजिला होता ही नहीं। फिर बिहारीलालजी ने हिंडोरे को 'गगन' लिखकर तदनंतर नायिका को उस पर से 'परी परी सी टूटि' लिखा था। तोष ने 'गगन' का कहीं भी उल्लेख न करके 'गिरी परी ऐसी' लिख मारा। यह न्यून-पद-दोष है। नायिका को तिमंजिले से गिराकर भी तोष ने अच्छा काम नहीं किया। फिर नायिक के गिरने पर नायक का उसे बीच में धर लेना और खरी रस-लूटि करना एवं उसी समय वहीं उस नायिका की सास-ननंद आदि का घबराहट में दौड़ी आना, और नायक से कहना कि तुमने आज उजड़ते हुए घर को बचा लया है, आदि अनौचित्य-पूर्ण वर्णन है। इसमें शृंगार में भयानक का इस तरह स्थायी होना साहित्यिक दृष्टि से कवि के अज्ञान का सूचक है। तोष का छंद बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख यों है, ज्यों हीरा आगे काँच।

शरद्-वर्णन

घन-घेरो छुटिगो, हरषि चली चहूँ दिसि राह ;
कियो सुचैनों आय जग, सरद-सूर नरनाह ।
(बिहारी-सतसई)

"घन (रूपी कटक) का घेरा छूट गया । हर्ष हुआ । चारों दिशाओं में लोग प्रसन्नता से यात्रा करने लगे । शरद्-रूपी शूर नृपति ने आकर संसार को सुख-शांतिमय कर दिया ।"

इस दोहे में बादलों के घेरे को या मेघ-मंडल को कटक का घेरा बनाकर संसार-रूपी नगर को चारों ओर से घिरवाना फिर शरद्-रूपी शूर नृपति के आगमन से उस मेघ-मंडल रूपी कटक का हट, जाना एवं सांसारिक लोगों का वर्षा के अनंतर मेघ-मंडल के कटक के घेरे से मुक्त होकर चारों दिशाओं में व्यापारादि के लिए जाना, (जैसा कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में होता था) आदि सच्चे और समीचीन वर्णन है । शरद्-ऋतु का चित्र, रूपक की छटा और सरद्-सूर, घन-घेरा, नरनाह आदि की सुंदर योजना सभी प्रशसनीय है।

अरुन सरोरुह कर-चरन, दृग खंजन, मुख चंद ,
समै आव सुंदरि सरद काहि न करहि अनंद ।
(बिहारी-सतसई)

"अरुण रंग के सरोज इसके हाथ और पैर है । (कर-कंज और पाद पद्म भाषा-साहित्य में प्रसिद्ध हैं ही) खंजन इसके नेत्र है । शारदीय पूर्णचंद्र इसका मुख है । यह शरद्-रूपिणी सुंदरी समय पर आकर किसे आनंदित नहीं करती ?"

इस दोहे में शरद्-सुंदरी का रूपक अच्छा है । साथ-साथ शरद्-ऋतु में आनंद देनेवाले चंद्रमा, खंजन और कमल का वर्णन भी कवि के प्रकृति-पर्यवेक्षण की साक्षी देता है । भाषा-माधुय तो अनूठा

है ही। 'समै आव' कहकर कवि ने अपनी रसिकता का भी परिचय दिया है।

कई लोग यह आक्षेप करते हैं कि बिहारीलालजी ने यह दोह निम्न-लिखित सुंदर श्लोक को देखकर बनाया है—

समुल्लसितपंकजलोचनेन विनोदयन्ती तरुणानशेषान्;
शुद्धाम्बरागुप्तपयोधरश्रीः शरन्नवोढेव समाजगाम।

"उल्लसित-पद्म-पलाश नेत्रा नवोढ़ा-के समान शरद् शुद्धांबर में पयोधरों की शोभा को छिपाए सर्व तरुण युवकों को आनंदित करती हुई आई।"

मैंने श्लोक को जैसा-का-तैसा हिंदी में लिख दिया है। संस्कृतज्ञ श्लोक से और भाषा जाननेवाले हिंदी-रूपांतर से श्लोक के भाव को देखें। फिर एक दृष्टि दोहे के भाव पर करें। दोहे में और श्लोक में बहुत अंतर है। श्लोक में 'शरन्नवोढेव' कहकर कवि ने रूपक को भ्रष्ट कर दिया है, 'पंकजलोचनेन' में रूपक बाँधा, पर शरद् को नवोढ़ा न बना पाया। केवल नवोढ़ा के समान लिखा है। बिहारीलालजी के रूपक में जो बात है, वह अनूठी है। संस्कृत-श्लोक में वैसी काव्य-कला-कुशलता नहीं। संस्कृत-पद्य का 'शुद्धांबर' और 'पयोधर' का श्लेष भी उस कमी को पूरा नहीं कर पाता। फिर दोहे में 'खंजन' और 'चंद्र' से शरद् का वर्णन स्पष्ट हो रहा है। संस्कृत श्लोक में यह बात न होने से बड़ी हीनता है।

तात्पर्य यह कि संस्कृत का श्लोक दोहे से बहुत नीचा है।

महाकवि बिहारीलालजी के उपर्युक्त दोहे का भाव लेकर मुख-चंद्र और खंजन-नेत्रों का वर्णन करते हुए दिनेश कवि ने निम्न-लिखित सुंदर छंद कहा है—

आनँद को कंद लसै मुख-इंदु अरविंद,
पानिप अमंद तन कीरति की काम की;

नासा-तिल-कुसुम, प्रकास काँस हाँस मानो
सकै को वखानि खानि सोहै विसराम की।
खंजन 'दिनेश' दृग, त्रिवली - सरित कुच
कलस उतंग छाई छवि कटि छाम की;
कीजिए कन्हाई मनभाई, आई - कुंज-वन
सरद सुहाई कै निकाई उहि वाम की।

दिनेश कवि का यह छंद उत्तम वन पड़ा है। इसमें सुंदरी को शरद में अच्छे ढंग से दिखलाया है। फिर 'नासा-तिल-कुसुम' एवं 'प्रकास हाँस काँस मानो' कहकर दिनेशजी ने विहारीलालजी की अपेक्षा शरद् के वर्णन को और भी स्पष्ट कर दिया है। भाषा भी मनोरम और अलंकृत है।

रास-वर्णन

शरद-ऋतु में कई भाषा-कवियों ने रास का वर्णन किया है। षट्-ऋतु का सांगोपांग वर्णन करनेवाले विहारीलालजी ने भी शरद् के रास का वर्णन किया है। देखिए, कैसी सुंदर उक्ति है—

उयो सरद-राका-ससी, रमत रसिक रस-रास;
लहाछेह अति गतिन की सवन लखे सब पास।
(विहारी-सतसई)

रसिक श्रीकृष्ण संपूर्ण गोपिकाओं को 'लहाछेह अति गतिन की' के कारण अपने-अपने निकट लखाई पड़ते है, किसी से भी दूर नहीं हैं। प्रेम-प्रतिमा कहीं प्रेमियों से दूर हो सकती है? भाषा में निराला वाँकपन, अनूठा शब्द-विन्यास और अलंकारों का आलोक-प्रसाद तथा माधुर्य देखते ही वन पड़ते हैं। दक्षिण नायक का ऐसा वर्णन इतनी पवित्रता से करना प्रत्येक कवि का काम नहीं है।

इसी दोहे के भाव का अपहरण कर पदों तक को तद्वत् लेकर अभिमन्यु कवि कहते हैं—

यमुना के पुलिन उजेरी निसि सरद की,
राका की छपाकर किरन नभ चाल की ;
नंद को लड़ैतो तहीं गोपिका-समूह लैकै
रचा रास-क्रीड़ा बजै बीना डफ ताल की।
लहाछेह गतिन की कही ना परत मोपै,
द्वै-द्वैगोपिकान मध्य छबि नँदलाल की ;
सोभा अवलोकि 'अभिमन्यु' कवि बोल उठो,
एक बार बोलो जय मदन गुपाल की।

एक बार मदनगोपाल की जय बोलते हुए मैं कहता हूँ कि अभिमन्यु के छंद का भाव बिहारीलालजी के दोहे की चोरी का है 'लहाछेह अति गतिन की' का पद हरण करके भी अभिमन्यु ने अच्छा काम नहीं किया। फिर दोहे से कवित्त का भाव टक्कर नहीं ले सकता, यह और भी बड़ा दोष है। भाव में ही क्या, भाषा में भी कवित्त दोहे से दबता हुआ दिखाई देता है।

हेमंत-वर्णन

ज्यों-ज्यों बढ़ति बिभावरी त्यों-त्यों बढ़त अनंत,
ओक-ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमंत।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में भाषा की जो उत्कृष्टता है, उस पर रसिक काव्य-प्रेमी हृदय न्योछावर कर देते हैं। ज्यों-ज्यों के पश्चात् त्यों-त्यों का प्रयोग शुष्क वैयाकरण को भी रस-पूरित कर देता है। 'ओक-ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमंत' को देखकर शब्दालंकारों के प्रेमी आनंद-सागर में गोते लगाते है। 'त्यों-त्यों बढ़त बिभावरी हेमंत' पर ऋतुकाल के निरीक्षक लट्टू होते है। 'ज्यों-ज्यों बढ़त बिभावरी' के आगे 'त्यों-त्यों बढ़त अनंत, ओक-ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमंत' पर रसिक काव्य-प्रेमी बलिहार होते हैं।

हेमंत-ऋतु में रात्रि का बड़ी होना, इससे संयोगी दंपतियों को अनंत आनंद होना तथा चकई-चकवा को, जो रात्रि में बिछुड़ जाते हैं, अनंत शोक होना आदि भी बड़े ही समीचीन, सुहावने और स्वाभाविक वर्णन हैं।

मिलि बिहरत, बिछुरत मरत, दंपति अति रस-लीन,
नूतन बिधि हेमंत की जगत जुराफा कीन।
(बिहारी-सतसई)

"जो 'दंपति अति रस-लीन' हैं, वे मिलकर विहार करते हैं, और बिछुड़ने से वियोगाग्नि में दग्ध होते हुए मरण-तुल्य कष्ट को प्राप्त होते हैं। हेमंत-ऋतु के नूतन विधान को देखो। इसने संसार को (जगत् के लोगों को) जुराफा पक्षी के समान रंग-बिरंगा बना डाला है।"

कितनी स्वाभाविक एवं अलंकृत भाषा में कैसा सुंदर वर्णन है, इसे मर्मज्ञ देखें। कविवर के इसी दोहे का भावापहरण कर प्रसिद्ध कवि ग्वाल लिखते हैं—

जोमदार जीवन को जोम को जगैया बड़ो
आयो अब जाड़ो जग कारन जुराफा-सो।

कियो सबै जग काम-बस, जीते जिते अजेय,
कुसुमसरहिं सर-धनुस कर अगहन गहन न देय।
(बिहारी-सतसई)

"अगहन (कामोद्दीपक होने के कारण) कामदेव का ऐसा वीर दास है, जिसने बड़े-बड़े अजेय लोकों को भी जीतकर सब जग को काम (नृपति) के वश में कर दिया है। वह कुसुमशर कामदेव को हाथ में धनुष-बाण धारण नहीं करने देता। जब भृत्य ही ऐसा वीर है कि उसने सब जगह को जीतकर, अजेय लोगों पर भी विजय प्राप्त करके उन्हें अपने स्वामी के अधीन कर दिया, तब स्वामी को स्वयं धनुष-बाण उठाने की आवश्यकता ही क्या है।"

इस दोहे में अगहन गहन का यमक 'कुसुमसरहिं सर-धनुस कर' का भाषा-सौष्ठव और अगहन का साभिप्राय विशेष्य सभी आनंद-दायी हैं। दोहे की प्रत्येक बात उत्कृष्टतामय अतएव प्रशंसनीय है।

पूस-मास सुनि सखिन मुख साँईं चलत सवार ;
लै कर बीन प्रबीन तिय गायो राग मलार।

(बिहारी-सतसई)

"पूस-मास में सखियों के मुख से यह सुनकर कि स्वामी प्रातः काल विदेश-यात्रा करेंगे, प्रवीण पत्नी ने कर मे वीणा लेकर मलार राग गाया। मलार का गाया जाना वर्षा-ऋतु का सूचक है, और संगीत-कोविदों के एक संप्रदाय की ऐसी धारणा है कि यदि विशुद्ध मलार गाया जाय, तो वर्षा होगी। वर्षा कराकर स्वामी को विदेश-यात्रा से रोकने के लिये प्रवीण पत्नी ने मलार राग अलापा, जिससे वर्षा हुई, और महाशय विदेश जाने से रुक गए। इस दोहे में कविवर ने जनश्रुति को आदर दिया है।"

इस दोहे का भावापहरण करके रसिकविहारी उर्फ़ 'रसिकेश' कहते हैं—

सुनिकैं सखियान पै साईं सवार
चले इत पूस को मास जु लागो ;
'रसिकेस' रहो दुख होय महाँ,
अब कीजे कहा सु मनोभव जागो।
कछु ठानो उपाय दई कों मनाय,
पसारिकै आँचल सो वर माँगो ;
गहिकैं कर बीन प्रबीन तिया
तब हीं तहँ राग मलार सुरागो।

कहना न होगा कि रसिकविहारीलालजी का यह वर्णन बिहारी-

लालजी के दोहे के सम्मुख नहीं ठहरता। क्या भाव और क्या भाषा, दोनों में ही यह महाशय पिछड़े हुए हैं। इसी दोहे के भाव पर लट्टू होकर इसका अपहरण करते हुए एक और कवि लिखते हैं—

सीत समै परदेस को पीय-पयान सुनो वह रोवन लागी,
या ऋतु में क्यों हूँ ये रहें घर, देवता पूजि मनावन लागी;
और उपाय तक्यौ न कछू, तब साजिकैं बीन बजावन लागी,
प्यारी प्रवीन भरे सुर मेघ-मलार अलापिकैं गावन लागी।

इनका वर्णन तो रसिकविहारी के वर्णन से भी बहुत नीचा है।

शिशिर-वर्णन

लगति सुभग सीतल किरन, निसि-दिन सुख अवगाहि;
माह ससी-भ्रम सूरज-त्यों रहित चकोरी चाहि।

"माह-महीने में सूर्य की किरणें उष्ण नहीं, शीतल जान पड़ती हैं। चकोरी भ्रम से सूर्य को चंद्र समझती है। इस प्रकार दिन में शीतल किरणोंवाला सूर्य चंद्र बनकर उसे सुख प्रदान करता है, और निशि में स्वयं चंद्रमा अपनी शीतल किरणों से उसे आनंद प्रदान करता है। इस प्रकार उसे निशि-दिन सुख-ही-सुख रहता है।"

इस दोहे में माह-मास की उत्कट ठंड का वर्णन है, जिसमें सूर्य की किरणों (घाम) में बैठने से भी ठंड दूर नहीं होती।

विस्तार-भय से मैं विहारीलालजी के ऋतु-वर्णन को यहीं समाप्त करता हूँ। इसमें पाठकों ने देखा होगा कि महाकवि विहारी-लालजी ने प्रत्येक ऋतु का कैसा समीचीन और सांगोपांग विस्तृत वर्णन किया है। केवल सात सौ दोहों की सतसई में प्रत्येक विषय का ऐसा पूर्ण वर्णन देखकर यही कहना पड़ता है कि महाकवि विहारीलालजी ने गागर में सागर बड़ी खूबी से भर दिया है।

शिख-नख-वर्णन

कविता का राज्य सौंदर्य है। वह सौंदर्य बहिर्जगत् में भी है, और अंतर्जगत् में भी। कविता मे बहिर्जगत और अंतर्जगत् दोनों के सौंदर्य का वर्णन प्रचुरता से पाया जाता है। यथार्थ में कला का प्रधान गुण उसका सौंदर्य ही है। कवि सौंदर्योपासक होता है, और प्राकृतिक सौंदर्य को चित्रित करने के साथ-साथ नूतन सौंदर्य की भी सृष्टि करता है। स्मरण रहे, संसार के सपूर्ण कवि सौंदर्योपासक और रूप के प्रेमी कहे जाते हैं। उन्होंने जहाँ रमणी के अंग-प्रत्यंग का बाह्य सौंदर्य वर्णन किया है, वहाँ उसके हृदय के प्रेम एवं करुणा आदि अंतर्जगत् के सौंदर्य का भी वर्णन किया है। जो कवि केवल बाहर के सौंदर्य का ही वर्णन सुंदर रूप से करते है, वे कवि अवश्य हैं, पर जो कवि मनुष्य के मन के प्रेम, करुणा आदि सौंदर्य का भी सुंदर रूप से वर्णन करते हैं, वे उनसे कहीं श्रेष्ठ हैं। बाह्य सौंदर्य चित्ताकर्षक अवश्य होता है, पर अंतर्जगत् अर्थात् हृदय के सौंदर्य की तो बात ही निराली है। फिर भी बाह्य और अंतर्जगत् के सौंदर्य में एक निगूढ़ संबंध रहता है। मानव-संसार मे बाह्य सौंदर्य केवल क्षणिक आनंद देनेवाला नहीं है, उसका एक विशेष मूल्य है। बहिर्जगत् का सौंदर्य माधुर्य-पूर्ण होता है, और वह माधुर्य मनुष्य के हृदय पर प्रभाव डालता है, जिससे मन का विकास होता है। यह निश्चित है कि प्रेम, हर्ष, स्मृति, उत्साह और विस्मय आदि भावों एवं क्षमा, दया और सहिष्णुता आदि गुणों की उत्पत्ति भी इसी बाह्य सौंदर्य के बोध से होती है।

शृंगार-रस में तो सौंदर्य का अटल साम्राज्य रहता है। इसमें

मानवीय रूप-सौंदर्य और प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होता है। स्मरण रहे, बहिर्जगत् का सौंदर्य ऐसा है, जिसे हम हृदयंगम तो कर सकते हैं, पर उसकी सृष्टि नहीं कर सकते। मानवीय रूप-सौंदर्य के हम दर्शक-मात्र रहते हैं। यह सौंदर्य वस्तुगत ही होता है। बाह्य सौंदर्य भी बड़ा चित्ताकर्षक होता है। इसके प्रबल आकर्षण को संसार भलीभाँति जानता है। यह चक्षुग्राह्य रूप-सौंदर्य सचमुच बड़ा प्रभावशाली होता है। इससे इंद्रिय-तृप्ति और हृदय-तुष्टि होती है। इस संबंध में हिंदी-संसार के प्रतिभाशाली कवीश्वरों ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से ऐसे सौंदर्य-जगत् की सृष्टि की है, जो हिंदी-साहित्य की एक बहुत विशेषता है। इस प्रकार के साहित्य को शिख-नख या नख-शिख वर्णन का साहित्य कहते हैं। अनेक शृंगारी कवियों ने 'नख-शिख' या 'शिख-नख' के पूरे वर्णन प्रबंधों में लिखे हैं। इनमें से कई कवियों के नख-शिख वर्णन के प्रबंध टकसाली हैं। उनमें बड़ी ही मनोहर उक्तियाँ पाई जाती हैं, जिनमें प्राकृतिक रूप-वर्णन के चित्रण के साथ नूतन सौंदर्य की भी सृष्टि की गई है।

ध्यान रहे, कवि प्रायः आध्यात्मिक होते हैं। वे सुंदरी नायिका के अंग-प्रत्यंगों की ओर संभोग-लालसा से नहीं, बल्कि सौंदर्यार्थ देखते हैं। और, पश्चात् एक नायिका में ही कल्पना के बल से सृष्टि के अनेक सुंदर पदार्थों के सौंदर्य का समावेश करते हैं। वे अनेक पदार्थों के सौंदर्य से नायिका के शारीरिक सौंदर्य का मिलान करके सौंदर्योपासक होने की योग्यता प्रकट करते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि कवि स्थूल जगत का उपासक न होकर आध्यात्मिक होने के कारण सूक्ष्म संसार का रहस्य उद्घाटित करता है। जैसे—

हे खग-मृग, हे मधुकर-श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी।
खंजन,सुक,कपोत,मृग,मीना, मधुप-निकर,कोकिला-प्रबीना।

कुंद-कली, दाड़िम, दामिनी, कमल, सरद, ससि, अहि-भामिनी।
बरुन-पास, मनोज-धनु, हंसा, गज, केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल, कनक-कदलि हरषाहीं, नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुन जानकी तोहि बिन आजू, हरसे सकल पाइ जनु राजू।
(रामचरित-मानस, आ० कां०)

इसमें तुलसीदासजी ने सीताजी का नख-शिख-वर्णन किया है। इसमें कवि एक ही सीता के अंगों में अशेष सृष्टि-सौंदर्य-दर्शन की किस प्रकार इच्छा कर रहा है, क्या कोई कह सकता है कि उसकी दृष्टि कुवासना से मलिन है? ऐसे वर्णनों से तो यही स्पष्ट होता है कि सौंदर्योपासक कवि व्यष्टि में समष्टि का दर्शन करता और कराता है। जैसे—

आनन है, अरविंद न फूल्यो,
अलीगन, भूले कहाँ मँडरातु हो?
कीर, तुम्हें कहा बाय लगी,
भ्रम-बिंब के ओंठनको ललचातु हो?
'दासजू' ब्याली न, बेनी-बनाव है,
पापी कलापी, कहा इतरातु हो?
बोलती बाल न बाजती बीन
कहा सिगरे मृग घेरत जातु हो?
(काव्य-निर्णय)

इसमें देखिए, एक सुंदरी नायिका के शरीर में ही अरविंद बिंब, ब्याली, बीन आदि का कैसा आरोप करके कवि ने किस प्रकार उस नायिका के पीछे भ्रमर, कीर, कलापी (मयूर) और मृग आदि को ललचाए हुए दौड़ाया है, एवं फिर किस युक्ति से उन्हें

मना किया है; और सत्य बात का स्पष्टीकरण करके भ्रम निवारण किया है।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि इस प्रकार के सौंदर्य-वर्णन में एक निर्धारित शैली का बहुत कुछ हाथ रहा है। आर्य-हिंदुओं के साहित्य-शास्त्रकारों ने रूप-वर्णन के लिए जो एक आदर्श आकृति निर्दिष्ट कर ली थी, उसी की सीमा के भीतर बहुतेरे वर्णन रहे हैं। इसमें जो शैली है, उसी का अनुकरण कविता स्थापत्य-कला और चित्रकला में किया गया है। कारण यह कि आर्य-सभ्यता के केंद्र भारत में जो आर्य-जाति निवास करती थी, उसकी शारीरिक और मानसिक भावनाओं का जो उद्गम और विकास हुआ, वह प्राचीन संस्कृत-साहित्य से हिंदी में आया है। साथ ही उस जाति की आकृति और सभ्यता को वर्णाश्रम-धर्म ने भी बहुत कुछ अपरिवर्तित रक्खा। इसी से भारत के प्रांतीय कवियों के वर्णनों में विलक्षण साम्य पाया जाता है। हो सकता, अन्य देशवासियों को इसमें, रुचि-भेद के कारण, कुछ विलक्षणता दिखाई दे। फिर बात यह है कि आज तक रूप-सौंदर्य का कोई सार्वभौमिक सर्वमान्य मापदंड नहीं बन सका। इसमें स्वभाव और शिक्षा के कारण सदैव मतभेद रहेगा। पर यह मतभेद सौंदर्य के आधार के विषय में ही संभव है। स्वयं सौंदर्य के विषय में तो मतभेद हो ही नहीं सकता।

साहित्य-शास्त्र की एक निर्धारित शैली के इस रूप-वर्णन में भी हिंदी-कवियों ने नवीन चमत्कार उत्पन्न किया है, जिसका कारण बाह्य प्रकृति न होकर अंतरंग प्रकृति है। जब बाह्य प्रकृति से, अंत-रंग-प्रकृति का संबंध होता है, तब भाव साकार होता है। ऐसी दशा में बाह्य आकृति पर अंतरंग मनोभावों की जो छाया पड़ती है, उससे बाह्य आकृति में अंतर पड़ता है। वैसे तो बाह्य आकृति का सौंदर्य स्थिर और अपरिवर्तनशील होने से निष्प्राण-सा रहता है,

पर जब उसमें अंतःकरण की स्फूर्ति प्रगट होती है, तब उसमें सजीवता के साथ-साथ नवीनता आ जाती है। फिर भी भिन्न-भिन्न अंगों के लिये जो उपमान नियत किए गये है, उनमें उन-उन विशेष अंगों-रूप उपमेय से जो साम्य है, वे केवल काल्पनिक न होकर अनुभूति के आधार पर माने गए है। उनमें भी भावों के द्वारा आकृति में जो चंचलता आती है, उसका वर्णन करने के लिये कुशल कलाविद् कवियों ने प्राचीन उपमाओं में जो सुंदर कल्पनाएँ की है, उनसे एक निराले, नूतन सौंदर्य की सृष्टि हुई है। यथार्थ में कवि की कुशलता भावों के कारण रूप में जो चंचलता आती है, उसका चित्रण करना है। ऐसे वर्णन ही कठिन होते है और ऐसे वर्णनों से ही प्रतिभाशाली कवि की सौंदर्य-सृजनकारी कारयित्री प्रतिभा का चमत्कार परिलक्षित होता है। जैसे किसी अल्हड़ मुग्धा बाला के विषय में बिहारीलालजी कहते है—

लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गरूर ;
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

(बिहारी-सतसई)

यथार्थ में सुंदर अंगों का वर्णन मनोभावों के साथ करना ही कवि-कर्तव्य है बाह्य प्रकृति के सौंदर्य से अंतरंग-प्रकृति के सौंदर्य को मिलाकर वर्णन करने से बाह्य प्रकृति के सौंदर्य में शतगुणित अधिक सौंदर्य भासित होता है। इसी से तो हिंदी-भाषा के अत्यंत श्रेष्ठ कलाकार महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि जहान ;
वह चितवन औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।

(बिहारी-सतसई)

इसमें प्रकारांतर से महाकवि ने बाह्य सौंदर्य के साथ भाव-सौंदर्य

के अद्भुत, आनंददायक मेल की आवश्यकता की ओर इंगित किया है।

परम रसीली ब्रज-भाषा के पीयूषवर्षी महाकवि श्रीबिहारीलालजी ने शिख-नख बड़ा ही सुंदर कहा है। इसमें भी स्वाभाविक, सरस वर्णन और सुंदर कल्पनामयी ऊँची उड़ान, दोनों ही दर्शनीय हैं। समर्थ कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा के बल से ऐसा सरस और काव्य-कला-पूर्ण शिख-नख कहा है, जिसे देखकर यही कहना पड़ता है कि विश्व के बहुत थोड़े शृंगारी महाकवियों की रचनाओं में शिख-नख-संबंधी ऐसी अद्वितीय सूक्तियाँ कदाचित् ही प्राप्त हो सकती हैं। इनके इस वर्णन में भी प्रवीण कलाकार का हस्तलाघव दर्शनीय है। यहाँ मैं संपूर्ण वर्णन को विस्तार-भय के कारण नहीं दे सकता। प्रत्येक अंग का वर्णन भी मैं न दे सकूँगा। केवल कुछ बानगी दिखलाना ही मेरा अभिप्राय है। इतने ही से हमारे विज्ञ पाठकों को बिहारीलालजी के शिख-नख-वर्णन की श्रेष्ठता का पता चल जायगा।

केश-वर्णन

छुटे छुटावैं जगत तें सटकारे सुकुमार ;
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार।

(बिहारी-सतसई)

"सुंदरी, सुकेशिनी नायिका के 'सटकारे सुकुमार नील छबीले बार छुटे' जगत् से छुड़ाते हैं, और 'बेनी बँधे' मन को बाँधते हैं। किसी समय भी उनसे नहीं बच सकते।"

यदि छूटे हों, तो संसार से छुड़ाते हैं। (जो स्वयं मुक्त हैं, वे ही दूसरों को मुक्त कर सकते हैं; कितनी सच्ची यथार्थ उक्ति है।) भाषा और भाव दोनों ही श्रेष्ठ हैं। जो स्वयं ही मुक्त नहीं हैं—छूटे नहीं है—वे दूसरों को क्या मुक्त करेंगे—छुड़ावेंगे ? जो मुक्त

हैं, वे ही जगत् से छुड़ाने में समर्थ हैं। जो बँधे हैं, वे बाँधते ही हैं। जो स्वयं बंधनों में बँधे है, वे मन को बाँधने के सिवा मुक्त कर ही कैसे सकते है ? सटकारे सुकमार छबीले बाल जब छूटे होते है, तब वे संसार छुड़ा देते है। छुटे बालों को देखकर दर्शक सुध-बुध खोकर संपूर्ण संसार को भूल जाते हैं। और, जब वे बाल वेणी में बँधे रहते है, तब मन को बाँधते है। मन उन्हीं बालों में बँधकर रह जाता है। फिर वहाँ से छुटकारा नही पाता। दोनों दशाओं में मन को किस प्रकार उलझाया है, यह दर्शनीय है। भाषा का औचित्य-पूर्ण, सुंदर, सरस प्रयोग और अनुप्रासिक शब्द-समृद्धि सर्वथा अप्रतिम है। भाव और भाषा दोनों की ऐसी श्रेष्ठतामयी सूक्ति बरबस रसिक काव्य-मर्मज्ञों को विमोहित करती है।

अलक-वर्णन

कुटिल अलक छुटि परति मुख, बढ़िगौ इतौ उदोत ;
बंक बिकारी देत ज्यौं दाम रुपैया होत।
(बिहारी-सतसई)

"टेढ़ी अलक (लट) जब छूटकर मुख-मंडल पर आ गिरती है, तब मुख की द्युति (श्री-प्रभा) ऐसी बढ़ जाती है, जैसे टेढ़ी बिकारी लगने से दाम रुपया हो जाता है।"

ध्यान रहे, छ दाम की एक छदाम होती है, दो छदाम या १२ दाम का एक अधेला होता है, दो अधेलों या २४+१=२५ दामों का एक पैसा होता है। ६४ पैसे या २५×६४=१६०० दाम का एक रुपया होता है। इस प्रकार १ दाम पर यह बंक बिकारी देने से १ दाम का (१)) एक रुपया होता है। अर्थात् उसका मूल्य १६०० गुना बढ़ जाता है। दोहे में कवि का आशय यह है कि मुख पर अलक के बंक होकर आ गिरने से सुंदर मुख की कांति सोलह-

सौगुनी बढ़ जाती है। इस दोहे में गणित-विषयक उपमा को लेकर मुख पर आ पड़ी टेढ़ी लट के वर्णन में महाकवि ने पूर्णोपमा के साथ वर्ण्य विषय की सजीवता को बड़ी ही कुशलता से वर्णन करके पूर्णोपमा का सुंदर निर्वाह किया है। इसमें कुटिल अलक सहित मुख उपमेय, वंक विकारी-सहित दाम उपमेय, ज्यों वाचक और उद्योत धर्म है।

जूरा-वर्णन

कच समेटि कर, भुज उलटि, खए सीस-पट टारि ,
काको मन बाँधे न यह जूरा बाँधनहारि।
(बिहारी-सतसई)

"हाथों से बालों को समेटकर, भुजाओं को उलटकर और भुज-मूलों पर सिर के वस्त्र को हटाकर यह जूड़ा बाँधनेवाली भला किसके मन को नहीं बाँधती!"

भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और स्वभावोक्ति का चमत्कार दर्शनीय है। दोहे में जूड़ा बाँधने की क्रिया का बड़ा ही सजीव और स्पष्ट वर्णन है। यथार्थ में स्वभावोक्ति वह है, जिसमें नेत्रों के सम्मुख वर्णित विषय का सच्चा चित्र खिंच जाय। जिन्होंने किसी सुंदरी को जूड़ा बाँधते हुए ध्यान से देखा होगा, वे ही इसके स्वाभाविक वर्णन की श्रेष्ठता समझ सकेंगे। अस्तु।

बिंदी-वर्णन

प्रथम मैं बिहारीलालजी के वर्णन में से सिंदूर-बिंदी के वर्णन के दो दोहे दिखलाता हूँ, जो हिंदू-समाज में सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। देखिए—

भाल लाल बिंदी दिए, छुटे बार छवि देत ;
गह्यो राहु अति आह करि मनु ससि सूर-समेत।
(बिहारी-सतसई)

"सौभाग्यवती सुंदरी नायिका भाल पर लाल विंदी दिए हुए है, उसपर छूटे हुए केश शोभा दे रहे हैं। यह दृश्य कविवर बिहारी-लालजी को ऐसा जान पड़ता है, मानो चंद्रमा ने सूर्य-समेत होकर अत्यंत साहस करके राहु को पकड़ लिया है। तात्पर्य यह कि केश-रूप राहु ने चंद्रमा-रूप मुख पर चढ़ाई की, पर चंद्रमा ने राहु के विपक्षी सूर्य की सहायता लेकर उसे (राहु को) पकड़ लिया कैसी विलक्षण सूझ है? राहु ग्रहण-समय मे चंद्र और सूर्य को ग्रसता है, यह तो सभी कहते हैं, परन्तु बिहारीलालजी कहते हैं कि आज चंद्र और सूर्य ने एकत्र होकर अपने प्रबल शत्रु राहु को पकड़ लिया है। इस दोहे मे प्रकारांतर से मेल की महिमा बतलाई है। उत्प्रेक्षा बहुत ही अच्छी है। मुख चंद्र है, काले केशों का समूह राहु है, और लाल बिंदी सूर्य।"

अब एक भिन्न प्रकार का सिंदूर-बिंदी-वर्णन देखिए। इसमें नायिका के भाल पर पूजा द्रव्य के अक्षत भी शोभा दे रहे हैं। लिखते हैं—

भाल लाल बिंदी ललन, आखत रहे बिराज;
इंदु-कला कुज में बसी, मनो राहु-भय-भाजि।

(बिहारी-सतसई)

नायिका की सखी नायक को नायिका के भाल पर लगी हुई अक्षत-युक्त लाल रोरी की बिंदी को दिखलाकर कहती है—"हे ललन! इस सुंदरी नायिका के भाल पर लगी हुई रोरी की लाल बिंदी में जो अक्षत लगे है, उन्हें देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो चंद्रमा की कला राहु के डर से भागकर मंगल में आ बसी हो।" यहाँ भी उत्प्रेक्षा का वर्णन बड़ा ही हृदयहारी है। लाल रोरी की बिंदी में सफेद रंग के अक्षत को लाल रंग के मंगल में सफेद चंद्रमा की शुभ्र कला बनाने में कवि ने कमाल किया है।

बिंदी पर बिहारीलालजी ने अनेक दोहे कहे हैं, जो सब महत्त्व-पूर्ण, कला-संपन्न हैं। केशर की चंदन-बिंदी के वर्णन में लिखते हैं—

सिलि चंदन बिंदी दई, गोरे मुख न लखाय ;
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़े,त्यों-त्यों उघरत जाय।
(बिहारी-सतसई)

कंचन-से शरीरवाली सुंदरी नायिका ने जो केसरिया चंदन की बिंदी लगाई, वह गोरे मुख के रंग से मिलकर रह गई। दिखाई ही नही देतो। परंतु ज्यों-ज्यों मद की लाली चढ़ती है, त्यों-त्यों वह चंदन की बिंदी उघरती जाती है, अर्थात् अपनी पृथक् छटा दिखलाती है।

तिलक-वर्णन

खौरि-पनच, भृकुटी-धनुष, बधिक-समर तज कानि,
हनत तरुन-मृग तिलक-सर सुरकि भाल भरि तानि।
(बिहारी-सतसई)

खौर-चिल्ला, भौहँ-कमान, वधिक-कामदेव, तरुण-जन-मृग और तिलक-तीर सभी उपस्थित हैं।

कितना विशद रूपक है। काम-व्याधा कान तजकर और भ्रकुटि-धनुष पर खौर-प्रत्यंचा चढ़ाकर एवं तिलक-सर लगाकर तरुण-जन मृग को किस प्रकार मार रहा है। बड़ा भयानक समय है। इस तीर की मार से कोई 'तिय-छबि-छाया-ग्राहिणी' के पंजे में न आनेवाला पवनसुत हनुमान-सा ब्रह्मचारी ही होगा, नहीं तो औरों की तो खैर नहीं है, सम-अभेद रूपक का यह दोहा प्रकृष्ट उदाहरण है।

नेत्र-वर्णन

नेत्र-वर्णन में नेत्रों के बाह्य सौंदर्य का वर्णन तो रहता ही है, साथ ही नेत्रों द्वारा प्रेम-पात्र के सौंदर्य का दर्शन, उससे अनुराग

की मन में उत्पत्ति होना तथा नेत्रों के द्वारा प्रेम स्थायी भाव के विभिन्न अनुभवों का स्पष्टीकरण और नेत्रों द्वारा रस, रिस, हर्ष और लज्जा आदि विभिन्न भावों की अनुभूति का प्राकट्य भी वर्णन किया जाता है। नेत्रों की प्रधानता एवं उनके द्वारा भावों प्रदर्शन के महत्त्व को प्रत्येक समझदार भली भाँति जानता ही है। विश्व के प्रायः संपूर्ण कवीश्वरों ने नेत्रों का प्रचुरता से वर्णन किया है। हिंदी में नख-शिख कहनेवाले कवियों ने नेत्रों के बाह्य सौंदर्य और उनके द्वारा अंतरंग प्रेमानुभावों की रमणीय झलक का अद्वितीयप्राय वर्णन किया है। इन सबमें महाकवि बिहारीलालजी का नेत्र-वर्णन तो संभवतः संसार-साहित्य में दुर्लभ है। इनके नेत्र-वर्णन में प्रेम-भाव की सरस अनुभूति के विभिन्न रमणीय दृश्य, कवि-कल्पना की भावमयी नूतन सृष्टि, अलंकारों की सुकर सजावट और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ-साथ परिमार्जित, चुटीली, आनुप्रासिक, मुहाविरेदार, सजीव भाषा तो सोने में सुगंध है। सतसई में नेत्र-वर्णन-संबंधी दोहों की संख्या पचास से भी अधिक है। यहाँ कुछ दोहे उदाहरण-स्वरूप देखिए।

(१) नेत्रों के वाह्य सौंदर्य का वर्णन बिहारीलालजी के अनेक दोहों मे अनूठा पाया जाता है। यहाँ कुछ दोहे देखिए—

वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न;
हरिनी के नैनानि ते हरि नीके ये नैन।

(बिहारी-सतसई)

हे हरि! मैंने इस सुनयना सुंदरी के नेत्रों के समान सुंदर आयत कजरारे नेत्र देखे ही नहीं। कविजन कहते हैं कि हरिणी के आयत लोचन नेत्रों के सौंदर्य का आदर्श हैं, पर इस नायिका के नेत्र हरिणी के नेत्रों से भी अधिक अच्छे हैं। इनकी चितवन की चोट भी गजब की है। और तो ठीक ही, इन्होंने तो त्रिभुवन-विजयी

कामदेव के अमोघ बाणों को भी जीत लिया।

सायक-सम मायक नयन, रँगे त्रिबिध रँग गात ;
झखौ बिलखि दुरि जात जल, लखि जल-जात लजात।

(बिहारी-सतसई)

उसके मायावी नेत्र-बाणों के समान वेधक मायावी नेत्र अपने शरीर को (लाल श्वेत और काले) तीन रंगों से रँगे हुए हैं। इन कटीले और चंचल नेत्रों को देखकर मछलियाँ, जिन्हें कवियों ने चंचल और कटीले नेत्रों का आदर्श वर्णन किया है, लज्जित हो पानी मे छिप जाती है; और श्वेत, अरुण एवं नील कमल, जो सुंदर विस्तीर्ण प्रफुल्लित नेत्रों के आदर्श है, लज्जित-संकुचित हो जाते है।

रस-सिंगार मंजन किए, कंजन भंजन दैन,
अंजन रंजन हू बिना खंजन गंजन मैन।

(बिहारी-सतसई)

"जिसमें हाव-भाव-कटाक्षादि की लहरे उठती है, ऐसे शृंगार के रस (जल) में मंजन किए हुए उस बाला के समुज्ज्वल नेत्र सुंदर अमल कमलं का मान-मर्दन करनेवाले और अपने स्वाभाविक कजरारेपन से अंजन लगाए बिना ही श्यामता-युक्त चपल नेत्रों के आदर्श खंजन पक्षियों को भी तिरस्कार देनेवाल है।"

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन,
मानहु सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन।

(बिहारी-सतसई)

"झीने (श्वेत) पट के घूँघट में उस सुंदरी के चंचल नेत्र चमचमाते है, मानो गंगाजी के निर्मल नीर में युगल मीन उछलते हों।"

नेत्रों के बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ चितवन का अनोखापन अवश्य ही चाहिए। यदि चितवन का अनोखापन न हुआ, तो नेत्रों की विशालता, कटीलापन एवं अन्य बाहरी सौंदर्य रसिक सुजान का हृदय आकर्षित करने में सर्वथा असमर्थ ही हैं। बिहारी-लालजी कहते हैं—

अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि जहान ;
वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।
(बिहारी-सतसई)

(२) 'नैन-सैन' के विषय में महाकवि का यह दोहा स्मरण रखने योग्य है—

झूठे जानि नसंग्रहे, मन, मुँह-निकसे वैन ;
याही तैं मानहु किए बातन को बिधि नैन।
(बिहारी-सतसई)

"संसार में झूठ बोलने का प्रचार अधिक होने के कारण मन ने मुख से निकले वचनों को झूठा समझकर उनपर विश्वास नहीं किया, मानो यही देखकर विधाता ने मन को सच्ची, विश्वसनीय बातो के निमित्त ही नेत्रों को बनाया है।"

(३) नेत्रों का मन पर कैसा प्रबल प्रभाव पड़ता है। इसके वर्णन में बिहारीलालजी के कई अनूठे दोहे है। एक यहाँ देखिए—

नैन-तुरंग अलक-छवि-छरी लगी जिहिं आय ;
तिहि चढ़ि मन चंचल भयो, मति दीनी बिसराय।
(बिहारी-सतसई)

"जो नायिका की लटकी हुई लट को देखकर उत्तेजित हुए हैं—जिन्हें लट की शोभा-रूपी छड़ी आकर लगी है—उन नेत्री-रूप

घोड़ों पर चढ़कर मेरा मन चंचल हो गया है, और उसने मेरी मति (बुद्धि) भुला दी है। मन प्रेम में पड़कर बुद्धि से हाथ धो बैठा है।'

(४) दृष्टि-बाण की मार का जैसा सजीव और सच्चा एवं काव्य-कला-पूर्ण वर्णन इस महाकवि ने किया है, वैसा संपूर्ण साहित्य-संसार में दुर्लभ है। दो-एक उदाहरण यहाँ देखिए—

सिय कत कसनैती पढ़ी, बिनु ज्या भौंह कमान ;
चल चित बेझौ चुकति नहिं बंक बिलोकन-बान।

(बिहारी-सतसई)

"हे सुंदरी! तूने यह अद्भुत धनुर्विद्या कहाँ पढ़ी है, जो बिना रोदे की भौंह-कमान से, तिरछी चितवन के 'बंक' बाण के द्वारा अत्यंत सूक्ष्म और चंचल चित्त-रूपी बेझ (निशाने) को चूकती ही नहीं।"

इस उक्ति में विलक्षण काव्य-चातुर्य है। देखिए, कितनी कला-मय सूक्ति है। कमान है, पर बिना प्रत्यंचा (रोदे) की; तीर है, पर टेढ़ा है, जो निशाना लगाने में व्यर्थ ही है, निशाना भी अत्यंत सूक्ष्म और डोलता हुआ है। इतने पर भी निशाना न चूकना सचमुच विचित्र तीरंदाजी है।

दृगन लगत बेधत हियो, बिकल करत अँग आन;
ये तेरे सब तें बिषम ईछन तीछन बान।

(बिहारी-सतसई)

"हे सुलोचने! हे सुंदरी! तेरे ये 'ईछन तीछन बाण' सब प्रकार के बाणों से विषम है; क्योंकि ये आकर नेत्रों में तो लगते हैं और हृदय को वेधते है, एवं अंग-अंग को व्याकुल करते है।"

चितवन-तीर (ईछन-बान) सचमुच सबसे विषम ह। कितना विचित्र व्यापार है। ये एक जगह आकर लगते है, दूसरा स्थान

बेधा जाता है, और तीसरे स्थान में पीड़ा होती है। यह दोहा असंगति-अलंकार का प्रकृष्ट उदाहरण है। नयन-बाण का नेत्रों में लगना, उससे हृदय का बेधा जाना और अंग-अंग का व्याकुल होना बड़े ही सच्चे वर्णन है।

(५) नेत्रों की रूप-पिपासा के विषय में बिहारीलालजी ने एक-से-एक बढ़कर अनूठे कई दोहे कहे है। इनमें भी भावोत्कर्ष, कल्पना का प्राबल्य और अर्थालंकार की छटा के साथ मनोहर प्रयोग-साम्य और भाषा-प्रयोग दर्शनीय है। इनमें प्रेम-भाव के मधुर अनुभावों का बड़ा सच्चा, सजीव और हृदयहारी वर्णन है। उदाहरण देखिए—

लीनैं हू साहस सहस, कीनैं जतन हजार ;
लोइन लोइन-सिंधु तन पैरि न पावत पार

(बिहारी-सतसई)

पूर्वानुरागिणी नायिका सखी से कहती है—"हजार साहस धारण करने पर भी और हजार यत्न करने पर भी मेरे लोचन नायक के तन-रूपी लावण्य-समुद्र में पैरकर पार नहीं पाते।' तात्पर्य यह कि नायक के शरीर के लावण्य (सौंदर्य) को देख-देखकर भी मेरे नेत्र तृप्त नहीं होते।

इस दोहे में महाकवि ने लोचनो को पैराक बनाकर बड़ी सुंदर सूक्ति कही है। साहस धारण करने से यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार समुद्र में तैरनेवालो के लिये अनेक भयंकर जल-जंतुओं के कारण बड़े भारी साहस की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार नायिका को भी अनेक चवाइनों आदि की आशंका से नायक के लावण्यमय शरीर की ओर देखने में बड़े भारी साहस की आवश्यकता होती है। हजार यत्न करना कहने से यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार अनेक जल-जंतुओं के आक्रमण और अगाध जल में डूबने से बचने के लिये समुद्र में पैरनेवालों को बड़े-बड़े यत्न करने

पड़ते है, उसी प्रकार नायिका को भी लोकापवाद के भय एवं चवाइनों की आसंका और दृष्टि से बचने के लिये नायक के लावण्यमय शरीर की ओर देखने में बड़े उपयुक्त उपाय करने पड़ते हैं—सतर्कता से काम लेना पड़ता है। लोइन-सिंधु में लवणमय जलवाले समुद्र और अगाध लावण्य (सौंदर्य) मय शरीर की शोभा का भी अच्छा साम्य ठहरता है। सब मिलाकर दोहा बहुत ही श्रेष्ठ है।

त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाय ;
सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाय।

(बिहारी-सतसई)

"चख-तृषा बुझती ही नहीं—दिख-साध पूरी ही नहीं होती। वह सगुण लावण्यमय रूप-जल ऐसा है कि ज्यों-ज्यों संतुष्ट होकर मेरे नेत्र उसे पीते हैं, त्यों-त्यों और-और प्यास बढ़ती है।" कैसा सच्चा सजीव वर्णन है।

नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय ;
नीर भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।

(बिहारी-सतसई)

"नेत्रों को यह स्नेह नहीं है, कुछ भारी बला उत्पन्न हो गई है। ये नित्यप्रति अश्रु-जल से भरे रहते हैं, तो भी इनकी प्यास नहीं बुझती।" कैसी सजीव, मनोहर उक्ति है !

जौ लौं लखौं न कुल-कथा, तौ लौं ठिकु ठहराय ;
देखे आवत देखिबो, क्यों हू रह्यो न जाय।

(बिहारी-सतसई)

अर्थ स्पष्ट है। यहाँ भी प्रेम-भाव का अच्छा वर्णन है। रूप-प्यासे नेत्र प्रेम-पात्र को देखने से कहीं रोके जा सकते हैं ? इसी प्रकार का यह दोहा भी है—

जस-अपजस देखत नहीं, देखत साँवल गात ;
कहा करौं लालच-भरे, चपल नैन चलि जात।

(बिहारी-सतसई)

लालची नेत्र प्रेम-पात्र के नख-शिख-सौंदर्य से पूर्ण रहने पर भी ललचना नहीं छोड़ते—

नख-सिख-रूप भरे खरे, तउ माँगत मुसुकानि ;
तजत न लोचन लालची ये ललचौंही बानि।

(बिहारी-सतसई)

(६) दृष्टि-सम्मिलन के विषय में महाकवि बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे दर्शनीय है—

खरी भीर हू भेदिकै कितहू ह्वै उत जाय ;
फिरैं डीठि जुरि डीठि सों, सबकी डीठि बचाय।

(बिहारी-सतसई)

"भारी भीड़ को भेदकर किसी भी राह से होकर नायिका की नजर वहाँ नायक के पास पहुँच जाती है, और सबकी नजरों को बचाकर, नायक की नजर से मिल उस नायिका की नजर फिर साफ कन्नी काटकर लौट आती है।"

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात;
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात।

(बिहारी-सतसई)

"कहते हैं, नाहीं करते हैं, रीझते है, खीझते हैं, मिलते हैं, खिलते और लजाते हैं। लोगों से भरे घर में नायक-नायिका दोनों ही आँखों-ही-आँखों से ये सब बातें कर लेते है।"

पहुँचति डटि रन-सुभट लौं, रोकि सकैं सब नाहिं ;
लाखन हू की भीर में आँखि उतैं चलि जाहिं ।

(बिहारी-सतसई)

"लड़ाई के वीर योद्धा के समान डटकर पहुँच जाती है। सभी उन्हें नहीं रोक पाते। लाखों की भीड़ में भी उसकी आँखें उस प्रेम-पात्र की ओर चली ही जाती हैं।"

जो तब होत दिखादिखी भई अमी इक आँक ;
लगै तिरीछी डीठि अब ह्वै बीछी को डाँक ।

(बिहारी-सतसई)

"उस समय देखादेखी होने पर जो निश्चय-पूर्वक अमृत मालूम हुआ था, उसी प्रेम-पात्र की दृष्टि अब उसके विरह में बिच्छू के डंक के समान व्याकुल करनेवाली हो गई।"

कहत सबै कबि कमल-से, मो मत नैन पखान ;
नातक कत इन बिय लगत उपजत बिरह-कृसानु ।

(बिहारी-सतसई)

"संपूर्ण कवि नेत्रों को कमल के समान कहते हैं, किंतु मेरे मत से ये नेत्र पत्थर के समान हैं। नहीं तो इन दो के लगते ही—एक दूसरे की, प्रेमी और प्रेम-पात्र की, आँखों के परस्पर टकराने से—विरह-रूपी अग्नि कैसे उत्पन्न होती।"

(७) प्रेम में बहके हुए नेत्रों के वर्णन में भी बिहारीलालजी के अनेक सुंदर दोहे हैं। दो यहाँ देखिए—

नैना नेकु न मानहीं, कितौ कहौं समुझाय ,
तन-मन-हारे हू हँसैं, तिनसों कहा बसाय ।

(बिहारी-सतसई)

"मेरे ये नेत्र मेरी बात जरा भी नहीं मानते, मैं कितना भी समझाकर क्यों न कहूँ। भला, जो तन-मन हारकर भी हँसते ही रहें, उनसे किसी का क्या वश चल सकता है ?"

बहके सब जिय की कहत, ठौर-कुठौर लखैं न,
छिन औरै, छिन और हैं, ये छवि छाके नैन।
(बिहारी-सतसई)

"मेरे ये सौंदर्य-मद में मस्त नेत्र ऐसे बहक गए है कि मेरे हृदय की सब बातें कह डालते है। ऐसा करते समय ये ठौर-कुठौर (मौका-बेमौका) कुछ भी नही देखते। ये क्षण में कुछ और रहते हैं और क्षण-भर में कुछ और हो जाते हैं, अर्थात् ये क्षण-क्षण में बदलते रहते है।"

(८) महाकवि बिहारीलालजी ने नेत्रों को कहीं बाज बनाया है, तो कहीं मुँहजोर तुरंग, कही सट्टेवाला बनाया है, तो कहीं ठग; कहीं तांत्रिक बनाया है, तो कहीं चोर; तात्पर्य यह कि उनका वर्णन विभिन्न रूपों में किया है। इन वर्णनों में भी औचित्य का पूरा ध्यान रक्खा गया है। यहाँ विस्तार-भय से केवल दो दोहे दिए जाते हैं। देखिए—

शिक्षा देनेवाली सखी से परकीया नायिका कहती है—

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं,
ये मुँहजोर तुरंग-लौं ऐंचत हू चलि जाहिं।
(बिहारी-सतसई)

"हे सखी! 'लाज-रूपी लगाम को नहीं मानते, नेत्र मेरे वश में नहीं हैं। ये लाज-लगाम खींचते रहने पर भी मुँहजोर घोड़े की तरह चले जाते हैं।' तात्पर्य यह कि लज्जाशील सुंदर नायिका नेत्र रूपी मुँहजोर घोड़ों को लाज की लगाम से खींचती ही रह जाती है; पर वे बदलगाम काबू में नहीं रहते, नायक के सुंदर मुख की ओर चले ही जाते हैं।"

यह दोहा भी उत्कृष्ट काव्य-कला-संपन्न है। इसमें यह दिखलाया गया है कि यदि प्रेम-पात्र—हृदय-मंदिर की आराध्य मूर्ति—सम्मुख हो, तो प्रेमी कितना ही लज्जाशील क्यों न हो, उसके दर्शन करने की अभिलाषा रोकने में कभी समर्थ नहीं हो सकती। उसके नेत्र प्रेम-पात्र की ओर चले ही जाते हैं। विवेक का सवार लाज की लगाम से उन नेत्र-रूप अश्वों को रोकता ही रह जाता है, पर रूप-रस-लोभी नेत्र-रूप 'मुँहजोर तुरंग' चले ही जाते हैं।

इस दोहे में अलंकारों की भी अद्भुत छटा है। देखिए—

(अ) नैन उपमेय, मुँहजोर तुरंग उपमान, लौं वाचक और ऐंचत हू चलि जाहिं धर्म है। इस प्रकार दोहे में पूर्णोपमालंकार उत्कृष्ट है।

(ब) ऐंचत हू चलि जाहिं में प्रतिबंधक के रहने पर भी कार्य होता है; अतएव इसमें तृतीय विभावना अलंकार है। क्योंकि 'कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।'

(स) लाज-लगाम में छेकानुप्रास की छटा है।

नीची ये नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि,
उठि ऊँचे नीचे दियो मन कुलिंग झकझोरि।

(बिहारी-सतसई)

"उस लज्जाशील नायिका की निपट नीची नजर ने 'कुलिंग'-पक्षी के नीचे-नीचे उड़नेवाली ही (बाज की जाति की शिकारी चिड़िया) की भाँति ऊपर-ऊपर उड़नेवाले एवं ऊपर-ऊपर उड़ने के कारण अपने को निरापद् समझनेवाले कुलिंग-पक्षी के समान स्वच्छंद विचरण करनेवाले स्वतंत्र मन को (जो किसी के प्रेम-पाश में नहीं बँधा था) नीचे से ऊपर उठकर अपने नीचे दबोच लिया, अर्थात् मन को अपने बस में ऐसे ही कर लिया, जैसे कुही कुलिंग को अपने पंजे के नीचे दबोचकर वश में कर लेती है।"

(९) यदि आँसुओं का वर्णन न हो, तो नेत्र-वर्णन अधूरा ही रह जाता है। महाकवि बिहारीलालजी ने आँसुओं का वर्णन भी बड़ा ही अनूठा किया है। यहाँ दो दोहे देखिए—

पलनि प्रगट, बरुनीनि बढ़ि, नहीं कपोल ठहरात ;
अँसुआ परि छतियाँ, छिनक छनछनाय, छिपि जात।
(बिहारी-सतसई)

"उस नायिका के हृदय में विरह-ताप ऐसा बढा हुआ है कि उसके आँसू उबलकर, पलकों में प्रकट होकर और सघन वरुनियों से बढकर कपोल पर नहीं ठहरते और संतप्त छाती पर गिरकर क्षण-मात्र में छनछनाकर छिप जाते हैं।

इस दोहे में शब्द-चमत्कार के अतिरिक्त अर्थ-चमत्कार का भी आधिक्य है। विरह-संताप का इस वर्णन में इतना आधिक्य है कि आँसू गिर नहीं सकते—छनछनाकर छिप जाते हैं। दोहे में आँसुओं की उत्पत्ति और पतन के प्रकार का अनूठा वर्णन है। वरुनियों में अश्रुओं का बढाना कहने में ध्वनि यह है कि वियोग-चिंता में अर्द्ध-निमीलित नेत्र थे, इसी से पलकों के अधखुली होने से सघन बरुनियों में आँसू इकट्ठे होना कहा गया है। 'कपोल पर नहीं ठहरते' कहने में ध्वनि यह है कि कपोल सचिक्कण थे। आँसुओं का क्षण-मात्र छनछनाकर छिपना कहने में ध्वनि यह है कि आँसू अधिकता से और निरंतर गिर रहे थे; क्योंकि यदि आँसू थोड़े होते अथवा निरंतर न गिरते, तो क्षण भर भी न ठहरते। आँसुओं के छनछनाकर छिपने से विरह-संताप का आधिक्य स्पष्ट ध्वनित होता है। इस प्रकार संपूर्ण दोहे में वाच्यातिशयी व्यंग्य होने से यह दोहा ध्वनि काव्य का उत्तम उदाहरण है। उत्कृष्ट भाषा की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

तच्यौ आँच अति विरह की, रह्यो प्रेम-रस भींजि,
नैनन के मग जल बहै हियौ पसीजि-पसीजि
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने आँसुओं का रूपक अर्क से बाँधा है। कितनी हृदयद्राविनी उक्ति है। विरहावस्था में नायिका के जो आँसू बह रहे है, वे आँसू नहीं है वरन् उसके प्रेम-रस में भींगे हुए हृदय का वह अर्क है, जो विरह-वह्नि की तीव्र आँच के कारण नेत्रों की नलियों से बह रहा है। तात्पर्य यह है कि वियोग-काल के आँसू उसके कलेजे के ही टुकड़े है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस महाकवि का नेत्र-वर्णन अद्वितीय ही है। इनके सिवा जो अन्यान्य दोहे है, उनमें भी उत्तम काव्य-कला है। समग्र रात्रि जागरण से नेत्रों का गुल्लाला या रोचन जैसी लाली पकड़ना, रात्रि-जागरण से प्रातःकाल नेत्रों में सोन-सी फूलना, अपराधी के नेत्रों का लज्जा से अधोमुख होना, आलस-वलित, अर्धोन्मीलित नेत्रों की कमनीयता, रंग निचुड़ने से नेत्रों द्वारा रँगरेलियों का भेद प्रकट होना, चित्त के प्रेम की चुगली करनेवाले नेत्रों का कुछ विलक्षण ढंग होना, चंद्रमुखी नायिका के चंद्रमुख के सम्मुख अपराधी नायक के नेत्र-कमलों का संकुचित होना, रुखाई-भरी आँखों की चितवन, सहज हँसौहैं नेत्रों की मधुर मुसुकान रिस-बस चढ़ी हुई त्योरियों की भाव-भंगी, प्रेमी-प्रेमिका का आँखों-ही-आँखों मे वार्त्तालाप करना, दृष्टि की वरत बाँधकर चित्त-नट का उसपर दौड़ना, आँखों से आँखों के लगने पर आँख का न लगना, आँख से आँख लग जाने पर नेत्रों में किरकिटी पड़ जाने के समान पीड़ा होना, नेत्रों का 'लगालगी' कर हृदय में प्रेमाग्नि लगाना, नेत्र-अश्वों का 'खुँदी' करना आदि-आदि का विलक्षण वर्णन बिहारीलालजी के नेत्र-वर्णन में, मोहक रीति से, कलामय काव्य मे, पाया जाता है।

कपोल-वर्णन

बरन, बास, सुकुमारता सब बिधि रही समाय ;
पखुरी लगी गुलाब की गाल न जानी जाय।
(बिहारी-सतसई)

कोई सुंदरी नायिका पुष्प-शय्या त्यागकर आई है। उसके गाल पर गुलाब की पखुरी लगी हुई है। इसे देखकर सखी कहती है— "बरन (रंग), बास (गंध) और सुकमारता, सबमे सब प्रकार से साम्य होने के कारण मिलकर रह गई। गुलाबी कपोल पर लगी हुई गुलाब की पखुरो जानी ही नहीं जाती।"

इस दोहे में गुलाब की पखुरी की अरुणता से गुलाबी गाल की अरुणता, उसकी सुंदर धीमी मधुर गंध से शरीर की सुमधुर आनंद-दायिनी गंध और उसकी सुकुमारता से कपोल की सुकुमारता का अनूठा साम्य दिखलाया है। इस वर्णन में सौंदर्य का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। इस दोहे में मीलित अलंकार का प्रकृष्ट उदाहरण है।

दशन-वर्णन

नेकु हँसौहीं बान तजि, लख्यो परत मुख नीठि ;
चौका - चमकनि - चौंध में परति चौंध-सी दीठि।
(बिहारी-सतसई)

नायक किसी स्मितवादिनी, हास्यमयी सुंदरी से कहता है-"हे प्रियतमे ! धीरे-धीरें हँसने की आदत छोड़ दे, क्योंकि इसमें तेरे सुंदर मुख की ओर देखना कठिन हो जाता है। तेरे थोड़े हँसने में ही जो दाँतों का चौका खुलता है, उसकी चमक से चकाचौंधी पैदा होती है, और मेरी आँखें उसमें चकचौंधिया जाती हैं।

इस दोहे में कवि बिहारीलालजी ने दंत-द्युति का अच्छा वर्णन किया है। सुंदर दशनावलीवाली नायिका के धीरे-धीरे हँसने में

जो जरा दाँतों का चौका खुलता है, उसकी चमक इतनी तेज होती है कि बिजली-सी कौद जाती और आँखों में चकाचौंध पैदा हो जाती है। इसी से 'लख्यो परत मुख नीठि'। और इसी कारण मुख-सौंदर्य-सुधा का इच्छुक नायक बड़े दैन्य भाव से उस नायिका से कहता है—'नेकु हँसौंही बान तजि'। इस दोहे में नायक द्वारा नायिका के सौंदर्य की प्रशंसा निराले ढंग से व्यक्त की गई है।

चिबुक-गाड़-वर्णन

डारे ठोड़ी-गाड़, गहि नैन बटोही मारि;
चलिक-चौंधि में रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में ठग की क्रिया का अच्छा वर्णन है। ठग लोग फाँसी का फंदा डालकर किसी बटोही को मार डालते थे, और मारकर उसे किसी गढ़े में डाल देते थे। इसी बात को लेकर बिहारीलाल-जी ने यह सुंदर रूपक बाँधा है। नेत्र-बटोही 'चिलक-चौंध' में रूप-ठग द्वारा हाँसी-फाँसी डालने से मारे गये हैं। फिर रूप-ठग ने उन्हें लेकर 'ठोड़ी-गाड़' में डाल दिया है। यह दोहा भी बड़ा गंभीर है। गढ़े में डाले हुए क्रिया-हीन मृतक पुरुष गढ़े से कभी निकल ही नहीं सकते। रूप के लोभी नेत्र जो 'ठोड़ी-गाड़' की सुंदरता देखते-देखते अचंचल हो गए हैं—'ठोड़ी-गाड़' से वे कभी हट ही नहीं सकते। यहाँ यह देखिए कि नेत्रों को किस विलक्षणता से फँसाया है।

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति,
ठोड़ी-गाड़ गड़्यो तऊ उड़्यो रहै दिन-राति।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कैसी चमत्कारिणी उक्ति है। 'ठोड़-गाड़' गड़्यो तऊ

उड़्यो रहै दिन-राति' गढ़े में गड़ो वस्तु भी उड़ रही है। महाकवि बिहारीलालजी असंभव को भी संभव करके दिखला रहे हैं। जिस मन में ठोड़ी की सुंदरता गड़ गई है, जो 'ठोड़ी-गाड़' में गड़के रह गया है (अर्थात् ठोडी-गाड़ पर सर्वतोभावेन रीझ गया है), वह उड़ेगा क्यों नहीं !

गोदना-वर्णन

ललित-श्याम-लीला ललन, चढ़ी चिबुक छवि दून ,
मधु छाक्यो मधुकर पर्यो, मनो गुलाब - प्रसून ।
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे की मधुर शब्दावली और अलंकृत प्रौढ भाषा किसे न मोह लेगी ? चिबुक के गोदने को 'मधु छाक्यो मधुकरपर्यो, मनो गुलाव-प्रसून' कहकर बिहारीलालजी ने जो उत्प्रेचा कही है, उसकी प्रशंसा कौन काव्य-प्रेमी हृदय से न करेगा ? सुंदर गुलाबी रंग के चिबुक का नीला गोदना महाकवि बिहारीलालजी को ऐसा जान पड़ता है, मानो मधु से छककर गुलाव-प्रसून में मधुकर पड़ा हो। खूब कहा। यह दोहा भी विदग्ध रसिकों को पुलकित करनेवाला है। इसी पर कोई राम कवि कहते है—

कमल-कली पै अड़ि बैठ्यो अलि-छौना किधौं
कामिनी, तिहारे चारु चिबुक डिठौना है।

यह बिहारीलालजी के दोहे के सम्मुख जो कुछ है, सो है।

मुख-वर्णन

सूर उदित हू मुदित मन मुख सुखमा की ओर·
चितै रहत चहुँ ओरसों निहचल चखनि चकोर।
(बिहारी-सतसई)

सूर्योदय होने पर भी चकोर मुदित मन से, निश्चल नेत्रों से मुख-सौंदर्य की ओर चारों ओर से, 'इकटक' देखते रहते हैं। तात्पर्य यह कि चकोर जो चंद्र का अनन्य प्रेमी है, जो चंद्र का सबसे बड़ा पहचाननेवाला है, भ्रांति से सुंदर चंद्र-मुख को ही चंद्रमा समझता है, और दिन के समय चंद्रास्त हो जाने तथा सूर्योदय के हो जाने पर भी चंद्र के वियोग से विकल नहीं होता। वह मुख-चंद्र को निश्चल नेत्रों से देखता हुआ मन में मुदित ही रहता है।

यह दोहा भाषा-प्रौढ़ता और माधुर्य आदि में श्रेष्ठ होता हुआ भी सौंदर्य-वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है। सोचिए तो, कितना सुंदर मुख होगा!

यह तो हुआ खुले मुख का सौंदर्य-वर्णन। अब घूँघट में छिपे हुए मुख का वर्णन देखिए—

छिप्यो छबीलो मुख लसै नीले अंचल चीर,
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर।

(बिहारी-सतसई)

"नीले चीर के अंचल में छिपा हुआ छबीला मुख ऐसी शोभा दे रहा है, मानो कालिंदी के नीर में कलानिधि झलमलाता हो।"

कैसा सुंदर वर्णन है। 'नीले अंचल चीर' में कालिंदी के श्याम जल की कल्पना बड़ी ही संगत है। फिर वायु में फहराते हुए झीने (महीन) नीले वस्त्र के घूंघट में शोभित होनेवाले मुख में कालिंदी के श्याम जल की वायु-वेग से उठने वाली लहरों में कल्लोल करनेवाले चंद्र की कल्पना तो और भी विदग्धता-पूर्ण है। ऐसी-ऐसी रचनाएँ दूसरे कवियों की कविता से बड़ी कठीनता से मिलेंगी, यदि मिलीं भी तो कदाचित इतनी उत्तम न होंगी।

अच्छा, अब देखिए। मुख पर ओढ़नी की किनारी रहती है।

ओढ़नी की किनारी से मुख कैसा सुंदर लगता है, यह देखिए—

जरी कोर गोरे बदन बढ़ी खरी छवि देख,
लसति मनो बिजुरी किए सारद-ससि परिबेख।

(बिहारी-सतसई)

नायिका की सखी नायिका के मुख की ओर दिखलाती हुई नायक से कहती है—

"गोरे (बदन) मुख पर ज़री की किनारी से अत्यंत वृद्धि को प्राप्त हुई शोभा देखिए। ऐसा जान पड़ता है, मानो बिजली से परिवेष्टित शारदीय पूर्ण चंद्र सुशोभित हो रहा हो।" कितनी बाँकी उत्प्रेक्षा है, इसे मर्मज्ञ देखें।

इस प्रकार केवल मुख, घूँघट से ढँके और ओढ़नी की किनारी से परिवेष्टित मुख का ऐसा उत्कृष्ट और क्रमवार वर्णन सूर के सिवा अन्य किसी हिंदी-कवि ने नहीं किया।

कुच-वर्णन

चलन न पावत निगम मग जगउपजी अति त्रास,
कुच उतंग गिरिवर गह्यो मीना-मैन-मवास।

(बिहारी-सतसई)

कुचों के मारे निगम-मार्ग पर नहीं चल पाते, इससे संसार में अत्यंत त्रास उत्पन्न हुई है। सारा संसार निगम-मार्ग पर न चल सकने के कारण बड़ा त्रस्त हो रहा है। कुच-रूप ऊँचे गिरि पर 'मैन-मीना' (कामदेव-रूपी लुटेरे) ने अपना (मवास) अड्डा बनाया है।" जो वहाँ से बेखबर होकर, असावधान रहकर जाना चाहते हैं, उन्हें वह काम-लुटेरा लूट लेता है, उनकी दुर्दशा करता है। यहाँ ध्वनि यह है कि जिन्हें श्रुति-मार्ग का अवलंबन करना हो, निगम-पंथ पर दृढ़ रहना हो, एवं अपने कल्याण की चिंता हो,

उन्हें चाहिए कि वे कुच-गिरि को बचाकर निकल जायँ, ताकि काम-लुटेरा उन्हें लूट न ले, उनकी आध्यात्मिक संपत्ति को उनसे छीन न ले। कैसे अनूठे ढंग से उपदेश दिया गया है। विलास-रोग से पीड़ित अज्ञानी रोगी को उपदेश की औषधि किस अनोखे ढंग से पिलाई गई है!

भाषा में जग, मीना, मैन, मवास आदि शब्दों की मनोहरता और शब्दालंकार की प्रौढ़ता किसे न मोह लेगी?

कुच के विषय में महात्मा तुलसीदासजी भी कहते हैं—

तुलसी या जग आइकै कौन भयो समरत्थ,
इक कंचन अरु कुचन को किन न पसारे हत्थ।
[दोहावली]

कंचुकी-वर्णन

अब देखिए, विहारीलालजी किस प्रकार कंचुकी का उत्कृष्ट वर्णन करते हैं। लिखा है:—

भई जु तन-छवि बसन मिलि, बरनि सकैं सु न बैन;
अंग ओप आँगी दुरै, आंगी आंग दुरै न।
(बिहारी-सतसई)

कितना उत्कृष्ट सौंदर्य है? अंग की दीप्ति का कैसा सजीव वर्णन है। इस दोहे के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है; क्योंकि हिंदी-संसार में यह दोहा बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। इसमें मीलित और तृतीय विभावनालंकार का अद्भुत संघट्टन है। शब्दालंकारों के विषय में कहना ही क्या है। माधुर्य-गुण और कैशिकी-वृत्ति स्पष्ट ही है।

कटि-वर्णन

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराइ;
सूछम कटि परब्रह्म-सी अलख लखी नहिं जाइ।
(बिहारी-सतसई)

बुद्धि से अनुमान प्रमाण द्वारा और श्रुति से शब्द प्रमाण द्वारा ब्रह्म के समान कटि के अस्तित्व का कठिनता से निश्चय होता है। उसे प्रत्यक्ष प्रमाण या उपमान द्वारा नहीं जान सकते; क्योंकि वह सूक्ष्म एवं अलख है, अतएव अगोचर है। स्थूल दृष्टि के नेत्रों के द्वारा हम उसे देख ही नहीं सकते।

इसके विषय में विस्तृत वर्णन मैं बहुदर्शिता के अध्याय में कर आया हूँ, पाठक वहाँ देखें। इसमें दार्शनिक सिद्धांत एवं न्याय-शास्त्र के चारों प्रमाणों का उल्लेख बड़े ही अनूठे ढंग से किया गया है। धन्य है बिहारीलाल! तुम नायिका की कटि में भी अखिल विश्व-व्यापी ब्रह्म के दर्शन करते हो। तुम्हारे हृदय की पवित्रता सराहनीय है।

इस दोहे के अनुपम भाव को कई हिंदी-कवियों ने अपनाया है। एक कोई कविजी इसी पर से लिखते हैं—

है तन ही में लखाति नहीं,
बरु बूझिए जाय, तो हैं सब साखी;
मानि लई सब ही अनुमान कै,
पेखी न काहू पसारिकैं आँखी।
जानत साँची कै यातें जहान जो,
आगे तें वेद - पुरानन भाखी ;
ब्रह्म - लौं सूच्छम है कटि राधे की,
देखी न काहू, सुनी सुनि राखी।

कैसे मजे से उड़ाया है। 'सूक्ष्म कटि परब्रह्म-सी' के स्थान में बेचारों को 'ब्रह्म-लौ सूच्छम है कटि' लिख देना पड़ा है। करते तो क्या करते। महाकवि बिहारीलालजी के भाव को उड़ाने में उनके पद का हरण किए बिना काम चल ही नहीं सकता। सवैया में बेचारे कवि महोदय को बार-बार 'पेखी न काहू', 'देखी न काहू'

और 'लखाति नहीं' कहना पड़ा है। चोर चोरी करते समय कुछ घबरा-सा जाता है। जान पड़ता है, कविजी भी बिहारीलालजी का भाव उड़ाते समय घबराए हुए थे। इसी से 'देखी न काहू', 'पेखी न काहू', 'लखाति नहीं' कहते गए, और अंत में जब भावापहरण करते न बना, तो पद-हरण कर डाला। चरण-का-चरण उड़ा मारा। 'सूच्छम कटि परब्रह्म-सी' की जगह 'ब्रह्म-लौं सूच्छम है कटि' लिख मारा। सवैया दोहे तक कभी नहीं पहुँच सकता।

मीरन कवि भी बिहारीलालजी का भाव उड़ाते हुए लिखते हैं—

बुद्धि अनुमान कै प्रमान परब्रह्म जैसे,
ऐसे कटि छीन कवि मीरन कहत है।

और सब ठीक है, पर 'कवि मीरन कहत है' सफेद झूठ है। इस पर हम क्या कहें। यहाँ तो चोरी और सीनाजोरी का मसला है। पाठक देखें कि मीरन की इस पंक्ति में 'बुद्धि अनुमान' प्रमान परब्रह्म' कटि' ये बिहारीलालजी के दोहे के हैं। 'लौं' का 'जैसे' और सूच्छम का 'छीन' करने में मीरन मुँह की खा गए। 'छीन' का ब्रह्म के साथ क्या संबंध ? बिहारीलालजी के नक्कालों पर फटकार ! दिवाकर कवि कहते हैं—

राधिका के लंक लाल केलि परियंक पर,
नीठि नीठि ईश्वर-सी दीठि ठहराति है।

दिवाकरजी भावापहरण करके भी बिहारीलालजी के भाव का शतांश भी न ला सके। इन्होंने दार्शनिक सिद्धांत की मिट्टी पलीद कर दी। 'ईश्वर-सी दीठि ठहराति है, बिलकुल गलत है। जान पड़ता है, दिवाकरजी ईश्वर के स्वरूप के वर्णन से अनभिज्ञ थे। उन्हें यह भी विदित नहीं था कि ईश्वर दृष्टि का विषय नहीं है। वह 'अलख-अगोचर' है। इसी से वेदों ने उसे 'गोतीत' कहा है।

एड़ी-वर्णन

पाँय महावर दैन को नाइन बैठी आइ ;
फिर-फिर जानि महावरी एड़ी मींड़त जाइ ।
(बिहारी-सतसई)

देखिए, कैसा विचित्र सौंदर्य है—

"नाइन (उस सुंदरी नायिका के) पैरों में महावर लगाने आकर बैठी है। परंतु भ्रम से वह उस नायिका की सुंदर अरुण वर्ण की एड़ी को ही महावर जानकर (बिना महावर लगाए) एड़ी को मीड़ती जाती है।"

जब वह नाइन—जिसका व्यापार ही महावर लगाना है, जो महावर के रंग से भलीभाँति परिचित है, जो सदैव एक-से-एक बढ़कर सुंदरी स्त्रियों के पैरों में महावर लगाती है—चकित हो गई है, उसे ही एड़ी और महावर के रंग में कुछ अंतर नहीं जान पड़ता, वह स्वयं भ्रम-वश एड़ी को ही महावर जानकर मीड़ती जाती है, तब औरों की क्या गिनती ! एड़ी को 'जावक-सी' कहनेवाले कवि इस वर्णन के सम्मुख झख मारते हैं। "यह भ्रम वादि बाल कवि करहीं" यह दोहा भ्रांति-अलंकार का अच्छा उदाहरण है।

गति-वर्णन

पग-पग मग अगमन परति चरन अरुण दुति झूलि ;
ठौर-ठौर लखियत उठे दुपहरिया-सी फूलि ।
(बिहारी-सतसई)

"मग में आगमन करते समय पग-पग पर चरण की अरुण द्युति झूल पड़ती है, जिससे ठौर-ठौर ऐसा दिखाई देता है, मानो दुपहरिया फूल उठी हो।"

यह दोहा भी बड़ा मनोहर है। इसमें अरुणोदय और दुपहरिया के फूल उठने का बड़ा ही सच्चा और प्राकृतिक वर्णन है। अरुणोदय पर दुपहरिया का पुष्प खिल उठता है और दोपहर के समय पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है। इसी से लोग उसे दुपहरिया का पुष्प कहते है। यहाँ कवि का आशय यह है कि किसी अत्यंत सुंदरी नायिका का संपूर्ण शरीर तो वस्त्रों से ढका है, पर चरण खुले है। इसी कारण मार्ग में चलते समय डग-डग पर (कदम-कदम पर) उसके अरुण चरण की अरुणाई फैलती है,जिसे देखकर ठौर-ठौर के रसिक प्रेमी इस प्रकार प्रफुल्लित हो उठते हैं, जिस प्रकार अरुण के दर्शन से दुपहरिया के पुष्प ठौर-ठौर विकसित होने लगते हैं। सौंदर्यानुराग से हृदय-कली विकसित होती ही है।

भाव की दृष्टि से तो श्रेष्ठ है ही, पर भाषा की दृष्टि से भी यह दोहा बहुत ही ऊँचा है। 'पग-पग' और 'ठौर-ठौर में वीप्सा का अद्‌भुत चमत्कार है। 'पग-पग मग अगमन' में वृत्त्यानुप्रास की बहार है। 'अरुन-चरन' में जो छेकानुप्रास है, वह हृदयहारी है। 'फूल-फूलि' में अंत्यानुप्रास की उत्कृष्टता है। इसके अतिरिक्त 'पग पग परति', 'दुति-दुपहरिया' और 'अगमन-अरुण' आदि में भी जो भाषा-सौष्ठव है, वह दर्शनीय है।

सौंदर्य-वर्णन

बिहारीलालजी के सौंदर्य-वर्णन पर इस आलोचनात्मक ग्रंथ में कुछ लिखना व्यर्थ है; क्योंकि इस विषय में हिंदी में उनका प्रतिद्वंद्वी कोई है ही नहीं। उनकी नाजुकखयाली, बारीकबीनी, इबारत-आराई, अनूठी उपमाएँ, उनके चोज और उनका व्यंग्य, सभी विचित्र हैं। परंतु पाठकों के मनोरंजन के लिए उनके दो-चार दोहे यहाँ उद्धृत किये देता हूँ। देखिए—

मानहु विधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज ;
दृग-पग पोंछन को किए भूषण पायंदाज।
कहा कुसुम कहा कौमुदी, कितिक आरसी जोति ;
जाकी उजिराई लखे आँख ऊजरी होति।
पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहि हेत ;
दरपन कैसे मोरचा देह दिखाई देत।
अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन से सब गात ;
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषण जाने जात।
लिखन बैठ जाकी सबिहिं गहि-गहि गरब गरूर,
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।
करत मलिन आछी छबिहिं, हरत जु सहज विकास ;
अंगराग अंगन लगै ज्यों आरसी उजास।
भूषण - भार सँभारिहै क्यों यह तन सुकुमार ;
सूधे पायँ न धर परत सोभा ही के भार।
(बिहारी-सतसई)

इनके अतिरिक्त बिहारीलालजी ने भृकुटी, नासा-वेध, नासा-भूषण, वेसर-मोती, कर्ण-भूषण, ग्रीवा-कुच, त्रिवली, जंघा, मुख, पायल और अनवट आदि के वर्णन में भी अनूठे दोहे लिखे हैं। बिहारीलालजी की वर्णन-शैली, भावोत्कृष्टता और काव्य-कला कुशलता के विषय में यही कह देना अलम् होगा कि जब गंग और केशव-से कवियों के वर्णन समता के नहीं तब अन्य कवियों की क्या गिनती! वे बेचारे किस लेखे में! स्मरण रहे, बिहारीलालजी ने शिख-नख के वर्णन में पूरा एक शतक लिखा है।

बहुदर्शिता

महाकवि श्री बिहारीलालजी की अनुभूति और उनका व्यापक ज्ञान एवं अंतरंग और बहिरंग प्रकृति का पर्यवेक्षण उनकी सतसई पढने पर सहज ही बोधगम्य हैं। यह बात अवश्य है कि वह कला को सत्य और शिव, परंतु सुंदर अर्थात् श्रेय और प्रेय रूप में अभिव्यक्त करने की प्रणाली में आर्य - साहित्य के वैज्ञानिक विश्लेषणमय शाहित्य-शास्त्र के अनुगामी थे, परंतु उनकी रचना में काव्य की पूर्ण आत्मा प्रतिष्ठित है। किसो भी प्रणाली से विचार करो, पर यह निर्णय तो अंत में सभी को मान्य है कि काव्य यथार्थ में आत्मा की मनोरथ संकल्पात्मक अनुभूति है, जो व्यक्ति द्वारा प्रकट की जाने के कारण उसकी निजी अनुभूति कही जा सकती है। ऐसी अनुभूति अन्य मनुष्यों में भी होती है, पर वे न तो वैसी सुंदर, सजीव कल्पना कर सकते हैं, और न उसे सरस प्रवाहमयी, भावानु-गामिनी भाषा में अलंकृत और सुहावने रूप ही में व्यक्त कर पाते हैं। संसार में विविध विषयों का अनुभूति को परिचित ज्ञान के साथ प्रेय-श्रेय रूप में व्यक्त करना ही कलाविद का कार्य होता है।

बिहारीलालजी कलाविद् थे। वह यह जानते थे कि काव्य में ज्ञान-धारा अवश्य है, पर काव्य यथार्थ में श्रेयमय प्रेम-धारा प्रधान रचना है। इसी से बिहारीलालजी के काव्य में प्रेम के विभिन्न अनुभावों की अभिव्यक्ति में आत्मा की अभिव्यंजना का मनोरम रूप है, जिसकी अभिव्यक्ति का उपकरण नर-नारी और परमात्म-विषयक प्रेम-वर्णन है। इसे हम प्रेम-वर्णन के अध्याय में दिखला चुके हैं। यहाँ बिहारीलालजी की अन्य अनुभूतियों और उनके व्यापक ज्ञान का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

कविवर बिहारीलालजी ने अपनी अनुभूति से प्रेममय होकर प्रेय-श्रेयमयी एकरूपता की झाँकी देखी थी, और इसी कारण आत्मा की उस कल्पनामूलक अनुभूति को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—

मैं समुझ्यौ निरधार यह जग काँचौ काँच सौ ;
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत यहाँ।
(बिहारी-सतसई)

विश्व के एकत्व के ज्ञान के साथ-साथ आनंदमय विज्ञान की अनुभूति भी रसज्ञ कवि ने अवश्य ही की थी, इसी से तो विश्व के मूल परमात्मतत्त्व को भावयोगमयी अभिव्यंजना उनके निम्न-लिखित दोहे में प्रतिष्ठित है—

मोहनि मूरति स्याम को अति अद्भुत गति जाइ ;
बसत सु-चित अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ।
(बिहारी-सतसई)

महाकवि बिहारीलालजी दौलत पर मरनेवाले नहीं थे। उन्होंने स्वयं अपने इष्टदेव परमात्मा से योग-क्षेम की प्रार्थना करते हुए लिखा है—

तौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय ;
जो पत संपत हू बिना यदुपत राखै आय।
(बिहारी-सतसई)

यह भाव महात्मा कबीरदास के निम्न-लिखित दोहे के उत्कृष्ट भाव से अधिक जोरदार है—

मोको एता दीजियौ जामैं कुटुम समाय ;
आप न भूखा मैं रहूँ, साधु न भूखा जाय।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी सम्राटों, नरेशों एवं श्रीमानों में रहे हैं। उन्होंने श्रीमानों में रहकर भी उनके धन-मद की सदैव तीव्र निंदा की है। लिखा है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाइ,
उहिं पाँयैं बौरात है, इहिं खायैं बौराइ।

(बिहारी-सतसई)

उन्होंने कर्मचारियों और अधिकारियों को उनकी प्रवृत्तियों और उनके प्रजा-विरोधी कर्मों पर खूब ही झिड़का है। लिखा है—

दिन दस आदर पायकै कर लै आपु बखान;
जौ लगि काग सराधपख तौलगि तुव सनमान।
गोधन तू हरष्यौ हियैं, लेहु घरीक पुजाय,
जानि परैगी सीस पै परत पसुन के पॉय।

(बिहारी-सतसई)

द्वितीय दोहे में अन्य मनुष्यों को पशु समझकर उनसे पशु-जैसा व्यवहार करनेवाले, अधिकार-मद में डूबे मनुष्य को जो झिड़की दी है, उसमें कुव्यवहार के दुष्परिणाम की ओर बड़ी कुशलता से जोरदार इशारा है। अत्याचारी शासक के अंतिम परिणाम का सच्चा दृश्य बड़े ओजस्वी ढंग से उपस्थित किया गया है।

श्रीमान् लोग बहुधा दुर्गुणों से युक्त रहकर भी कीर्ति चाहते हैं। उनके आश्रित लोग उनका यशोगान करते रहते है, और श्रीमान लोग उस यशोगान को श्रवण कर सचमुच अपने आपको उस यश के अधिकारियों के समकक्ष बड़प्पन से संपन्न समझने की भूल कर बैठते है। इस प्रकार के दंभ-पूर्ण, भ्रमात्मक आचरण पर कवि-वर बिहारीलालजी ने उन्हें झिड़का है। उन्होंने ऐसे मिथ्या यश की व्यर्थता बतलाते हुए कहा है—

बड़े न हूजे गुनन बिन बिरद बड़ाई पाय,
कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ़्यौ न जाय।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी ने संपत्ति के बढ़ने पर मन के वढने की अनुभूति करके ठीक ही कहा है—

बढ़त-बढ़त संपति-सलिल मन-सरोज बढ़ि जाय,
घटत-घटत फिर ना घटे, बरु समूल कुम्हलाय।
(बिहारी-सतसई)

प्रकृति में विभिन्नता के दर्शन करनेवाले सूक्ष्मदर्शी कविवर बिहारीलालजी ने देखा था कि प्रकृति संपूर्ण प्राणियों में विभिन्नता का दृश्य दिखला रही है। उन्होंने यह भी देखा था कि लाख सर पटकने पर भी प्रकृति में अंतर नहीं आता। अपने पृथक्-पृथक् स्वभावानुसार सब लोग कर्म में प्रवृत्त होते है। इस दार्शनिक सत्य की अनुभूति के बाद ही बिहारीलालजी ने लिखा है—

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच,
नल-बल जल ऊँचौ चढ़ै, अंत नीच कौ नीच।
(बिहारी-सतसई)

प्रयत्न से नल का बल पाकर जल ऊँचा चढ जाता है, पर फिर भी स्वभाव से अधोगतिशील ही रहता है। नीच प्रकृति के लोग समझाने पर भी नहीं समझ पाते, प्रयत्न करने पर भी नहीं सुधर पाते। वे तो स्वभाव ही से अधोगतिशील रहते है।

बिहारीलालजी केवल पुरानों ही का आदर नहीं करते। यदि पुराने सदोष हों; तो वे उनके मत से निकृष्ट है, त्याज्य हैं। वे नवीनों को सम्मानित हुआ देखना चाहते हैं, यदि उनमें गुण हों। तात्पर्य यह कि पुराने यदि सदोष हों, तो त्यागने योग्य हैं, और नवीन यदि गुणमय हों, तो अंगीकार करने योग्य हैं। उन्होंने लिखा है—

यदपि-पुराने बक तऊ सरवर निपट कुचाल ,
कहा भयो जो नए भए ये मनहरन मराल ।
(बिहारी-सतसई)

क्षुद्र हृदय के लोग अपने मुख अपनी प्रशंसा करते हुए बड़ी-बड़ी बातें मारा करते हैं। यह संसार में अधिकता से देखने से आता है। बहुदर्शी बिहारीलालजी ने इस पर कैसा जोरदार व्यंग्य करते हुए लिखा है—

ओछे बड़े न ह्वै सकैं लगि सतरौंहैं बैन ,
दीरघ होंहिं न नेकहूँ फारि निहारैं नैन ।
(बिहारी-सतसई)

अल्पवित्त के छोटे लोग—दुर्बल-हृदय के तुच्छ लोग—भला बड़े वित्त के बड़े लोगों—उदार-हृदय के महाशयों—के किस काम के ? कविवर लिखते हैं—

कैसैं छोटे नरन तैं सरत बड़न के काम ,
मढ़्यौ दमामा जात क्यों लै चूहे कौ चाम ।
(बिहारी-सतसई)

द्रव्य-संग्रह के विषय में कविवर ने बहुत ही ठीक कहा है—

मीत न नीत गलीत यह जो धरिए धन जोरि ,
खाएँ-खरचैं जो बचे, तो जोरिए करोरि ।
(बिहारी-सतसई)

सच है, खाने और अत्यंत आवश्यक खर्चों के सिवा जो कुछ बचे, उसे संग्रह करना ही अच्छा है। खाने और आवश्यक खर्च करने में कमी करके गलीच बनकर कुछ संग्रह करना यथार्थ में बेदनामय होने से बुरा है।

संसार में बहुधा लोग अयोग्य होते हुए भी अपनी योग्यता का अभिनय करते हैं। श्रीमानों में बहुधा यही होता है। इस अनभिज्ञता के कारण गुण-हीन श्रीमान् बहुधा अयोग्य व्यक्तियों को

गुणी समझकर उनका आदर करते हैं, और यथार्थ गुणी लोगों का तिरस्कार करते हैं। बिहारीलालजी ने यही देखकर लिखा है—

अरे हंस वा नगर में जैयो आपु सम्हार ;
कागन सों जिन प्रीति कर कोयल दई बिडार।
(बिहारी-सतसई)

ऐसे दंभी गुण-ग्राहकों पर हजार धिक्कार !

अयोग्य होते हुए भी अपनी मर्मज्ञता प्रदर्शित करने का दुस्साहस करनेवाले दंभी लोगों का बिहारीलालजी ने खूब ही उपहास किया है। लिखा है—

कर लै सूँघि सराहिकै सबै रहे गहि मौन ;
गंधी, गंध गुलाब कौ गँवई गाहक कौन।
(बिहारी-सतसई)

यहाँ 'गँवई' ध्वन्यात्मक शब्द-प्रयोग अज्ञानता के अर्थ में उसी प्रकार है, जिस प्रकार नागर या नागरी प्रवीणता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक मनचले आलोचक, जो ध्वन्यात्मक अर्थ ही नहीं समझ पाते, इसमें ग्रामीणों की निंदा सूँघकर एक पत्र में बिहारी-लालजी पर कटाक्ष करने का निंद्य कार्य कर बैठे थे। इन अज्ञानी, मनचले विद्वान् बननेवाले साहित्य-संहारकों को लक्ष्य करके ही तो बिहारीलालजी ने यह दोहा लिखा है—

सीतलताऽरु सुगंध की घटै न महिमा मूरि ;
पीनसवारो जो तजै सोरा जानि कपूर।
(बिहारी-सतसई)

अयोग्य व्यक्ति सिफारिशों अथवा ममता के बल से चाहे जितना सम्मानित क्यों न किया जाय, पर वह आदरणीय श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ ही रहता है, और गुणी पुरुष सिफारिश अथवा ममता आदि के बल से रहित होते हुए भी, बेमन से रक्खे

जाने पर भी, अपने गुण के कारण उच्चासन प्राप्त कर ही लेता है। गुण ही पूजनीय होता है। इस बात का अन्योक्ति के आवरण में बिहारीलालजी ने निम्न-लिखित दोहे में इस प्रकार वर्णन किया है—

मूड़ चढ़ाएँ हू रहै परयौ पीठि कच-भार ;
रहैं गरैं परि राखिबौ तऊ हियैं पर हार।
(बिहारी-सतसई)

कच-भार को गुण-हीन और हार को गुणवान बनाकर फिर उन्हें क्रम से पीठ पर पीछे पड़े रहने और सम्मुख हृदय पर रहने का वर्णन बड़ा ही श्रेष्ठ और कलामय हुआ है। भाषा में मुहावरों के बल से गंभीर अर्थ-व्यक्ति का मोहक गुण आ गया है।

दिनों के फेर का भी महाकवि बिहारीलालजी ने तमाशा देखा था। इसी से लिखा है—

मरत प्यास पिंजरा परयो सुआ समै के फेर ;
आदर दै - दै बोलियत बायस बलि की बेर।
(बिहारी-सतसई)

कभी-कभी मदांध लोग आदरणीय का भी तिरस्कार कर बैठते हैं। इसे लक्ष्य कर लिखा है—

जो सिर धरि महिमामयी लहियत राजा राउ ;
प्रगटत जड़ता आपनी मुकुट सो पहिरत पाँउ।
(बिहारी-सतसई)

सच है, सम्माननीय का अनादर करनेवाले अपनी ही जड़ता प्रकटित करते हैं।

अत्यंत विनम्रता प्रदर्शित करने पर भी दुर्जनों का विश्वास न करना चाहिए। वे स्वार्थी दाँव देखकर हानि पहुँचानेवाले और अपना स्वार्थ सिद्ध कर ले जानेवाले होते हैं। बिहारीलालजी कहते हैं—

न ए बिससिए अति नए दुरजन दुसह सुभाय ;
आँटे पर प्रानन हरत, काँटे-लौं लगि पायँ ।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी भव-बाधा से त्रस्त अवश्य ही हुए थे, इसी से लिखा है—

मेरी भव - बाधा हरौ राधा नागरि सोय ;
जा तन की झाँईं परे स्याम हरित-दुति होय ।
(बिहारी-सतसई)

संसार के चक्कर में पड़कर—संसार के कष्टों को देखकर—कायरों के समान भाग खड़े होना बिहारीलालजी को अभीष्ट नहीं। वह संसार के कष्टों एवं दुःखों पर विजय प्राप्त करनेवाले कर्म-योगी का मार्ग ठीक समझते हैं। जो सांसारिक बाधाओं से डरकर भागना चाहते हैं, वे बाधाओं द्वारा परास्त किये जा सकते हैं। ससार की बाधाओं के कारण उसे छोड़कर भागने की नीति का अवलंबन करनेवाले को लक्ष्य कर बिहारीलालजी मृग और जाल की अन्योक्ति के आवरण में कहते हैं—

को छूट्यौ इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलाय ;
ज्यों-ज्यों छूटि भग्यो चहै, त्यों-त्यों उरझतु जाय ।
(बिहारी-सतसई)

बिहारीलालजी दुःख से परिचित हुए पर दुःख में भी उन्हें सुख के दिनों की आशा थी। लिखा है—

इहि आशा अटक्यौ रहै अलि गुलाब के मूल ;
ह्वै हैं फेर बसंत - ऋतु इन डारन वे फूल ।
(बिहारी-सतसई)

उनके जीवन में फिर वसत आया या नहीं कौन कह सकता है ? तात्पर्य यह कि महाकवि बिहारीलालजी का ज्ञान अपरिमित

था। उनकी बहुदर्शिता उनकी सतसई में प्रकट हो रही है। वह अपने व्यापक ज्ञान और विलक्षण पांडित्य के ही कारण हिंदी के शृंगारी कवियों के सिरमौर हैं। यहाँ विभिन्न शीर्षकों म बिहारी-लालजी के व्यापक ज्ञान की गरिमा की एक सक्षिप्त झलक दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसमें सर्व-साधारण बिहारीलाल-जी के अनूप पांडित्य के विषय में अनेकानेक ज्ञातव्य बातें जान सकें।

१. पौराणिक बिहारी

मोर-मुकुट की चंद्रिकन यों राजत नँदनंद,
मनु ससि-सेखर की अकस किए सिखर सतचंद।
(बिहारी-सतसई)

मोर-पख में जो चंद्र का आकार होता है, उसे सबने देखा होगा। प्रकृति-निरीक्षक बिहारीलालजी ने इसी को देखकर, श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान शंकर के युद्ध की पौराणिक आख्यायिका का सहारा लेकर उत्प्रेक्षालंकार में कितने अनूठे ढंग से बात कही है, यह देखिए, और प्रखर प्रतिभा-संपन्न महाकवि की प्रशंसा कीजिए।

"मोर-पख के मनोहर मुकुट की चारु चंद्रिकाओं से नदनंदन भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभित होते हैं, मानो चंद्रमौलि भगवान शंकर के विरोध से उन्हें नीचा दिखलाने के लिए अपने सिर पर सौ चद्रमाओं को धारण किया हो।"

भगवान् शंकर के सिर पर तो केवल एक चंद्र है, परंतु श्रीकृष्ण प्रभु ने सौ चंद्रमाओं को प्रकट करके अपने सिर पर धारण किया है।

महाभारत में वर्णित द्रौपदी-चीर-हरण की आख्यायिका अत्यंत प्रसिद्ध है। भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से द्रौपदी का चीर ऐसा बढ़ा कि दुःशासन खींचते-खींचते थक गया, पर उसका छोर न पा सका।

कविवर बिहारीलालजी इसी आख्यायिका का सहारा लेकर किसी विरहिणी नायिका का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

रह्यो ऐंचि अंत न लह्यो अवधि-दुसासन वीर,
आली, बाढ़त विरह ज्यों पंचाली को चीर।
(बिहारी-सतसई)

"अवधि (के समय) रूप वीर (महारथी) दुःशासन विरह-रूपी वस्त्र को खूब ही खींच रहा है, पर उसका छोर हाथ नहीं आता। हे सखी, वह (विरह) द्रौपदी के चीर के समान बढ़ता ही जाता है. घटता नहीं।"

रूपक से परिपुष्ट पूर्णोपमालंकार की छटा इस दोहे में दर्शनीय है। इस दोहे में कितने पते की बात कही गई है, इसे वे ही जान सकते हैं, जिन्हे विरह की व्यथा सहनी पड़ी हो, एवं जो अवधि की घड़ियाँ गिनते-गिनते मिलन के लिए अत्यंत उत्कंठित होते रहे हों।

दैत्यराज बलि ने बड़े-बड़े यज्ञ वेद-विहित विधि से किये थे, उनके करने से वह सुरलोक में इंद्रासन प्राप्त करने के अधिकारी हो गये थे। यह देखकर इंद्र भयभीत हुए। इंद्र ने देवताओं की माता अदिति को भगवान् विष्णु के पास भेजा, और यह प्रार्थना कराई कि भगवान् विष्णु किसी भी प्रकार दैत्यराज वलि को इंद्रासन का अधिकारी न बनने दे। वलि दैत्यराज थे, अतएव उनका इंद्र होना भगवान् विष्णु को भी हानिकर प्रतीत हुआ। यद्यपि बलि से कोई हानि नहीं थी, पर उनके संबंधी दैत्यो से बहुत कुछ अनिष्ट की आशंका थी, क्योंकि वलि के देवनायक होने पर उनके संबंधी बलवान् हो जाते, यह अवश्यंभावी था। पूर्णरूपेण विचार करके भगवान् विष्णु ने वामन-अवतार धारण किया। वह वलि के यहाँ पहुँचे। यज्ञ की पूर्णता के लिए अतिथि-सत्कार करना आवश्यक जान वलि ने उनका यथोचित सत्कार किया।

वामन ने अनुकूल समय देखकर दैत्यराज बलि से तीन डग धरती तपस्या के अर्थ आश्रम बनाने के निमित्त माँगी। बलि ने इस तुच्छ माँग को बिना किसी हिचकिचाहट के सहर्ष स्वीकार किया। दान माँगते समय भगवान् वामन का रूप बहुत छोटा था; परंतु दान लेते समय उन्होंने विराट् स्वरूप धारण कर लिया, और तीन डग में सुरलोक और मृत्युलोक आदि को नाप लिया। यह कथा भागवत में विस्तार से कही गई है। इसी कथानक का उल्लेख करते हुए कविवर बिहारीलालजी ने व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य में कैसी विदग्धता से किसी गोपिका द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति कहलाया है—

छ्वै छिंगुनी पहुँचौ गलित अति दीनता दिखाय ;
बलि-बामन को ब्योंत सुनि को बलि तुम्हैं पत्याय।
(बिहारी-सतसई)

"हे श्रीकृष्ण, तुम अत्यंत दीनता दिखाकर 'छिंगुनी' छूकर पहुँचा पकड़ते हो, पर ऐसी कौन होगी, जो बलि और वामन की कथा और उसका कपटमय व्यवहार (सुन) जानकर भी तुम पर भरोसा करे।"

यह दोहा अच्छा बन पड़ा है। छ्वै, छिंगुनी, दीनता दिखाय और बलि-बामन-ब्योंत की मधुरता देखिए, एवं लोकोक्ति, दृष्टांत छेक और वृत्त्यानुप्रास की स्पष्टता और उनके स्वाभाविक सौंदर्य पर ध्यान दीजिए। नायिका के गूढ़ व्यंग्यमय परिहास का यह दोहा उत्कृष्ट उदाहरण है।

कौरवराज दुर्योधन को यह शाप था कि जब तुम्हे हर्ष और शोक एक ही साथ होंगे, तब तेरे प्राण जायँगे। इसी आख्यान का आधार लेकर कविवर बिहारीलालजी कहते हैं कि किसी नायिका को पीहर जाने का तो हर्ष था, पर प्रियतम के बिछुड़ने का दुस्सह दुःख। इस हर्ष-शोकमय स्थिति में पड़कर वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रही थी। उसकी अवस्था शोचनीय-सी हो रही थी। देखिए, इसी बात को

पूर्णोपमालंकार की मधुरता में परिपक्व कर बिहारीलालजी दोहे की पिटारी में किस प्रकार रख रहे हैं। लिखते हैं—

पिय-बिछुरन का दुसह दुख हरष जात प्यौसार ;
दुरजोधन - लौं दीखियत तजत प्रान इहि बार।
(बिहारी-सतसई)

कौरवराज दुर्योधन को जल-स्तंभन-विद्या सिद्ध थी। उसी के बल से वह सरोवर में जल के भीतर कई दिन तक उस समय छिपकर रहे थे, जब युद्ध का प्रायः अंत हो गया था, और उनके ९९ भाई मारे जा चुके थे। कहते हैं, वहाँ वह कोई प्रयोग सिद्ध कर रहे थे। यदि वह उसमें सफल हो जाते, तो अपने भ्राताओं को पुनरुज्जीवित कर लेते। परंतु पराक्रमी भीमसेन ने उनका सारा खेल बिगाड़ दिया। भीमसेन ने सरोवर के तट पर खड़े होकर उनसे कायर और निर्लज्ज आदि शब्द कहे, जिन्हें श्रवण कर वह क्रोधोन्मत्त हो सरोवर के जल से बाहर निकले एवं भीमसेन से गदा-युद्ध करने पर मारे गए। इस कथानक से दुर्योधन की जल-स्तंभन विद्या का उल्लेख करते हुए बिहारीलालजी ने किसी व्यथित नायिका से कहलाया है—

बिरह-बिथा-जल-परस-बिन बसियत मो हिय-ताल ,
कछु जानत जल-थंभ-बिधि दुरजोधन-लौं लाल ;
(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कोई प्रोषितपतिका नायिका अपने हृदय-देश में बसी हुई अपने प्रियतम की मूर्ति को प्रत्यक्ष प्रियतम समझकर कहती है—

"हे लाल ! दुर्योधन के समान आप भी जल-स्तंभन की कोई विधि जानते हो, इसी कारण विरह-व्यथा-रूपी जल के स्पर्श से बचे रहकर आप मेरे हृदय-सरोवर में वास करते हो।"

यह दोहा काव्य-कला-कुशलता और भावुकता में अद्वितीय है। इसमें नायक की कठोर-हृदय दुर्योधन से उपमा कितनी स्वाभाविक

है। प्रेमिका के सरस, प्रेमी हृदय को 'हिय ताल' के रूपक में रखना कितना स्वाभाविक और चमत्कारी है। 'विरह-बिथा-जल परस-बिन' कहने के पश्चात् 'कछु जानत जल-थंभ-बिधि' कहने में जो भाव और चातुर्य है, वे अनूठे हैं। विस्तार-भय से अधिक न लिखकर मैं इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि 'बिरह-बिथा-जल-परस-बिन' में अलौकिक आनंददायी भाव है। कितनी बारीकबीनी और कैसी सूक्ति है? जब नायक को विरह-विथा-जल का स्पर्श ही नहीं होता, तब वह उपेक्षा करेगा ही। नायिका की विरह-व्यथा की उपेक्षा करना उसे तो साधरण-सी बात है।

अन्यान्य सभी पुराणों से महाकवि बिहारीलालजी परिचित जान पड़ते है। मैं यहाँ विस्तार-भय से केवल दो-एक उदाहरण और देता हूँ। देखिए—

रामायण में वर्णित श्रीसीताजी की 'अग्नि-परीक्षा' का उल्लेख करते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

बसि सकोच-दस-बदन-बस, साँच दिखावत बाल,
सिय-लौं सोधति तिय तनहिं, लगनि अगनि की ज्वाल।

(बिहारी-सतसई)

राक्षस अघासुर ने जब ग्वाल-बाल समेत गायों को अपने उदर में रख लिया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने उसका नाश कर उन्हें उसके पेट से निकाला, और उनकी रक्षा की। इसी का आश्रय लेते हुए बिहारीलालजी कहते है—

यों दल काढ़े बलख तैं तूँ जयसाह भुआल,
उदर-अघासुर के परे ज्यों हरि गाय-गुवाल।

(बिहारी-सतसई)

जब इंद्र की पूजा रोककर भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की पूजा कराई, तब इंद्र क्रुद्ध हो गए, और उन्होंने सात दिन-रात ब्रज पर

प्रलय के मेघों द्वारा मूसलाधार जल बरसाया। उस समय भगवान श्रीकृष्ण ने व्रज की रक्षा के लिए गोवर्धन-पर्वत को अपनी छिंगुनी पर उठाया था। उसी कथानक का वर्णन करते हुए विहारीलालजी लिखते हैं—

प्रलयकरन बरसन लगे जुरि जलधर इक साथ ;
सुरपति-गर्व हर्यो हरषि गिरिधर गिरिधर हाथ।
(विहारी-सतसई)

तात्पर्य यह कि महाकवि बिहारीलालजी ने पौराणिक कथानकों का वर्णन अपने मुख्य विषय के साथ-साथ कितना कवित्व-पूर्ण किया है, यह मर्मज्ञ विद्वान ही देखें। ऐसे कवि प्रायः दुर्लभ होते हैं।

२. ज्योतिषज्ञ बिहारी

कविवर बिहारीलालजी का ज्योतिष-ज्ञान भी अपरिमित था। मैं यहाँ केवल तीन दोहे उद्धृत करता हूँ, उतने से ही हमारे पाठक संतोष करेंगे।

निम्न-लिखित दोहे में बड़े पुण्य से प्राप्त होनेवाले संक्रांति के पर्व का वर्णन रूपक में है। जब दो राशियों के मध्य में सूर्य आता है, तब संक्रांति होती है, और संक्रांति का वह अल्प समय पुण्य-काल माना जाता है। इसी बात का उल्लेख करते हुए बिहारीलाल। जी लिखते हैं—

तिय-तिथि, तरनि-किशोर वय, पुन्य-काल सम दोन ;
काहू पुन्यनु पाइयतु बैस-संधि संक्रोन।
(वहिारी-सतसई)

दूती नायक को नायिका से मिलने के उद्देश्य से कहती है—

"हे नायक, नायिका ही तिथि है, किशोर वय ही सूर्य है-किशोर और तरुण अवस्थाओं की संधि ही दो राशियों के मध्य का काल है। यह वय-संधि और संक्रांति दोनो समान पुण्य-काल

है। इनकी प्राप्ति किसी बड़े पुण्य-प्रताप से होती है। जो इस संक्रांति में—पर्व-काल में गंगादि तीर्थों में मज्जन करते और दान देते हैं, वे ही इस पर्व-काल में पुण्य और सुख के भागी होते हैं। अतएव तुम उस तिय-तीर्थ में वय-संधि-काल में क्रीड़ा करो, प्रेम का दान करो, और अपने पुण्य का फल भोगो, नहीं तो इस वय-संधि के पर्व-काल के व्यतीत हो जाने पर तुम पछताते रह जाओगे।"

दोहे में सविषय सावयव रूपालंकार की छटा दर्शनीय है।

जब बृहस्पति और मंगल के साथ चंद्रमा एक राशि पर आता है, तब जगद्व्यापी जल-योग होता है। 'बिंदी' का वर्णन करते हुए महाकवि बिहारीलालजी मनोहर श्लेष से परिपुष्ट रूपकालंकार बाँधते हुए इसी सिद्धांत को इस प्रकार कहते हैं—

मंगल-बिंदु-सुरंग, ससि-मुख, केशर-आड़-गुरु ;
इक नारी लहि संग,रसमय किय लोचनजगत।

(बिहारी-सतसई)

"सुंदरी नायिका के भाल में लगी हुई (सौभाग्य-सूचक) लाल रंग की रोरी की बिंदी मंगल है। मुख चंद्रमा है। पीतवर्ण की केशर की आड़ बृहस्पति है इन सबने एक 'नारी' (नाड़ी व स्त्री) में स्थित होकर लोचन-जगत् (संसार-रूपी नेत्रों) को रसमय (जलमय व शृंगाररसमय) कर दिया *।"

शास्त्रों में मंगल का लाल और बृहस्पति का पीला रंग लिखा है। 'मुख-चंद्र' ठीक ही है।

---

*प्राग्राशितोऽपरराशौ संक्रमणं संक्रान्तिः
(मुहूर्तचिन्तामणौ पीयूषधाराटीकायां संक्राति प्रकरण, पृष्ठ ११२)
एकनाडीसमारूढौ चन्द्रमाधरणीसुतौ ;
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदैकार्णविता मही !
(वृष्टि-प्रबोध—सप्तनाडीचक्रप्रकरण)

इस दोहे की टीका में पंडित पद्मसिंह शर्मा अपने संजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग के पृष्ठ १९९ पर लिखते हैं—

"इन सबने एक नारी (स्त्री, राशि) में इकट्ठे होकर संसार के नेत्रों को रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—"

फिर लिखते हैं—"यह सोरठा समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक का उत्कृष्ट उदाहरण है।"

मुझे तो शर्माजी के दोनों कथनों में वदतो व्याघात-दोष स्पष्ट दिखाई देता है। जब शर्माजी दोहे में समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक मानते हैं, तब 'लोचन-जगत' में वह रूपक गया कहाँ? मेरे विचार से शर्माजी दोहे को समझे नहीं। शर्माजी के अर्थ के अनुसार तो नायिका के 'बिंदी' लगे मुख को देखकर सब संसार—जिसमें पिता-भ्राता व मातुल आदि सभी आ जाते है—शृंगारमय हो जाता है, जो सर्वथा अनुचित है। बिहारीलालजी ऐसा अनुचित वर्णन कदापि नहीं कर सकते। दोहे में 'लोचन-जगत' से लोचन-रूपी जगत स्पष्ट है। इससे रूपक की पूर्णता भी नष्ट नहीं होती और वर्णन में भी अनौचित्य का आगमन नहीं होता।

जन्म-समय में यदि शनि गुरु की राशि अर्थात् धन या मीन में और स्वराशि अर्थात मकर या कुंभ में तथा उच्च राशि तुला में हो, तो इस सुलग्न में जन्म लेनेवाला मनुष्य नृपति होता है*।

---

*गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नृपतिसदृशो ग्रामपुरपः
सुविद्वांश्चावर्गो ... ...
(बृहज्जातक— वराहमिहिराचार्य)

तथा—
स्वोच्चस्वकीयभवने क्षितिपालतुल्यो
लग्नेऽर्कजे भवति देशपुराधिनाथः।
प्रसूतिकाले नलिनीशसूनुः स्वोच्चत्रिकोणस्वगतो विलग्ने ;
कुर्यान्नरं देशपुराधिनाथं
(जातकाभरणम्—शनि-भावफलम्)

इस सिद्धांत का आश्रय लेकर कविवर बिहारीलालजी कहते हैं—

सनि कज्जल, चख झख लगनि, उपज्यौ सुदिन सनेह ;
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लगि सुदेश सब देह।
(बिहारी-सतसई)

"आँख का काजल शनि है, 'चख' (चक्षु) मीन लग्न है, ऐसे सुयोग में जिसका जन्म हुआ है, वह स्नेह (बालक) सर्व शरीर-रूपी देश पर अधिकार जमाकर क्यों न राज्य करेगा।" ज्योतिष के फलादेश में किसे संदेह हो सकता है ?

३. नीतिज्ञ बिहारी

(१) जिन्होंने संसार का इतिहास पढ़ा है, वे इस बात को भली भाँति जानते हैं कि जब प्रजा पर दुहरे शासकों का शासन होता है, तब वह अशांति का क्रीड़ा-स्थल बन जाती है। उसके दुःखों की बेतरह बढ़ती होती है। उसकी पीड़ा पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। यह बात अमावस्या के अंधकार का दृष्टांत देते हुए बिहारी-लालजी ने बड़े ही मार्मिक ढंग से कही है। सूर्य और चंद्र के एक राशि पर आने से अमावस्या के दिन घोर अंधकार छा जाता है, इसी प्रकार एक ही देश पर दो राजाओं का या दुहरा शासन होने से प्रजा पर आपत्ति के बादल छा जाते हैं। कितने पते की बात और वह भी कितने निराले ढंग से कही है। यह देखिए—

दुसह दुराज प्रजानि कों क्यों न बढ़ै दुख-दंद,
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रबि-चंद।
(बिहारी-सतसई)

(२) श्रुति-स्मृति और नीतिज्ञ लोगों का यही कहना है कि राजा, पातक और रोग निर्बल को ही दबाते हैं। निर्बल जाति को राजा, निर्बल शरीर को रोग और निर्बल आत्मा के लोगों को पाप दबाते ही हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है। जो राष्ट्र या जो जाति

बल-संपन्न है, उससे शासक भय खाता है; अतएव यदि किसी जाति को शासक के अत्याचारों से मुक्त होना है, शासक के अनुचित दबाव को उठा देना है, तो पहले उसे बल-संपन्न होना चाहिए। बिना बल-संपन्न हुए उसका निस्तार नहीं। इसी प्रकार निर्बल शरीर को रोग दबाते हैं। कहावत प्रसिद्ध है—"हीन देखकर रोग दबाते हैं।" निर्बल आत्मा के लोगों को पाप अपने वशीभूत करता है, अर्थात् दुर्बल-हृदय होने से उनमें मानसिक बल नहीं होता, अतएव वे जब चाहें, तब पाप करने को तैयार हो जाते हैं। इसी सिद्धांत को, इसी गहन सिद्धांत को, महाकवि बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे में देखिए—

इहै कहैं स्रुति-सुमृति औ' यहै सयाने लोग ;
तीन दबावत निसक हीं राजा पातक रोग।

(बिहारी-सतसई)

(२) राजनीति-प्रवीण योग्य शासक का यह कर्तव्य-कर्म है कि वह अपने ही पक्ष के लोगों की बढ़ती करे—अपने पक्ष के लोगों की मान-मर्यादा बढ़ावे। संसार के सभी योग्य शासक ऐसा ही करते हैं। राजनीति का यह एक बड़े काम का सिद्धांत है। जिस शासक के पक्ष के लोग अधिक रहेंगे, उसी का शासन सुदृढ़ रहेगा. और वही अच्छा शासक कहलावेगा। साथ-साथ अन्य निकटवर्ती शासक भी उसे बलवान समझेंगे, एवं उसका राज्य सुदृढ़ और संगठित होगा। शासन की बागडोर उसी के हाथ में रहेगी। संसार में जिसका पक्ष अधिक है, जिसकी बहुसंख्या है, वही बली है। राजनीति के इस गहन सिद्धांत को कविवर बिहारीलालजी किस विदग्धता से काव्य के साँचे में ढालकर कहते। यह देखिए—

अपन अंग के जानिकैं जोबन-नृपति प्रवीन ,
स्तन, मन, नयन, नितंब को बड़ो इजाफा कीन।

(बिहारी-सतसई)

"यौवन-नृपति ने अपने पक्ष के जानकर (तरुणी के) स्तन, मन, नयन और नितंब को बड़ी तरक्की दी, उनकी अधिक मर्यादा बढ़ाई।"

(४) जब कोई सुदूरस्थ शासक किसी दूरवर्ती देश का शासन करने के लिये अपने किसी राजभक्त, विश्वासपात्र हाकिम या गवर्नर को भेजता है, तब वह गवर्नर उस सुदूरवर्ती देश में जाकर उस देश के बल को घटाने और अपना राज्य दृढ रखने के लिये अपने बुद्धि-बल से अथवा अपनी राजनीति-प्रवीणता के बल से उस देश की बढ़ी हुई संगठित शक्ति को घटाकर बल-हीन बना देता है, और दिखावा-स्वरूप किसी घटी हुई निर्बल शक्ति को बढ़ा देता है। यही उस हाकिम या गवर्नर का कर्तव्य होता है। यदि वह इस कर्तव्य का पालन कर सकता है, तो वह गवर्नर योग्य और प्रवीण समझा जाता है, और उसकी हुकूमत का समय सफल समझा जाता है। प्रवीण राजनीतिज्ञ पुरुष इस विषय को भली भाँति जानते हैं। इस संपूर्ण विषय को मुग्धा नायिका के अवयवों की बढ़ती दिखलाते हुए छोटे-से दोहा-छंद में कह जाना बिहारी-लालजी-सदृश महाकवि का ही काम है। देखिए—

नव-नागरि-तन-मुलक लहि, जोबन आमिल जोर ;
घट बढ़ तैं बढ़ घट करी रकम और की और।
(बिहारी-सतसई)

(५) यदि दुष्ट स्वभाववाला मनुष्य अत्यत नम्रता या विनय भी दिखलावे, तो भी उसका विश्वास कभी न करना चाहिए। इस बात का उपदेश देते हुए बिहारीलालजी लिखते हैं—

न ए बिससिए अति नए दुरजन दुसह सुभाय ;
आँटे पर प्रानानि हरत काँटे लौं लगि पाय।
(बिहारी-सतसई)

महात्मा तुलसीदासजी भी इसी सिद्धांत को इस प्रकार लिखते हैं—

नमन नीच की अति दुखदाई ;
जिमि अंकुस, धनु, उरग, बिलाई ।
(रामायण)

(६) छोटे हृदयवाले तुच्छ मनुष्य महापुरुषों के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता पहुँचाने में सदैव असमर्थ हैं। छोटों से बड़े काम कभी संपादित नहीं हो सकते। कहीं चूहे के चमड़े से भी ढोल मढा जा सकता है—

कैसे छोटे नरन तें सरत बड़न के काम ;
मढ़यो दमामा जात क्यों लै चूहे को चाम ।
(बिहारी-सतसई)

(७) इस संसार में उसी का आदर होता है, जिसके शरीर में बुराई का वास होता है, अर्थात जिससे अनिष्ट की आशंका रहती है, लोग उससे डरते है, इसी कारण उसका आदर करते है। उत्तम ग्रह जैसे बृहस्पति आदि के लिये कोई जप नहीं कराता—दान नही देता, परंतु राहु और शनि-सदृश कुग्रहों के लिए लोग जप कराते है, दान देते हैं; क्योंकि उनसे अनिष्ट की आशंका रहती है। महाकवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बसै बुराई जासु तन ताही को सनमान ;
भलो भलो कह छाँड़िए खोटे ग्रह जप-दान ।
(बिहारी-सतसई)

(८) यदि बुरे स्वभाववाला पुरुष बुराई छोड़ दे, तो मन अत्यंत संकित होता है, क्योंकि उसका बुराई छोड़ देना किसी प्रकार का

भारी अनिष्ट करता है। उसका बुराई छोड़ना उसी प्रकार हानि-कारक समझना चाहिए, जिस प्रकार चंद्रमा को कलंक-रहित देखकर संसार किसी भारी अनिष्ट का आगमन समझता है। समर्थ कवि बिहारीलालजी लिखते हैं—

बुरौ बुराई जो तजै, तो मन खरो सकात ;
ज्यों निकलंक मयंक लखि गनैं लोक उतपात।
(बिहारी-सतसई)

(९) मनुष्य की और नाले के पानी की एक-सी गति समझना चाहिये। वह जितना नीचा होकर चले, उतना ऊँचा होता है। नाले का पानी जितना नीचा होकर बहता है, उतना ही गहराई लिये होता है—उतना ही ऊँचा होता है। इसी प्रकार मनुष्य जितना नम्र और विनय-शील होता है, उतना ही उच्च अर्थात् गंभीर अतएव सम्माननीय होता है। महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

नर की अरु नल-नीर की एकै गति करि जोइ ;
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ।
(बिहारी-सतसई)

इसी सिद्धांत को लक्ष्य करके गुरु नानक कहते हैं—

नानक नन्हें ह्वै चलो, जैसे नन्ही दूब ;
घास-फूस जर जाइगो, दूब रहैगी खूब।

(१०) किसी कारण-वश यदि तुच्छ पुरुषों को सम्मान दिया जाय, तो क्या हुआ, वे सदैव आदरणीय कभी नहीं हो सकते। इस सिद्धांत को हृदयग्राही अन्योक्ति का आश्रय लेकर समर्थ कवि बिहारीलालजी कहते हैं—

दिन दस आदर पायकै कर लै आपु बखान ;
जौ लगि काग सराध-पख, तौ लगि तुव सनमान।
(बिहारी-सतसई)

"हे काग! दस-पाँच दिन के लिये आदर प्राप्त कर तू अपनी प्रशंसा गा ले। तेरा सम्मान तभी तक है, जब तक श्राद्ध-पक्ष है। श्राद्ध-पक्ष के निकल जाने पर-व्यतीत हो जाने पर—कोई तेरी बात भी न पूछेगा।" कैसी हृदयहारी अन्योक्ति कही है।

(११) यदि दामाद (जमाई) श्वशुर-गृह में श्वशुर के आश्रित होकर रहने लगे, तो उसका मान घट जाता है। न तो आते समय ही उसे कोई जानता है, और न जाते समय। बड़ा विकट अनादर हो जाता है। क्योंकि वह अपना तेज खो बैठता है। जब तक तेज है, तभी तक आदर है, बड़प्पन है, पूछ है। तेजवान पुरुष के आते-जाते समय लोग उसे आदर देते हैं, राम-रहीम करते हैं परंतु श्वशुर के आश्रित तेज-हीन जमाई का कुछ भी आदर नहीं रहता, वह पूस के दिन के समान आता-जाता है। जिस प्रकार पूस का दिन-मान बहुत घट जाता है, उसी प्रकार उस जमाई का मान बहुत घट जाता है। समर्थ महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

आवत-जात न जानिए तजि तेजहिं सियरान ;
घरहि-जमाई लौं घट्यो खरो पूस - दिन-मान।
(बिहारी-सतसई)

कोई संस्कृत-कवि कहता है—

अधमाः मातुलाख्याताः श्वशुराश्चाधमाधमा।
(बिहारी-सतसई)

अब विस्तार-भय से मैं अन्य उदाहरण देने में असमर्थ हूँ। विवेचक विद्वान उन्हें सतसई में स्वयं देखें। बिहारीलालजी का एक अपूर्व सिद्धांत और लिखता हूँ—

अपत भए बिन पायहै क्यों नव दल-फल-फूल ?
(बिहारी-सतसई)

जब तक आपत्ति नहीं भोगोगे, तब तक सौख्य और उन्नति की

प्राप्ति हो ही नहीं सकती। कितनी संगत बात है, एवं कैसा उत्कट उपदेश है। जब तक बीज मिट्टी में नहीं मिल जाता, तब तक अंकुर नहीं निकलता और न वह एक से पचास होकर अपनी उन्नति कर पाता है। उन्नति के लिए कष्ट उठाने की आवश्यकता है। चाहे जातीय उन्नति हो, चाहे देशोन्नति, चाहे आत्मोन्नति। प्रत्येक प्रकार की उन्नति के लिये 'अपत' होकर कष्ट भोगने की आवश्यकता है। बिना स्वर्थ-त्याग किये सच्ची उन्नति असंभव है। तुच्छ स्वार्थों के बलिदान से ही उन्नति की देवी प्रसन्न होती है।

४. आयुर्वेदज्ञ बिहारी

(१) यह बिनसत नग राखिकैं जगत बड़ो जस लेहु ;
जरी बिषमजुर ज्याइए, आय सुदरसन देहु ।
(बिहारी-सतसई)

"इस नाश को प्राप्त होनेवाले 'नग' (नारी-रत्न) की रक्षा करके जगत में बड़ा यश प्राप्त करो। वह (विरह) विषमज्वर में जल रही है उसे सुदर्शन (सुंदर दर्शन और सुदर्शन-चूर्ण) देकर जीवित रक्खो।"

इस दोहे में 'सुदरसन' और 'बिषमजुर' श्लिष्ट पद हैं। विषम-ज्वर पर सुदर्शन-चूर्ण का प्रयोग लिखकर कवि ने अपने आयुर्वैदिक ज्ञान का परिचय दिया है। आयुर्वेद के ग्रंथों में विषमज्वर पर सुदर्शन का प्रयोग अत्यंत प्रसिद्ध है। देखिए—

सुदर्शनं नाम मरुद्वलासा-
मयोद्भवान्हन्ति पृथक्कृताञ्ज्वरान्;
सुदर्शनं दानवनाशनं यथा
सुदर्शनं रोगविनाशनं तथा।
(भेड़संहिता)

एतत्सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम्;
ज्वरांश्च निखिलान्हन्यान्नात्र कार्या विचारणा।

तथा—

ज्वराणां वै तु सर्वेषामिदं चूर्णं प्रणाशनम् ।

(शार्ङ्गधर संहिता)

(२) वैद्य—वैद्य को नाड़ी-ज्ञान, नाड़ी-ज्ञान से रोग का निदान और रोग के निदान पर औषधि का प्रयोग— इसके सिवा वैद्यक में और है ही क्या ? इसी बात को स्पष्ट करते हुए महाकवि बिहारीलालजी ने यह सोरठा कहा है।

मैं लखि नारी-ज्ञान करि राख्यो निरधार यह ;
वहई रोग - निदान, वैद्य वहै, औषधि वहै ।

(बिहारी-सतसई)

पूर्वानुरागिणी नायिका की विरह-वेदना बढ गई है। वह भेद छिपाती है। तब कोई अंतरंगिणी सखी उससे कहती है—

"मैंने नारी-ज्ञान (नाड़ी-ज्ञान, नारी-ज्ञान अर्थात स्त्रियों की चेष्टादि से उनका हाल जानना) देखकर यह निश्चय कर रक्खा है कि तुम्हारे रोग का कारण वही है, तेरी औषधि वही है और तुम्हारा वैद्य वही है (जिससे तू प्रेम करती है) ।"

५. दार्शनिक बिहारी

(१) कटि के संबंध में सुकवि बिहारीलालजी लिखते है—

बुधिअनुमान प्रमानश्रुति किए नीठि ठहराए ;
सूछमकटि परब्रह्मलौं अलख लखी नहिं जाय।

(बिहारी-सतसई)

बुद्धि से अनुमान-प्रमाण द्वारा और श्रुति (वेद, श्रवण) से शब्द-प्रमाण द्वारा ब्रह्म के समान कटि का निश्चय होता है। उसे प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा या उपमान-प्रमाण द्वारा जान ही नहीं सकते, क्योंकि वह सूक्ष्म तथा अलख है, अतएव अगोचर है। स्थूल दृष्टि से नेत्रों द्वारा हम उसे देख ही नहीं सकते। तात्पर्य यह कि जिस

प्रकार श्रुति अर्थात वेद के प्रमाण द्वारा हम ब्रह्म के विषय में सुनते हैं कि—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म तथा "सत्य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मेति '' और "अयमात्मा ब्रह्म" जानकर ब्रह्म को अत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" श्रुति के अनुसार उसका ध्यानादि करने लगते हैं, उसी प्रकार श्रुति अर्थात कानों से शब्द-प्रमाण द्वारा सुनते हैं कि कमर है, और कमर के बारे में विचार करते है। फिर अनुमान-प्रमाण द्वारा यथार्थ वस्तु की विवेचना करने के लिए—"जनमाद्यस्य यतः" आदि श्रुति के अनुसार अनुमान करते हैं कि यदि ब्रह्म नहीं है, तो इस अखिल जगत की सृष्टि कैसे हुई ? इस कोट्यानुकोट ग्रह, नक्षत्र मंडल-मंडित ब्रह्मांड का आश्रय क्या है ? कौन है ? और फिर इन प्रश्नों के उत्तर में बुद्धि से अनुमान करते हैं कि ब्रह्मांड का बनाने-वाला, ब्रह्मांड का आश्रय ब्रह्म अवश्य ही है, और उसी के आश्रत सपूर्ण चराचरमय विश्व है । जिसका प्रब्रह्म के विषय में अनुमान करते है, उसी प्रकार कटि के विषय में अनुमान करते हैं कि यदि कटि नहीं है—आश्रय नहीं है—तो फिर इस शरीर के कटि से ऊपर का भाग जिसमें छाती, बाहु, ग्रीवा, मुख और सिर आदि हैं—किसके आश्रित है ? शरीर के इस भाग का आश्रय क्या है ? फिर भी वह ब्रह्म के समान अलख है—अप्रत्यक्ष है—अगोचर है। वह देखी नही जा सकती। ब्रह्म का—कटि का—साक्षात्कार हो ही नहीं सकता उसका अस्तित्व भी कठिनता से ध्यान में आता है।

नैयायिकों ने—"प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शाब्दश्चेति" अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द, ये चार प्रकार के प्रमाण माने है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर न्याय शास्त्र के वेत्ता दार्शनिक बिहारीलालजी लिखते है—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किए नीठि ठहराइ ।

अर्थात् शाब्द (श्रुति-प्रमाण) और बुद्धि (अनुमान-प्रमाण) द्वारा कटि-ब्रह्म के अस्तित्व के विषय में निश्चय करते हैं। क्योंकि—

सूछम कटि परब्रह्म-लौं अलख लखी नहिं जाइ।

इससे प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा उसे जान ही नहीं सकते। अब रहा उपमान-प्रमाण, सो ब्रह्म अनुपम है, कटि भी अनुपम है, उसे किसी वस्तु की उपमा दी ही नहीं जा सकती। उस उपमेय का कोई उपमान ध्यान में आता ही नहीं, अतएव उपमान-प्रमाण से भी उसे—कटि को तथा ब्रह्म को—जान ही नहीं सकते। पाठक ध्यान से देखें कि दर्शन-शास्त्र का निचोड़ बिहारीलालजी ने किस प्रकार नायिका की कटि का वर्णन करते हुए, एक छोटे-से दोहा-छंद में कहा है। मै कहता हूँ कि हिंदी का सौभाग्य है कि हिंदी मे बिहारीलालजी कवि हुए। दोहे मे अतिशयोक्ति गर्भित उपमा की जितनी बहार है, उतना ही श्लेष का चमत्कार है। ऐसी अनूठि रचना करना बिहारीलालजी का ही काम है।

इसी ढंग का वर्णन महाकवि श्रीहर्ष ने 'नैषधीय चरित महाकाव्य' के दशम सर्ग के ८७ वे श्लोक में किया है। यद्यपि महाकवि बिहारीलालजी और इनके वर्णनों में विभिन्नता है पर रसिक काव्य-प्रेमी सज्जनों के अवलोकनार्थ मैं उसे यहाँ देता हूँ। देखिए, कैसी सूझ है—

या सोमसिद्धान्तमयाननेव
शून्यात्मतावादमयोदरेव,
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव
साकारतासिद्धिमयाखिलेव।

जिसका मुख-चंद्र कापालिक दर्शन (कपिलदेवजी के सांख्य दर्शन) के समान सुस्पष्ट और दुःख-तम-नाशक है, जिसका उदर-देश बौद्धादि मध्यामिक लोगों के ('शून्यं शून्यमिदं जगत्'

तथा 'आत्मानो न सन्तीति') सिद्धांत के अनुसार अत्यंत कृशता लिए हुए है, जिसका हृदय निराकारवादी विज्ञान-वेत्ताओं के समान 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सिद्धांतानुसार 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' अर्थात् सर्व प्राणियों से दया और प्रेम-पूर्ण उदार भाव रखनेवाला है, और जिसका समस्त सुंदर स्वरूप सौत्रांतिक साकार विज्ञान-वादियों की साकारता-सिद्धि के समान आनंददायी है। इस पद्य में देखिए श्रीहर्षजी चंद्रानना, अति कृशोदरी, प्रेमशीला, उदार-हृदया और अति सुंदरी दमयंती के स्वरूप का वर्णन उत्प्रेक्षालंकार के सहारे कितने अनूठे ढंग से कर गए है। ऐसी रचना करनेवाले ही यथार्थ में महाकवि के आसन के योग्य है—

(२) इस दृश्यमान प्रपंच के विषय में वेदांत-केसरी स्वामी विद्यारण्यजी महाराज सुप्रसिद्ध प्रमाणिक वेदांत-ग्रंथ पंचदर्शी में लिखते है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यशपञ्चकम्;
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।

अर्थात्—अस्ति (सत्ता), भाति (प्रकाश), प्रियं (प्रेमास्पदता), नाम और अकार—ये पाँच अंश इस 'प्रपंच' में हैं। इनमें से तीन अर्थात सत्ता, और प्रकाश और प्रेमास्पदता ब्रह्म का रूप है, और नष्ट हो जानेवाले अतएव असत्य नाम और रूप (आकार) जगत का स्वरूप है।

विचारकर देखने से विदित होता है कि सत्ता, प्रकाश और प्रेमस्पदता से भिन्न जो नाम-रूपमय जगत है, वह सत्य नहीं है, मिथ्या है। जो वस्तु जिसमें कल्पित हो, वह वस्तु उससे भिन्न नहीं है, इससे ब्रह्म से जगत का वास्तव में अभेद है, अतएव ब्रह्म से जगत् की भिन्न सत्ता नहीं है। कनक (स्वर्ण) में कुंडल की प्रतीति के दृष्टांत से ब्रह्म से भिन्न जगत की सत्यता की भ्रांति की

निवृत्ति होती है। जिस प्रकार नाम और रूप (आकार) वाला कुंडल स्वर्ण से भिन्न नहीं है, किंतु स्वर्ण ही है, उसी प्रकार यह संपूर्ण चराचरमय विश्व-प्रपंच ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किंतु ब्रह्म ही है। नाम और रूपमय जो जगत का यथार्थ स्वरूप है, सो मिथ्या है, अतएव जगत मिथ्या है। श्रुति कहती है—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः,
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।

और—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
व्यापी सर्वसर्वभूतान्तरात्मा;
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

वास्तव में ब्रह्म से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है। इसी को वेद भगवान् का मंत्र-भाग इस प्रकार कहता है—

पुरुष एवेदं ग सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
(यजु० अध्याय ३१, मं० २)

अर्थात् जो कुछ उत्पन्न हुआ है, और होनेवाला है, वह ब्रह्म ही है। तथा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः;
तदेव शुक्रं तदब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।
(यजु० अध्याय ३२, मं० १)

अर्थात वही ब्रह्म अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चंद्रमा है, वही शुक्र है, वही जल है, और वही प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसके सिवा और कुछ है ही नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने गांडीवधारी अर्जुन से यही सिद्धांत इस प्रकार कहा है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ;
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ,
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ७)

भावार्थ — हे अर्जुन, यह समझ ले कि मुझसे ही सर्व जगत की उत्पत्ति होती है और मुझमें ही संपूर्ण चराचरमय विश्व का लय हो जाता है। हे धनंजय, मुझसे परे और कुछ भी नहीं है— कोई भी नहीं है। मुझ परब्रह्म में ही यह संपूर्ण दृश्यमान प्रपंच पिरोया हुआ है, जैसे तागे में मोतियों के गुच्छे। अस्तु।

इसी गहन सिद्धांत को दार्शनिक बिहारीलालजी ने अपने दोहे में प्रतिबिंब-वाद का आश्रय लेकर व्यक्त किया है। अन्यान्य वादों के समान वेदांत-शास्त्र में प्रतिबिंब-वाद की भी प्रमुखता है। इसी प्रतिबिंब-वाद का आश्रय लेकर स्वामी विद्यारण्यजी महाराज ने लिखा है —

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता
तमो रजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ।
(पंचदशी तत्त्व-विवेक-प्रकरणम् , श्लोक सं० १५)

अर्थात चिदानंद रूप ब्रह्म के प्रतिबिंब से समन्वित सत्त्व, रज एवं तम तीनो गुणों की जिसमें साम्यावस्था है, वह प्रकृति दो प्रकार की है। अस्तु।

वेदांत- शास्त्र के वेत्ता महाकवि बिहारीलालजी कहते हैं—

मैं समुझ्यो निरधार यह जग काँचो काँच-सो ;
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत यहाँ ।
(बिहारी-सतसई)

मैं विचार करके इस निर्णय पर आया हूँ कि यह दृश्यमान

जगत् काँच के शीशे की तरह कच्चा है। जिस प्रकार एक ही जोर की ठेस लगने से काँच का शीशा चूर-चूर हो जाता है, अपना अस्तित्व खो देता है, उसी प्रकार यह संसार- रूपी काँच का शीशा भी ज्ञान की जबर्दस्त ठेस के लगते ही चूर-चूर हो जाता है, अपना अस्तित्व खो देता है, अतएव कच्चा है—मिथ्या है—माया-मरीचिका है। क्योंकि सत् का नाश होता ही नहीं। जिस प्रकार काँच के प्रतिबिंब-ग्राही होने से काँच के महल (शीश-महल) में एक ही व्यक्ति के अनेक प्रतिबिंब अनेक रूपों में (कोई छोटा, कोई बड़ा आदि) दिखाई देते हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के अनेक प्रतिबिंब इस दृश्यमान जगत में दिखाई देते हैं—भासमान होते हैं। अनेक प्रतिबिंब दिखाई देने का कारण-अनेक भावों की पार्थक्य-प्रतीति का कारण—नाम और रूप मिथ्या है—असत् है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः

अर्थात् न तो असत् की सत्ता (भाव) है, और न सत् का अभाव (नाश) है।

पाठक देखें, कितना शुद्ध और स्पष्ट वर्णन है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' एवं 'नेह ना नास्ति किंचन्' का कैसा अच्छा स्पष्टीकरण है। दृष्टांतालंकार का—प्रतिबिंब-वाद का ऐसा वर्णन करना दार्शनिक महाकवि बिहारीलालजी का ही काम है।

शांति के उपासक बिहारीलालजी भिन्न-भिन्न धर्मों (संप्रदायों) के झगड़े को देखकर— संसार में धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचार को देखकर दयार्द्र होकर—भिन्न-भिन्न धर्मों (संप्रदायों) के लोगों को लक्ष्य करके कहते हैं—

अपने-अपने मत लगे वादि मचावत सोर,
ज्यों-त्यों सबको सेवनें एकै नंदकिसोर।

(बिहारी-सतसई)

भिन्न-भिन्न धर्मों (मतों, संप्रदायों) के अंध-भक्तों ने धर्मांधता के वश होकर इस शांति और सौख्य-पूर्ण संसार में भयानक कोलाहल मचा दिया है—संसार को अशांति का क्रीड़ा-स्थल बना दिया है। यथार्थ में किसी-न-किसी रूप में सभी को उस एक परमात्मा—उस एक श्रीकृष्ण प्रभु—की उपासना करना है, सबका ध्येय एक परब्रह्म की उपासना का ही है। फिर यह कोलाहल क्यों? संसार में धर्म के नाम पर यह अत्याचार क्यों ? यह सब अनुचित है, एक परमात्मा के उपासकों को भिन्न-भिन्न संप्रदायों या धर्मों का विचार न करके एक हो जाना चाहिए। उन साथी मुसाफिरों—पथिकों—को, जो उनके समान ही परमात्मा के पास पहुँचने के इच्छुक होने के कारण एक ही पथ के पथिक हैं, सहायता देना चाहिए।

देखिए, कैसी उत्कट, उपदेश-पूर्ण, उदार, भावमयी, उत्कृष्ट उक्ति है। इसी सिद्धांतवाला यह संस्कृत-श्लोक भी है।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्,
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

अर्थात जिस प्रकार आकाश से गिरा हुआ (वर्षा का) जल नदियों-नालों आदि में होता हुआ समुद्र की ओर चला जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं को की हुई नमस्कार भी उसी एक परमात्मा केशव (कृष्ण) के प्रति पहुँच जाती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करना भी उसी अच्युत परब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना करना है।

यही भाव निम्न-लिखित श्लोकद्वय में भी है।

अनन्तनामधेयाय सर्वाकारविधायिने ;
समस्तमंत्रवाच्याय विश्वैकपतये नमः।
यथा तथापि यः पूज्यो यत्र तत्रापि योर्चितः ;
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोस्तु ते।

विस्तार-भय से ऐसी-ऐसी अन्य सूक्तियाँ उद्धृत करने में असमर्थ हूँ। यहाँ केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त दोहे से बिहारीलालजी के धार्मिक भावों की उदारता दर्शित होती है। दार्शनिक विद्वान उदार होते ही हैं। दार्शनिक विद्वान होने से महाकवि बिहारीलालजी में प्रशंसनीय धार्मिक उदारता थी, यह निर्विवाद सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त दोहा प्रबल प्रमाण है।

६. भक्त बिहारी

जिस प्रकार बिहारीलालजी दार्शनिक तत्त्वों के जाननेवाले थे, उसी प्रकार भक्ति-पथ के पथिक भी थे। देखिए—

भक्तप्रवर बिहारीलालजी कहते हैं—

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख-हजार,
मो संपति जदुपति सदा बिपति बिदारनहार।

(बिहारी-सतसई)

कोई करोड़ों, कोई लाखों और कोई हजारों की संपत्ति संग्रह करो, अपने राम को इससे क्या? यदि यह कहो कि भाई नीति के अनुसार—'आपदर्थे धनं रत्तेत्' अर्थात् आपत्ति-काल के लिए धन की रक्षा करना चाहिए, तो भाई मेरे पास मेरी संपत्ति यदुपति भगवान श्रीकृष्ण हैं, जो सदैव विपत्तियों के नाश करनेवाले हैं अतएव मुझे व्यर्थ धन जोड़ने से क्या लाभ? फिर धन से तो सर्व प्रकार की विपत्तियों का नाश नहीं होता; परंतु भगवान श्रीकृष्ण तो सर्व प्रकार की विपत्तियों का नाश करनेवाले हैं। अतएव यदुपति-रूपी संपत्ति ही मुझे अधिक प्रिय है, क्योंकि वही विपत्तिहारी और यथार्थ संपत्ति है।

भवसागर से पार होने के उपाय का वर्णन करते हुए भक्त बिहारीलालजी कहते हैं—

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव ;
तरि संसार-पयोधि को हरि-नामै करि नाव ।

(बिहारी-सतसई)

हरि-नाम की नाव बना, और जप-माला की पतवार पकड़कर इस दुःख-शोकमय संसार-समुद्र को पार कर। इस संसार-सागर को पार करने का अन्य कोई उपाय है ही नहीं। कैसा अनूठा रूपक और कैसा गहन तत्त्व है।

इसी सिद्धांत को हिंदी-कवि-कुल-कलाधर महात्मा तुलसीदासजी ने व्यक्त करते हुए लिखा है—

बारि मथे बरु होय घृत, सिकता तैं बरु तेल,
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल।

(रामायण उत्तरकांड)

कपटी मन में ईश्वर का वास नहीं रहता, इसका वर्णन करते हुए बिहारीलालजी लिखते है—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहि बाट
निपट विकट जब लगि जुटे खुलहिं न कपट-कपाट।

(बिहारी-सतसई)

जब तक कपट के विकट कपाट जुटे हैं (मन निष्कपट नहीं हुआ है), तब तक इस मन-मंदिर में हरि (श्रीकृष्ण) किस बाट (मार्ग) से आवें। पहले किवाड़ खोलो, तब अथिति भीतर आवेगा। पहले मन-मंदिर से कपट को हटा दो—दूर कर दो--तब परमात्मा उसमें आवेगा।

बिहारीलालजी का मत है कि यदि ईश्वर से सच्चा अनुराग न हो तो लंबे तिलक, छापे, माला या जप से कोई लाभ नहीं। लिखते हैं--

जप माला छापे तिलक सरै न एकौ काम ;
मन काँचे नाचे वृथा साँचे राँचे राम।

(विहारी-सतसई)

जब तक मन कच्चा है, विषयासक्त है, तब तक जप, माला, तिलक और छाप से क्या होता है ? राम (ईश्वर) केवल सच्चे मन से प्राप्त किए जा सकते हैं, क्योंकि वह तो मन की सचाई पर ही रीझते हैं। अतएव भक्ति करने के पूर्व मन को विषयों से हटाना चाहिए, उसमें ईश्वर से सच्चा अनुराग उत्पन्न करना चाहिए, क्योंकि जो कुछ होता है, मन से होता है, ईश्वर बाह्याडंबर से प्रसन्न होनेवाले नहीं। कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनुष्यों के बंधन में पड़ने और मुक्त होने का कारण मन ही है, अतएव पहले मन को ही सत्य की ओर झुकाना चाहिए। विषयों से हटाकर दृढ बनाना चाहिए। यदि मन विषय-वासना से हट गया, सत्य की ओर अग्रसर हो गया, तो ईश्वर की सच्ची भक्ति प्राप्त होने में विलंब ही न रहा।

भक्त विहारीलालजी अनेक अवगुणों की मूल द्रव्य की निंदा करते हुए कहते हैं—

तौ अनेक अवगुन-भरी चाहै याहि बलाय ,
जो पत संपत हू बिना जदुपत राखै आय।

(विहारी-सतसई)

"जो यदुपति भगवान श्रीकृष्ण बिना सपत्ति के ही आकर (मेरी) पत(लाज)रख लें, तो अनेक अवगुणों की मूल इस द्रव्य को मेरी बलाय चाहती है, अर्थात् मैं इससे घृणा करता हूँ।'

इसी भाव को कविवर खानखाना नवाब अब्दुलरहीम इस प्रकार कहते हैं—

दिव्य दीनता के रसहिं का जाने जग-अंधु ;
भली बिचारी दीनता दीनबंधु - से बंधु ।

(जो अपने किसी नीच स्वार्थ की पूर्ति के लिये न दिखलाई जाय, उस) दिव्य दीनता के अलौकिक आनंद को यह माया-मोह में पड़ा हुआ अंधा संसार क्या जाने। बेचारी दीनता धन-संपत्ति से अच्छी है, क्योंकि धन-संपत्ति में तो केवल स्वार्थी तुच्छ मनुष्य ही सहायक होते हैं, परन्तु इस (दिव्य) दीनता में दीनबंधु ईश्वर-सदृश सर्वशक्तिमान बंधु मिलता है। बात वही है, पर ढंग निराला है। मुझे रहीम का दोहा बिहारीलालजी के दोहे से कुछ उठता हुआ दिखाई देता है।

कविवर बिहारीलालजी की भक्ति-विषयक सूक्तियाँ भक्ति-भाव में कितनी श्रेष्ठ है, इसका दिग्दर्शन कराने के लिये मै हिन्दी-साहित्य सूर्य, भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदासजी की उसी विषय की-ओर वैसे ही भावोंवाली सूक्तियों से तुलना करना उपयुक्त समझता हूँ। इससे हमारे पाठकों को यह विदित हो जायगा कि बिहारीलालजी किस श्रेणी के भक्त थे और भक्ति का भाव भी उनके हृदय में किस प्रकार उठता था। ध्यान रहे, भक्ति-भाव मे सूर की सूक्तियों की समता को सूक्ति लिखना बड़े ही जीवट का काम है। इसके लिये कविवर बिहारीलालजी की जितनी प्रशंसा करें, थोड़ है। अस्तु, विस्तार-भय से मै यहाँ केवल तीन समान सूक्तियाँ देता हूँ। देखिए, निम्न-लिखित वर्णन में भक्ति का प्रवाह दोनों भक्त कवियों ने किस अनूठे ढंग से बहाया है—

हरि हौं सब पतितन को राव।
को करि सकै बराबरि मेरी सोधौं मोहिं बताव।
व्याध गीध अरु पतित पूतना तिनमें बढ़ि जो और ;
तिनमें अजामील गनिका अति उनमें मैं सिर-मौर।

जहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई मो समान नहिं आन ,
अब जो आजु-काल के राजा तिनमें मैं सुलतान।
अब लौं तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसों भेंट ;
तजौ बिरद क मोहिं उबारौ 'सूर' गही कसि फेंट।
(श्रीसूरदासजी)

कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखिबी मुरारि
बीधे मोसों आइक, गीधे गीधहिं तार।
(बिहारी-सतसई)

न दोनों वर्णनों को देखकर 'को बड़ छोट कहत अपरा ' का स्मरण हो आता है। दोनों ने भक्ति के आवेश मे ऐसी व्यंग्य-पूर्ण और अनूठी बात कह डाली है, जो अद्वितीय है। दोनों के कथन के ढंग मेंतीखापन है। सूरदासजी "हरि हौ सब पतितन को राव "से लेकर "तिनमे मै सुलतान" तक घुमा-फिराकर कई पतितों के नाम गिनाकर अपने को सबसे बड़ा पतित कहते है। यदि एक बार 'राव' बनते है, तो दूसरी बार 'सुलतान' बनते है। फिर अपने भगवान से कहते है—"अब लौ तो तुम बिरद बुलायो भई न मोसों भेंट"। इतने सब वर्णन को– इतने बड़े झमेले को— बिहारीलालजी 'बीधे मोसों आइकै गीधे गीधेहिं तार' में पूरा कर देते हैं। सूरदासजी जहाॅ अभिधा से काम लेते है, वहाॅ बिहारीलालजी व्यंजना से। उन्हें अपने को 'पतितन को राव' और फिर 'सुलतान' कहने की कोई आवश्यकता ही नही पड़ती। यहाॅ सब अर्थ बिहारीलालजी के दोहे मे ध्वनि से निकल आता है। बिहारीलालजी ने केवल 'बीधे मोसो आइकै' मे सब मजमून को कैद कर लिया है। अंत मे श्री सूरदासजी कहते है—

तजौ बिरद कै मोहिं उबारो 'सूर' गही कसि फेंट।

इसमें सूर (शूर और सूरदास) का फेंट कसकर गहना बहुत ही

उत्कृष्ट है। 'सुलतानी ऐंठ' का इसमें अच्छा निर्वाह है। पर 'तजौ बिरद कै मोहिं उबारौ' में बात खुल गई, बाँकपन वैसा अक्षुण्ण न रह गया। बिहारीलालजी के—

कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखिबी मुरारि;
बीधे मोसों आइकैं,......................।

में बात बाँकपन से खाली नहीं है। यहाँ आलम ही निराला है; व्यंग्य का प्राबल्य अपेक्षाकृत बिहारीलालजी के दोहे में ही अधिक है। 'कौन भाँति रहि है विरद' और 'तजौ विरद कै मोहिं उबारौ' में प्रथम में जितनी तिखावट है, उतनी दूसरे में नहीं है। बिहारीलालजी की आन-बान निराली है। बात एक ही है, पर कहने के ढंग में अंतर है। फिर भी सूरदासजी के वर्णन में बात खूब खोलकर साफ-साफ कही है, इससे प्रसाद-गुण की मात्रा अधिक जान पड़ती है।

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित अहौं पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं;
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीत नसावत, हौं पायो हरि हीरा;
'सूर' पतित तब हीं लै उठिहैं, जब हँसि दैहो बीरा।
(श्री सूरदासजी)

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस को जीते जदुराज;
अपने-अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज।
(बिहारी-सतसई)

इन दोनों पद्यों में भी एक ही बात का वर्णन और एक ही-सा भाव है। उद्धार के अभिलाषी दोनों भक्तों को भगवान से कैसी प्रेमपूर्ण भावना है। दोनों भक्त अपनी-अपनी टेक पर अड़े हैं। भक्त

और भगवान् के बीच का यह प्रेम-कलह बड़ा ही सुहावना है। भक्त अपने पापों को छिपाते नहीं। उन्हें अपनी अटल भक्ति पर बड़ा विश्वास है। उन्होंने अपने को निष्कपट रूप से ईश्वर के श्री चरणों में समर्पित कर दिया है। वे जानते हैं, उन्हें विश्वास है कि उनकी प्रगाढ, सच्ची भक्ति के कारण उनके भगवान उनका उद्धार अवश्य करेंगे। दोनों की कथन-शैली में अंतर होते हुए भी सूरदास के पद्य में नम्रता का भाव कुछ अधिक है, पर विहारीलालजी के दोहे में 'को जीते जदुराज' में प्रेम का प्राबल्य और तल्लीनता की मात्रा कुछ विशेष है। पर सूर के पद्य मे भक्त को अपनी विजय का अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास है। मुझे दोनों पद समान जान पड़ते है।

इसी प्रकार की मधुर, भाव पूर्ण उक्ति भारतेंदु हरिश्चंद्र की भी है। उसमें भी भक्त को उद्धार की इच्छा है। यहाँ भी निष्कपट भाव से भगवान के श्रीचरणों में भक्त अपने को समर्पित कर देता है। देखिए

आजु हम देखत हैं, को हारत।
हम अघ करत कि तुम मोहिं तारत को निज बान बिसारत।
होड़ परी है तुम सन हम सन देखें को प्रन पारत ;
हरीचंद अब जात नरक महँ कै तुम धाय उबारत।

तुम कब मो-सो पतित उधारयो।
काहे को प्रभु बिरद बुलावत बिनु मसकत को तारयो।
गीध, ब्याध, गज, गौतम की तिय तिनको कहा निहोरो ;
गनिका तरी आपुनी करनी नाम भयो प्रभु तोरो।
अजामील तो विप्र तुम्हारो हुतो पुरातन दास ;
नेक चूक ते यह गति कीन्हीं फिर बकुंठहिं बास।
पतित जानि तुम सब जन तारे, रह्यो न काहू खोट ;
तो जानों जो मोहिं तारिहौ 'सूर' कूर कवि ढोट।
(श्री सूरदासजी)

बंधु भए का दीन के ? को तार्‍यो रघुराय ?
तूठे - तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद बुलाय ।
(बिहारी-सतसई)

यहाँ भी वही बात है। जितना भाव सूरदासजी के विस्तृत पद में है, उतना ही भाव विहारीलालजी के छोटे-से दोहे में है। दोनों भक्त कवियों ने भगवान को अपने उद्धार के हेतु दृढ़ता से आह्वान करते हुए कहा है कि यदि सामर्थ्य हो, तो हमें तारो। पहले के पतित जिन्हें तारा है, वे यथार्थ में पतित नहीं थे, उनमें कोई भी बुराई (खोट) नहीं थी। सूरदासजी के कथन से भगवान का पतित-तारण 'विरद' बिना मसक्कत के व्यर्थ ही मिल गया है। विहारीलालजी के कथन से भगवान का वह विरद 'झूठा' है। दोनों भक्तों के कथनों का अभिप्राय यह है कि भगवान जिनके बंधु हुए, वे वास्तव में दीन-दुखी नहीं थे, पूरे दीन-दुखी तो हम हैं, जिन्हें तारा, वे यथार्थ में पतित नही थे, यथार्थ में पतित तो हम हैं। अतएव ऐसे लोगों के बंधु होकर दीनबंधु एवं ऐसे लोगों के तारनेवाले होकर पतित-तारण कहलाना और ऐसे काम करके इन विरदों से संतुष्ट होना तो झूठी प्रशंसा से फूल उठना है। ये विरद तो भगवान को तब शोभा दें, जब वह हमें—हमारे समान दीन-दुखी और यथार्थ पतितों को-तारें। इस वर्णन में भी अपेक्षाकृत विहारीलालजी की सूक्ति जोरदार है।

कई लोग विहारीलालजी को भावापहरण का दोषी कहेंगे, पर ध्यान रहे, ये भाव श्रीमद्भागवत के हैं। संभव है, दोनों ने उन्हें भागवत से ही लिया हो, और यदि विहारीलालजी ने भाव ही लिए है, तब भी वह उनमें संस्कार कर गये हैं, उनपर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगा गए है, अतएव वह श्रेष्ठ हैं। यहाँ हमारे पाठक देखें कि विहारीलालजी ने कैसी सफलता से गागर में सागर भरा है। फिर उनकी भक्ति-भावमयी सूक्तियाँ जब भक्त-शिरोमणि

महात्मा सूरदास की भक्ति-भावमयी, प्रसिद्ध सूक्तियों से सफलता-पूर्वक टक्कर लेती हैं, तब उनके हृदय में भक्ति-भाव कितना ऊँचा था, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

इस स्थल पर पं० कृष्णबिहारी मिश्र के बिहारीलालजी पर 'देव और विहारी' पुस्तक मे किए गए अनुचित आक्षेप का समुचित उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है। पं० कृष्णविहारी मिश्र लिखते है—

"तरथोना' का 'श्रुति-सेवन' एवं 'मुक्तनि' के साथ 'वेसरि' का 'नाक-बास' तथैव किसी की चाल 'पद-पद पर प्रयाग का' बनना हमें लाचार करता है कि हम बिहारीलालजी के धार्मिक भावों की अधिक छान-बीन न करें।"

(देव और विहारी, पृष्ठ १५०)

मिश्रजी के उपर्युक्त वाक्य से तात्पर्य यह निकलता है कि कविवर बिहारीलालजी के उपर्युक्त आशयवाले दोनों दोहे देखने से उनके धार्मिक भावों की हीनता का पता चलता है। अर्थात् वे दोनों दोहे इस बात का प्रमाण है कि वह धार्मिक नहीं थे, उनमे धार्मिक भावों का सर्वथा अभाव था।

खैर, मिश्रबंधुओं ने तो कविश्रेष्ठ, परमभक्त, दार्शनिक विहारी-लालजी को गुंडा और शोहदा कहकर अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया था, पर आपने वैसा नही किया, परंतु फिर भी आपने मीठी भाषा मे लगभग उसी प्रकार का आक्षेप करने मे कम्मर नहीं की। 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' मानकर आपने भी जो अपने हृदय की उच्चता का परिचय दिया है, उसके लिये आप भी धन्यवाद के पात्र है।

प्रिय पाठक, अब मै आपके सम्मुख उन दोनों दोहों को, जिनमें पं० कृष्णविहारी मिश्र ने विहारीलालजी को धार्मिक भावों से हीन करार दिया है, रखता हूँ। देखिए, वे ये हैं—

अजौं तर्‌यो नाहीं रह्यो श्रुति सेवत इक अंग ;
नाक-बास बेसरि लह्यो बसि मुकतन के संग।
(बिहारी-सतसई)

केवल श्रुतिसेवी मुमुक्षु से कोई भक्त कह रहा है-"हे मुमुक्षु ! एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अभी तक नहीं तरे। तुम संकल्प-विकल्प के सागर में पड़े हुए विचार-तरंगों के थपेड़े खा रहे हो। परतु देखो, मेरे उस भक्त साथी ने (विषय-वासना से रहित वीतराग या अनन्य भक्त) मुक्त पुरुषों की सत्संगति से अनुपम स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया। क्योंकि 'पारस परस कुधातु सुहाई' के अनुसार सत्संगति से उसका मन विषय-वासनाओं से विरक्त होकर भगवान के चरणों की अनन्य भक्ति कर रहा है, अतएव उसने बैकुंठ का वास प्राप्त कर लिया।"

इस दोहे के अर्थ मे किसी को संदेह न हो, इससे मैं शब्दार्थ नीचे देता हूँ। देखिए—

अजौ (अभी तक) तर्‌यो नाहीं (तरा नहीं मुक्ति को प्राप्त नहीं हुआ) रह्यो श्रुति सेवत इक अंग (एक अंग श्रुति का सेवन करता रहा अर्थात् केवल श्रुति-पाठ करता रहा, और आत्मा के विषय श्रवण करता रहा। तू ने निदिध्यासनादि नहीं किया, उन अंगों की ओर ध्यान नहीं दिया, जिनकी मुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यकता है। केवल वेद-पाठ से—श्रुति - सेवन से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मुक्तनि के (मुक्त पुरुषों के) संग (साथ) बसि (वास करके उसने) बेसरि (अनुपम) नाकवास (बैकुंठवास) लह्यो (प्राप्त किया)।

इस दोहे मे कवि ने संसार-सागर से पार होने की इच्छा रखनेवाले लोगों को सत्संगति की महिमा दिखलाई है। कैसा उत्कृष्ट उपदेश है। सत्संगति की महिमा संसार के प्रायः संपूर्ण महाकवियों ने—धर्माचार्यों ने गायी है। कविवर बिहारीलालजी ने यदि

सत्संगति की महिमा गाई, तो वह धार्मिक भावों से हीन हो गए। बलिहारी है मिश्रजी की विवेचना और उनकी विद्या-बुद्धि की! विद्वत्समाज में ऐसे अनुचित आक्षेप सर्वथा उपेक्षणीय ही हैं।

महाकवियों की रचनाओं में काव्य-गुण वैसे ही आ जाता है। इस दोहे में भी यदि श्लेष का चमत्कार आ गया, तो कौन-सी बड़ी बात हो गई। ऊपर दिए गए अर्थ के साथ-साथ इस दोहे का एक और प्रतीयमान अर्थ है, उसे भी देख लीजिए और बिहारी लालजी के भाषा पर एकाधिपत्य की प्रशंसा कीजिए।

"श्रुति (कान) रूप एक अंग का सेवन करनेवाला तरयोना अभी तक तरयोना ही रहा, परंतु (बसि मुकतनि के संग) मुक्ताओं के साथ रहकर बेसर (नथ) ने (नाकबासलह्यो) नाक में स्थान पा लिया।"

परतु इस अर्थ में कोई विशेषता नहीं है, केवल श्लेष का चमत्कार है, अतएव प्रथम अर्थ ही मान्य है।

इसी दोहे पर पं० पद्मसिंह शर्मा लिखते है—

"संगति की महिमा से ग्रंथ भरे पड़े है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी भगवद्भक्तों को सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझाई है। पर इस चमत्कार-जनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारीलालजी अपने कविता-प्रेमियों की नब्ज पहचानते है। वह जानते हैं, अपने बावलों को कैसे समझाया जाता है।" रस-लोलुप कविता-प्रेमी सत्संगति की महिमा किस रूप मे सुनना पसद करेंगे? रात-दिन जो चोजें प्रेमियों की नजर में समाई रहती हैं, उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्त्व समझाना चाहिए। कवि के लिये यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक रोगी कब कान देता है? सुनता भी नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।"

अब वह दूसरा दोहा भी देखिए—

तज तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग ;
जिहि तैं लखो निकुंज मम पग - पग होत प्रयाग ।
(बिहारी-सतसई)

भक्त-प्रवर महाकवि बिहारीलालजी भक्ति-भावापन्न होकर अपने मन को संबोधित करके कहते हैं—"हे मन ! तू तीर्थों का भटकना छोड़कर श्रीराधा और कृष्ण से अनुराग कर। देख, उनकी—दंपति को—तन द्युति से ब्रज के क्रीड़ा-कुंज के मार्ग में पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बनता जाता है।"

जब पग-पग पर तीर्थराज प्रयाग बनता जाता है, तब सैकड़ों तीर्थराज से श्रेष्ठ है, यह ध्वनि निकलती है। और, जब तीर्थराज से श्रेष्ठ है, तब अन्य तीर्थ किस लेखे मे—अन्य तीर्थों की क्या गिनती। ध्वनि यह निकलती है कि संपूर्ण तीर्थों का अटन करने से अधिक फल श्रीराधाकृष्ण से अनुराग करने में है।

कितना भक्ति-भाव-पूर्ण दोहा है, इसे सहृदय पाठक देखें। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी भी इसी प्रकार का भाव निम्न-लिखित चौपाई में व्यक्त करते हैं—

"अवध तहाँ, जहँ राम-निवासू।"

अब देखना यह है कि स्वाभाविक कवि बिहारीलालजी की कविता में महाकवियों की कविता के समान चमत्कार तो है ही। अनुज्ञा और काव्यलिंग अलंकारों से परिपुष्ट रूपक की छटा बाँधनेवाले बिहारीलालजी के दोहे में श्रीकृष्ण के श्याम तन की द्युति से यमुना, राधिकाजी के गौर शरीर की आभा से गंगा और पद की अरुणाई से सरस्वती का होना किस प्रकार लक्षित होता है। प्रयाग के संगम का यहाँ किस खूबी से वर्णन किया है। इतना होने पर भी दोहे में भक्ति-भाव की छटा निराली है।

न-जाने इस 'पद-पद होत प्रयाग' के वर्णन-युक्त, भक्ति-भाव-पूर्ण

दोहे में पं० कृष्णविहारी मिश्र को धार्मिक भावों की हीनता कहाँ से दिखाई दी। बात तो यह है कि येन केन प्रकारेण देव को श्रेष्ठ सिद्ध करने के उद्देश्य से इन्होंने व्यर्थ विहारीलालजी की अनर्गल झूठी निंदा और पवित्र रचना में दोष दिखलाने की गर्हणीय चेष्टा की है। पर यह कार्य चद्रमा पर धूलि डालने के समान हास्यास्पद है।

अब बिहारीलालजी के भक्ति-विषयक दो छंद यहा और देख लीजिए—

मोहूँ दीजे मोष, ज्यों अनेक अधमन दियो ;
जो बाँधे ही तोष, तो बाँधो अपने गुननि।
(बिहारी-सतसई)

"हे भगवन्! मुझे भी मोक्ष दीजिए, जिस प्रकार आपने (अजामिल आदि) अधम लोगों को दिया है। यदि मोक्ष नही देना चाहते, और मेरे बाँधने में ही आपको संतोष है, तो माया के गुणों (बधनों) में न बाँधकर आप मुझे अपने गुणों मे बाँधिए (जिसमें रात-दिन आपके गुण-गान करता रहूँ)।" इस दोहे में 'बाँधो और 'गुननि' में श्लेष है। 'गुननि' से रस्सियों का भी बोध होता है, और रस्सियों में बांधा जाना कितनी स्वभाविक उक्ति है।

अब अंत मे परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण से बिहारीलालजी के शब्दों में ही, अत्यंत विनीत भाव से युक्त हो, यह निवेदन करके भक्ति-वर्णन को समाप्त करता हूँ—

हरि कीजतु तुमसों यहै विनती बार हजार ;
जिहि-तिहि भाँति डरयो रहौं, परयो रहौं दरबार।
(बिहारी-सतसई)

७. प्रकृति-निरीक्षक बिहारी

महाकवि बिहारीलालजी अद्वितीय प्रकृति-निरीक्षक थे। उनकी

लाज जाकर छिप रही।" गढ़ या दुर्ग विशेषकर वन में ही बनाए जाते हैं।

अच्छे, चतुर उस्ताद के पास सीखी हुई नृत्य-काल में उरप-तिरप आदि अनेक गति से नाचनेवाली वेश्या का नृत्य बिहारीलालजी ने अवश्यमेव देखा था, एवं वह संगीत और नृत्य के प्रवीण पारखी भी थे, इसी से उन्होंने लिखा है—

सब अंग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय ;
रस-युत लेत अनंत गति पुतरी पातुरराय ।
(बिहारी-सतसई)

बरत बाँधकर नटों के खेल करने का दृश्य भी बिहारीलालजीने देखा था। लिखते हैं—

दीठि-बरत बाँध्यो अटनि, चढ़ि आवत न डरात ;
इत-उत तैं चित दुहुँन के नट-लौं आवत-जात ।
(बिहारी-सतसई)

यह दोहा निम्न-लिखित संस्कृत-श्लोक से मिलता है—

परस्परालोकनरज्जुरेषा
ह्यदान्तरातट्टभुवि प्रबुद्धा ;
गतागतंनिर्भयमत्र यूनोः
नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम्

"एक दूसरे का पारस्परिक अवलोकन ही डोरी है, जो एक अटारी से दूसरी अटारी तक बँधी हुई है, उस पर दोनो (युवक और युवती) के मन-रूपी नट निश्शंक होकर आ-जा रहे हैं।"

संस्कृत-श्लोक का 'परस्परालोकनरज्जुरेषा ह्यदान्तरातट्टभुवि प्रबुद्धा।' बिहारीलालजी के 'दीठि-बरत बाँध्यो अटनि' में आ गया है; फिर भाषा के कटुत्व को बहुत कुछ बचाकर रक्खा है। 'गता-

गतं निर्भयमत्रयूनोर्नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम्।' के स्थान में—
'. . .. . चढ़ि आवत न डरात; इत-उत तैं
चित दुहुँन के नट-लौ आवत-जात।' बहुत ही सुंदर है। श्लोक के 'निर्भय' में वह बात नहीं है, जो दोहे के 'न डरत' में है। भाषा मधुरता में दोहा श्लोक से श्रेष्ठ है। फिर 'बरत' पर दोनों (युवक और युवती) के मन-रूपी नट निर्भय होकर आ-जा रहे हैं। कहने में आश्चर्य का वह स्वरूप स्वप्न में भी नहीं है, जो 'दीठि-बरत नट लौ आवत-जात।' में है। भाषा की स्वाभाविकता, वर्णन-शैली की उत्तमता, अद्भुत रस का प्रस्फुटन एवं शब्द-विन्यास की दृष्टि से विहारीलालजी का दोहा श्लोक से श्रेष्ठ जान पड़ता है।

आर्द्रवस्तु से आँच लगने पर किस प्रकार वाष्प-कण उठते हैं, और फिर वे कहीं किसी वस्तु से छिड़कर, फिर से जल के रूप में आकर किस प्रकार बूँद-बूँद होकर गिरते हैं, इस वैज्ञानिक सिद्धांत का भी विहारीलालजी ने अच्छा वर्णन किया है। लिखते हैं—

तच्यो आँच अति विरह की, रह्यो प्रेम-रस भींजि ;
नैनन के मग जल वहै हियो पसीज-पसीज।
(विहारी-सतसई)

इसके अतिरिक्त विहारीलालजी ने इतनी वहुत-सी अनुभूत बातों का वर्णन किया है कि यदि उन पर कोई लिखने वैठे, तो एक वड़ा पोथा तैयार हो जावे। विहारीलालजी उर्दू, फारसी और संस्कृत आदि के भी पूर्ण पंडित थे। संगीत-शास्त्र के भी वह प्रवीण जानकार थे, जैसा उनकी जीवनी से स्पष्ट है।

हाँ, एक बात कथनीय है। वह यह कि विहारीलालजी काव्य-रीति के पूर्ण ज्ञाता थे। उनकी सतसई में यद्यपि लक्षण नहीं है, परंतु पिंगल को छोड़कर शेष संपूर्ण काव्यांगों के ऐसे सच्चे और

उत्कृष्ट उदाहरण सतसई में पाए जाते हैं, जैसे उत्तम-से-उत्तम रीति-ग्रंथ में भी नहीं मिल सकते। विस्तार-भय से मैं उन्हें यहाँ देने में असमर्थ हूँ। उनका कुछ परिचिय मेरे इसी ग्रंथ में आए हुए बिहारीलालजी के दोहे से पाठकों को प्राप्त होगा, और विशेष रूप से जानने के लिए मेरे 'काव्य-रीति' नामक ग्रंथ को देखना आवश्यक है, क्योंकि उसमें काव्य के प्रत्येक अंग-उपांग के उदाहरण प्रायः बिहारी-सतसई से ही दिए हैं। रीति का ऐसा पालन प्रायः दुर्लभ है, आचार्यों से भी यह नहीं हुआ। बिहारीलालजी का एक दोहा और देख लीजिए, जो उन्होंने ललित कलाओं के संबंध में मत प्रकट करते हुए लिखा है। लिखते हैं—

तंत्री- नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग ;
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।

(बिहारी-सतसई)

"तंत्री-नाद, कवित्व-रस और सरस संगीत आदि में तन्मयता अपेक्षित है। जो इनमें डूब गया (पूर्णया प्रविष्ट हो गया), वह मानो तर गया (प्राप्ताभीष्ट), पर जो इनमें डूबा नहीं—गर्क नहीं हुआ—केवल हाथ डालकर रह गया, वह मानो डूब गया अर्थात् अभीष्ट को प्राप्त न हो सका। कोरा ही रह गया, क्योंकि इन विषयों में वह अज्ञ ही रहा।"

कविवर बिहारीलालजी ने पावस-वर्णन पर एक दोहा यह भी कहा है—

पावस-घन-अँधियार महँ रह्यो भेद नहिं आन ;
रात-द्यौस जान्यो परत लखि चकई-चकवान।

(बिहारी-सतसई)

इस दोहे में कविवर बिहारीलालजी ने वर्षा-ऋतु में चक्रवाक का

वर्णन किया है। इस पर मिश्रबंधुओं ने लिखा है—

"इनके नेचर-निरीक्षण में केवल एक स्थान पर गलती समझ पड़ती है। वर्षा ऋतु में चक्रवाक नहीं होते। बहुत-से लोग कष्ट कल्पना करके यह दोष भी निकालना चाहते हैं पर उस अर्थ को अग्राह्य मानते हैं।"

(हिंदी-नवरत्न, पृ० २३५)

इसका उत्तर प० पद्मसिंह शर्मा ने अपने संजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग में, दोष-परिहार के अध्याय में, पृष्ठ २४०से२४३ तक, दिया है। वहाँ लिखा है—

"नहीं महाशयगण! बंधुगण! ऐसा न मानिए। ऐसा नहीं है। बिहारी के नेचर-निरीक्षण में नहीं, इसमें तो यहाँ आपकी समझ में साफ गलती समझ पड़ती है।" इसके बाद फिर उन्होंने लिखा है—"..कवि लोग वर्षा में चक्रवाक का वर्णन बराबर करते हैं। संस्कृत के, हिंदी के और उर्दू के कवियों ने भी ऐसा वर्णन किया है—

अकालजदच्छन्नमालोक्य रविमण्डलम्;
चक्रवाकयुगं रौति रजनीभयशंकया।

(सुभाषितावलि)

घनतर घनवृन्दच्छादिते व्योम्नि लोके
सवितुरथहिमांशोः संकथैव व्यरंसीत्;
विरहमनुभवन्ती संगमञ्चापि भर्त्रा
रजनिदिवसभेदं चक्रवाकी शशास।

(सुभाषितरत्न भांडागार)

पिछले पद्य का भाव बिहारीलालजी के दोहे से बिलकुल मिलता-जुलता है। हिंदी-कवियों का वर्षा में चक्रवाक-वर्णन—

'शंकर' ये बिथुरी लट हैं कि भई सजनी रजनी अँधियारी ;
माल मनोहर मोतिन की उरझी उर पै कि बही सरिता री।
दो कुच हैं कि दुकूलन पै चकई-चक भोग रहे दुख भारी,
स्वेद चुचात कि पावस तोहिं बनाय गयो घनश्याम बिहारी।
(कविराज 'शंकर' महाराज)

दिन-रैन को संधिन बूझिबै की मति कोक तमीचुरवान लगी :
नदिया-नद लौं उमड़ी लतिका तरु तैंसेन पै गुरवान लगी।
कहु 'सेवक' ऐसे में कैसे जिए जेंहि कामतिया डरवान लगी ;
मति मोरिनी की मुरवान लगी, गति बीजुरी की धुरवान लगी।
(सेवक कवि)

उर्दू कवियों ने भी बरसात में चकवे का वर्णन किया है—

रित है बरसात की बहुत प्यारी,मौज जन झीलें नद्दियाँ सारी।
कोकला, बगले, कोयलें,ताऊस अपनी तानें सुनाते हैं प्यारी।
काजें, मुरगाबियाँ, बतें, सुरखाब झीलों के साथ करते हैं यारी।
(कुल्लियाते-मुनीर, शिकोहाबादी)

सुरखाब = चकवा [फरहंगे-आसफिया (उर्दू-भाषा का प्रसिद्ध विश्वकोष), भाग ३, पृष्ठ ६६]

वर्षा में चक्रवाकों की स्थिति सिद्ध करने के लिये बहुत-से लोग तो क्या, किसी एक 'लोग'को भी कष्ट-कल्पना करते नहीं सुना गया। इसमें कोई दोष ही नहीं है, फिर दोष निकालने के लिये किसी को कष्ट-कल्पना करने की क्या जरूरत पड़ी है।

सुरति मिश्र ने अमरचंद्रिका में इस दोहे पर प्रश्नोत्तर बेशक किया है। वह भी इसलिये नहीं कि वर्षा में चक्रवाक नहीं होते, उसका अभिप्राय यह है—

"जब पावस के घने अंधकार में इतनी सघनता है कि रात में और दिन में कोई भेद ही नहीं समझ पड़ता, तो फिर चकवी-चकवा कैसे दिखाई पड़ते है। जिन्हें देखकर रात-दिन का भेद जाना जाता है, वे चकवी-चकवा भी तो अन्धकार मे अदृष्ट रहने चाहिए।"

इसके समाधान में अमरचंद्रिकाकार ने 'लखि' पद का संबंध संबोध्य पुरुष के साथ जोड़ा है। अर्थात् तुम देखो, पावस के घने अंधकार में देखनेवालों को रात-दिन का कुछ भेद नही सूझ पड़ता, 'चकई-चकवानि रात-द्यौस जान्यो परै' चकवी और चकवा को ही यह भेद जान पड़ता है। जब दिन होता है, तो स्वाभाविक नियमानुसार चकवी-चकवा आपस में मिलते हैं, जब रात होती है, तब बिछुड़ते हैं।

किसी ने 'लखि' पद का 'लाक्षणिक' अर्थ सुनना किया है। अर्थात् चकवी-चकवा का शब्द सुनकर रात्रि-दिवस का भेद जाना जाता है। इसी अर्थ के अनुसार उक्त दोहे पर कृष्ण कवि का यह सुंदर सवैया है, और किसी प्रकार की कष्ट-कल्पना किसी ने नही की। आशा है, अब आप लोग भी इसे ग्राह्य मानने लगेंगे—

अंबुद आनि दिसा-विदिसा सगरे तम ही को वितान-सो तान्यो;
मेचक रंग बसे जग में अति मोद हिये निसिचारन मान्यो।
पावस के घन के अँधियार में भेद कछू न परै पहिचान्यो;
द्यौस-निसा को बिबेक सुनो चकई-चकवान के बोल तें जान्यो।

(पं० पद्मसिंह शर्मा)

शर्माजी ने इस प्रकार संस्कृत, हिंदी और-उर्दू-कवियों के वर्णनों के उदाहरण देकर यह भली भाँति सिद्ध कर दिया कि मिश्रबंधुओं का आक्षेप निर्मूल था। बिहारीलालजी का वर्णन कवि-परंपरा से सिद्ध होने के कारण शुद्ध है।

इस पर पं० कृष्णविहारी मिश्र बहुत बिगड़े हैं। शर्माजी को पक्ष-पात में अंधे, 'बिहारीलालजी के अंध-भक्त' आदि कहकर अपने दिल का बुखार निकाला है। आपने 'देव और बिहारी' में लिखा है- "अपव्यय-स्वरूप फुटकर उदाहरणों के व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता। भाषा के कवियों (?) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वर्षा-काल में चक्रवाक नहीं होते। हंटर-कमेटी की मेजारिटी रिपोर्ट जिस प्रकार सफेदी चढ़ाकर डायर-कृत दोष को छिपा नहीं सकती उसी प्रकार शर्माजी बिहारीलालजी के दोष पर आवरण नहीं डाल सकते। भाषा के कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं।"

(देव और बिहारी, भूमिका)

मिश्रजी का यह मत देखकर मुझे उनकी बुद्धि पर हँसी आती है। क्या बिहारीलालजी, सेवक, कृष्ण और शंकर भाषा के कवि नहीं हैं ? फिर भाषा-कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं, कहना कितनी नादानी है। मिश्रजी के आक्षेप के उत्तर में मेरा कहना यह है कि भाषा के कवि वर्षा में चक्रवाक का वर्णन सर्वथा उपयुक्त समझते हैं। आपने भाषा-कवियों के वर्णन अभी देखे ही कहाँ हैं ? तीन कवियों-समेत बिहारीलालजी के वर्णन तो शर्माजी ने दिखला ही दिए हैं, अब यहाँ मैं 'भाषा के कवि' किस प्रकार वर्षा में चक्रवाक का वर्णन करते हैं, इसके कुछ उदाहरण और देता हूँ देखिए—

चातक चिहुँक मत' मुरवा कुहुक मत,
झींगुर झिंकार मत, केकी मननाय मत;
चकवा चिकार मत, पपिहा पुकार मत,
बुंद झर धार मत, धार घहराय मत।
'कृष्णलाल' गाय मत, पीर उपजाय मत,
बालम विदेश पाय मैन तन ताय मत;

पौन फहराय मत, चपला चवाय मत,
घाय मत धुरवा औ' घन घहराय मत।
(कृष्णलाल कवि, प० ऋ० ह०, पृ० १५१)

कैधों उहि देश घन घुमड़ न बरसत,
कैधों मकरंद नदी-नद-पथ भरिगे;
कैधों पिक चातक चकित चक्रवाक वाक,
मत्त भए दादुर मधुप मोर मरिगे।
....
. ;
कैधों पंचसर हर फेर कै भसम कीन्हों,
कैधौं पंचसरजू के पाचों सर*सरिगे।
(मकरंद कवि, प० ऋ० ह० पृ० २१०)

झर की झरन झार झरी-सी झरन अंग,
झंझा की झकोर झार झपटी झरीन में;
छटा की उछट छवि छपत छपाकर को
छाय रही छनदा सुहाई दिन दीन में।
चातक चिहार चकचौंध चारु चहूँ दिशि
चक्रित चकोर चकवान पी विहीन में;
तावस परे हैं 'पूखी' कावस पराए देस,
पावस में तामस रह्यो न बिरहीन में।
(पूखी कवि)

---

*पाँचो शर—
मारणं स्तम्भनं चैव जृम्भणं शोषणं तथा;
उनमादनं पञ्चबाणान्पञ्चबाणो बिभर्ति सः।

चकई को रैन-भर बिछोहा सुनो री आली,
कालो यह साँपिन-सी रात मोहिं काटे खात;
कैसे कै बिचारें ये पखेरू अति कामी लोल
प्रानन की प्यारी के वियोग में न मुरझात।
आधी रात टेर-टेर पापी जौ पपीहा हाय,
पीय-पीय पी-पी कर सुरत सुखावे गात
कौन-से भौतिक मैं भरमैं ये बिसासी प्रान;
हाय 'जगमोहन' इतै यै क्यों न कढ़ि जात।
(राजा जगमोहनसिंह)

बोलत न मोर भयो, चद्रमा मलीन भयो,
चातक रटनि बकी काहे तें भुलानी है;
कोक हू मिले हैं तिन्हैं दुख सरसानो अति,
हरष चकोरन के प्रीति कुम्हिलानी है।
'बंशीधर' कहैं भौंर- मंडल कलोल करैं,
केकरि अडोल रहै सौत-मन हानी है,
चंचला हिरानी, घन-बानी को न लेश रह्यो,
कौन रीति पावस की आजु दरसानी है।
(वंशीधर कवि, प० ऋ० ह०, पृ० २०२)

चहुँघाँ तें घरी-घरी घेरि घना घन की घटा घोर घनी घहरैं,
छिन-ही-छिन छीनन को बरही छिति लौं छिन छाय छटा छहरैं।
चकवा-चकई, बक चातक चीड़िन की चिचियानि चहूँ चहरैं;
बिलखाय वियोगिनि बेदन सों 'बिजयानँद' बैठ रहे बहरैं।
(विजयानंद, प० ऋ० ह०, पृ० २०८)

विस्तार-भय से अन्य कवियों के छंदों को उद्धृत नहीं कर सकता। आशा है विद्वान् पाठक इतने से ही संतोष करेंगे। हमारे पाठकों को इन छंदों से यह तो विदित हो ही गया होगा कि पं० कृष्ण-विहारी मिश्र का यह कहना कि 'भाषा के कवि निश्चय-पूर्वक वर्षा-काल में चक्रवाक का वर्णन अनुचित समझते हैं', अनर्गल है। जब यह वर्णन कवि-परंपरा से सिद्ध है, तब विहारीलालजी इसके लिये दोषी नहीं ठहराए जा सकते। हिंदी-भाषा के माननीय आचार्य-प्रवर भिखारीदास अपने सुप्रसिद्ध रीति-ग्रंथ काव्य-निर्णय में ऐसे प्रसंग के विषय में निर्णय देते हुए लिखते हैं—

जो प्रसिद्ध कवि रीति में, सो संतत गुण होय :
लोक विरुद्ध विलोकिकैं दूषण गनैं न कोय।

रही यह बात कि वर्षा में चक्रवाक होते हैं या नहीं, सो इसके विषय में मेरा कथन यह है कि होते हैं। तीन वर्ष पूर्व मैं ओरछे के महाराजकुमार वीरसिंहजू देव वहादुर से मिलने उनके यहाँ गया था। वहाँ एक दिन साहित्य-चर्चा के सिलसिले में वर्षा मे चक्रवाक के विषय में वातचीत हुई। श्रीमान् महाराजकुमार ने कहा कि वर्षा में चक्रवाक होते हैं। भादों मे भी तालाबो के किनारे चक्र-वाक (सुरखाव) देखे जाते है। हिंदू लोग चक्रवाक का शिकार नहीं खेलते, पर मुसलमान खेलते हैं। विहारीलालजी के इसी उक्त दोहे के विषय मे वावू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने विहारी-रत्नाकर मे लिखा है—

"हमारी समझ में इस दोहे में इन झगड़ों का कोई अवसर ही नहीं है। धनाढ्यों के उपवनों तथा पाईंवागों मे मयूर, सरहंस, चक्रवाक इत्यादि प्रायः पले रहते है, और वहुधा उनके पर भी काट दिए जाते हैं। अतएव चाहे जंगली चक्रवाक वर्षा-ऋतु में भारतवर्ष में रहते हों या नहीं, पर ये वेचारे पलुवे चक्रवाक तो अवश्य ही उन उपवनों में उपस्थित रहते हैं। जो लोग उपवनों में

सारस, चक्रवाक इत्यादि पालते हैं, वे उनमें कोई कृत्रिम झील भी बनवा देते हैं। बिहारी का यहाँ चकई-चकवाओं से तात्पर्य ऐसे ही पलुवे चकई-चकवाओं से है, क्योंकि रात्रि-दिवस का निर्णय करने के निमित्त कोई जंगल की दूरस्थ झीलों को देखने क्यों जाने लगा, विशेषतः ऐसे समय, जब सघन घनों के कारण दिन रात्रि-सा हो रहा हो। चकई-चकवाओं के शब्द भी तो ऐसे ऊँचे नहीं होते कि ग्राम के बाहर की झील से ग्राम में सुनाई दें। कवि का मुख्य वर्णनीय विषय यहाँ पावस का सघन अंधकार है. चकई-चकवा का वर्णन केवल गौण रीति पर, मुख्यार्थ साधन के निमित्त, हुआ है।"

(बिहारी-रत्नाकर, पृ० २०१)

तात्पर्य यह कि बिहारीलालजी के प्रकृति-पर्यवेक्षण में रत्ती-भर भी भूल नहीं है। भूल है बतलानेवालों की समझ की। पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने तुलसीदासजी की एक चौपाई इसी सिलसिले में 'देव और बिहारी' पुस्तक में उद्धृत की है। वह यह है—

देखहु चक्रवाक खग नाहीं, कलिहिं पाइ जिमि धर्म पराहीं।

फिर लिखा है—"गोस्वामी तुलसीदासजी' ने वर्षा में चक्रवाक नहीं माने, यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि हिंदी-कवि वर्षा में चक्रवाक नहीं मानते।" मेरा नम्र निवेदन यह है कि महात्मा तुलसीदासजी ने जो कुछ कहा है, वह सब-का-सब 'सत्यं शिवं सुंदर' नहीं है। उन्होंने भी भूलें की हैं, क्योंकि वह भी अंततः मनुष्य ही थे। उनका कथन सर्वत्र माननीय है, यह कैसे कहा जा सकता है? देखिए निम्न-लिखित दोहे में तुलसीदासजी ने प्रकृति-पर्यवेक्षण की भूल किस प्रकार की है—

तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन ;
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमैं पूँछिहै कौन।

(तुलसीदास)

इसमें यह वर्णन किया गया है कि वर्षा में कोकिल नहीं कूकती, पर यह वर्णन सर्वथा अशुद्ध है। वर्षा-ऋतु में उपवन आदि में कोकिल की कूक साफ़ सुनाई देती है। इसे जो चाहें, स्वयं सुनकर जान सकते हैं। इसके सिवा हिंदी और संस्कृत के सैकड़ों कवियों ने सहस्रों छंदों में वर्षा-काल में कोकिल के बोलने का वर्णन किया है।

हिंदी के सम्माननीय प्रचारक विद्वान् बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने साहित्यालोचन-नामक ग्रंथ के पृष्ठ ८६ में, कवि-कल्पना में, सत्यता का विवेचन करते हुए, लिखा है—

"चकोर का आग खाना, चंद्रकांत मणि का जल टपकाना आदि कवि-कल्पित बातें हैं, जिनका व्यवहार कविजन केवल अंध-परंपरा के कारण करते आए हैं। हमारी समझ में इस परंपरा को छोड़कर प्रकृति का अनुसरण करना ही उचित और संगत होगा। प्रकृति के विरुद्ध बातें यदि वे कवि-पद्धति के अनुसार हों, तो कवि की परतंत्रता सूचित करती हैं। पर जहाँ कवि-प्रथा भी नहीं है, वहाँ वैसी उक्तियाँ कवि की अज्ञानता, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना ही सूचित करती हैं। जैसे बिहारी-सतसई के कर्त्ता ने यह दोहा लिखा है—

सन सूक्यौ बीतौ बनौ, ऊखौ लई उखारि;
हरी-हरी अरहर अजौं घर धर हर हिय नारि।

जिन्हें इस बात का अनुभव है कि किस ऋतु में कौन-कौन धान्य उत्पन्न होते और पकते हैं, वे कहेंगे कि कपास पहले होती है, और सन पीछे उखाड़ा जाता है। पर बिहारीलालजी ने सन के पीछे कपास का होना बताया है। इस संबंध में इतना ही कहना बहुत होगा कि कवि ने अपने या दूसरों के अनुभव से काम नहीं लिया, और इस प्रकार प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला।

शृंगार-सतसई के कर्ता ने इसी भाव को इस दोहे में इस प्रकार दिखाया है—

कित चित गोरी जो भयो ऊख रहरि के नास ;
अजहूँ अरी हरी-हरी जहँ-तहँ खरी कपास।

और अरहर के कट जाने पर भी कपास के पौधों का जहाँ-तहाँ हरा रहना वर्णन किया है, जो ठीक ही है।'?

बाबू श्यामसुंदरदासजी की राय में बिहारीलालजी ने अज्ञान, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना करके सन के उखाड़े जाने के बाद कपास का होना लिखकर प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला है। इन महाशय ने बिना समझे-बूझे इतने बड़े महाकवि एवं प्रकृति-निरीक्षक की भूल इस भद्दी रीति से बतलाने में एवं इन अशिष्टता-सूचक शब्दों के प्रयोग करने में न जाने क्या भलाई समझी ? भूल को इतने निर्भ्रान्त होकर इतनी उद्दंडता से दूसरे के सिर थोपने के पहले इन्हें भी तो कुछ पता लगा लेना था।

महाकवि श्री बिहारीलालजी ने तो स्वयं निरीक्षण करके और संपूर्ण उत्तर-भारत के कृषकों के अनुभव से काम लेकर प्रकृति के अनुकूल सच्चा, स्वाभाविक वर्णन किया है; पर बाबूसाहब ने न तो अपने अनुभव से और न दूसरों के अनुभव से ही लाभ उठाया। दोनों का प्रमाण लीजिए—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाली मनोरंजन पुस्तक-माला में इन्हीं बाबू श्यामसुंदरदासजी के संपादन में 'कृषि-कौमुदी' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के अंत में कुछ 'नक्शे दिए है, जिनमें यह दिखलाया है कि किस ऋतुमें कौन-कौन धान्य उत्पन्न होते और पकते हैं। बिहारीलालजी के उपर्युक्त दोहे

में वर्णित धान्य कब-कब उत्पन्न होते या पकते है, इसे हम उसी. से दिखलाते हैं—

धान्य का नाम	बोने का समय	काटने का समय
सन	जुलाई	ऑक्टोबर
कपास	जुलाई	चुनाई ऑक्टोबर से जनवरी तक
ऊख	फरवरी-मार्च	नवंबर से जनवरी तक
अरहर	जुलाई	चैत, मार्च-एप्रिल

इस नक्शे से यह स्पष्ट विदित होता है कि सन ऑक्टोबर में कट जाता है, कपास जनवरी तक चुनी जाती और फिर काटी जाती है। ऊख जनवरी के अंत तक, बल्कि मार्च तक रहती है। अरहर इससे भी आगे चैत और वैशाख तक कटती है।

इसके सिवा 'साहित्यालोचन' लिखने के पूर्व ही पं० पद्मसिंह शर्मा ने सतसई के संजीवन-भाष्य के भूमिका-भाग में विहारी-लालजी के उक्त दोहे के साथ शृंगार-सतसई के उपर्युक्त दोहे की तुलनात्मक आलोचना करते हुए लिखा था—

"ऊपर के दोहे में विहारी ने शब्द-रचना-चातुर्य—अनुपम छेकानुप्रास-माधुर्य के अतिरिक्त अपनी प्रकृति-पर्यवेक्षण-प्रवीणता का परिचय भी कितने अच्छे प्रकार से दिया है। किसी 'संकेत-विघट्टना'—अनुशयाना नायिका को अंतरंग सखी धीरज बँधा रही है कि यद्यपि सन सूख गया, वन (कपास) की बहार बीत

गई और ऊख (ईख) भी उखाड़ ली गई, पर अभी हरी-हरी अर-हर खड़ी है, इसलिए हृदय में धीरज धर, घबरा मत, एक बहुत सघन संकेतस्थल (सहेट) अरहर का खेत अभी बना है।

दोहे में इन चीजों के सूखने और उखाड़ने आदि का क्रम बिल-कुल ठीक है। हर जगह का किसान इसका ताईद करेगा।

अब जरा शृंगार-सतसईकार का 'नेचर-निरीक्षण' देखिए। इन हजरत ने अनभिज्ञता से 'नास' के साथ 'कपास' की तुक मिलाने के धुन में कितनी उलटी बात कह डाली है जो वास्तविकता के—प्रायः सार्वदेशिक अनुभव के—विरुद्ध है। ऊख (ईख) के बाद 'रहरि' (अरहर) का नास नहीं हो जाता, प्रत्युत वह ईख के बहुत दिनों पीछे तक—गेहूँ काटने तक—हरी-भरी खड़ी रहती है, और बन (कपास) की बहार इन दोनों से बहुत पहले बीत जाती है। पर शृंगार-सतसई उस समय 'जहँ-तहँ हरी-हरी कपास खरी' देख रहे हैं, जब उसका अक्सर निशान भी नहीं रहता। भारतवर्ष में तो करीब-करीब सब जगह ऐसा ही होता है।"

(सत० संजी० भा० भूमिका-भाग, पृष्ठ १२६-१२७)

तात्पर्य यह कि बाबू श्यामसुंदरदास ने स्वयं ही न तो अपने अनुभव से, न दूसरों के ही अनुभव से ही लाभ उठाया, और एक व्यर्थ अपराध महाकवि बिहारीलालजी के सिर मढ़ने का उपहासास्पद प्रयत्न कर डाला।

उपसंहार

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अध्यायों में भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से बिहारी-सतसई का दिग्दर्शन करा चुकने पर यह स्पष्ट है कि व्रज-भाषा-साहित्य की इस गौरवमयी रचना मे सचमुच गागर में सागर भरा है। इस छोटे-से अनोखे काव्य-कोष की काव्य-कला-संबंधिनी उत्कृष्टता एवं गंभीरता पर रसिक काव्य-प्रेमी एवं साहित्य-मर्मज्ञ हृदय न्योछावर करते आए है। यद्यपि सैकड़ों धुरंधर विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ विवेचकों ने काव्य के इस अनुपम खजाने की असीम प्रशंसा की है; पर कुछ ऐसे सज्जन भी है, जिन्होंने बिहारीलालजी के उत्कृष्टतम काव्य में कतिपय दोषों की उद्भावना की है। इनमें भी जहाँ प्राचीन विवेचक टीकाकारों ने कहीं एकाध दोष दिखलाया है, वहाँ आधुनिक आलोचक श्रीमिश्र-बधुओं एवं पं० कृष्णविहारी मिश्र ने बिहारीलालजी के व्यक्तित्व एवं उनकी सतसई पर कुछ निंद्य आक्षेप किए हैं।

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में बिहारीलालजी का गुंडों-जैसा काल्पनिक चित्र बनवाकर उस समय छपवाया, जब उन्हें थोड़े-से परिश्रम से बिहारीलालजी का प्राचीन, प्रामाणिक चित्र जयपुर दरबार से प्राप्त हो सकता था। इस चित्र पर आलोचकों ने घोर आपत्ति की थी, पर श्रीमिश्रबंधुओं ने उनकी कुछ भी परवा न कर नवरत्न के द्वितीय संस्करण में उस चित्र को जैसे-का-तैसा रख दिया। इस प्रकार किसी के चरित्र पर कलंक-कालिमा पोतने की गर्हणीय दुश्चेष्टा करना अत्यंत अनुचित है। इसके सिवा कहीं बिहारीलालजी की रचना में काइयाँपन बतलाया है, तो कहीं उनकी भक्ति को वितंडा-मात्र कहने का दुस्साहस किया है। इस प्रकार

कई जगह निंदात्मक ढंग से कलम चलाई है। सतसई के प्रति दोहे पर एक मोहर की प्राप्ति की बात पर आप लोगों ने नवरत्न के प्रथम संस्करण में लिखा था—"कहते हैं कि राजा जयसिंह ने इन्हें (बिहारी को) प्रति दोहा एक मोहर दी। यह एक मोहरवाली बात यथार्थ नहीं जँचती जान पड़ता है, इनका पूरा सम्मान कभी नहीं हुआ। यदि प्रति दोहा एक मोहर मिलती होती, तो यह हजारों दोहे बना डालते, और सात ही सौ दोहे पर संतोष न करते। यदि मोहरों पर हजारों दोहे बने होते, तो वे इनके किए भी लुप्त न होते।

(प्रथम सं०, पृष्ठ २२३)

इसपर विद्वान् आलोचकों ने समझाया था कि प्रबल जन-श्रुति के विरुद्ध बिना प्रमाण के ऐसे मनगढ़ंत, काल्पनिक आक्षेप करना निंद्य कार्य है, परंतु हठवादी श्रीमिश्रबंधुओं ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, वरन् द्वितीय संस्करण में और भी तेजी से लिखा है—"यह एक मोहरवाली बात ठीक नहीं जँचती . जान पड़ता है, इनका पूरा सम्मान कभी कहीं नहीं हुआ। यदि हरएक दोहे पर एक मोहर मिलती होती, तो वह हजारों दोहे बना डालते, साथ ही सौ दोहों पर संतोष न करते। यदि मोहरों के पुरस्कार पर हजारों दोहे बने होते, तो वे इनके किए भी लुप्त न होते।"

(हिंदी-नवरत्न, द्वि० सं०, पृष्ठ २७६)

भूषण कवि को शिवाजी द्वारा मालोपमा के एक साधारण कवित्त पर, उस समय जब की राष्ट्रीय कार्य के लिये धनाभाव था, लाखों रुपया दिया जाना तो यथार्थ जँचा, पर मिर्जा राजा जयसिंह-जैसे श्रीमान् नरेश द्वारा सात सौ अशर्फियाँ, उस समय जब कि बिहारीलालजी ने राजा जयसिंह पर कविता का जादू चलाकर उनका अपार हित किया था, दिया जाना यथार्थ नहीं जँचा। सच तो यह है कि बिहारीलालजी के साथ अन्याय कर उन्हें देव से

हीन प्रमाणित करने की धुन में इन महाशयों ने विहारीलालजी पर यह जुल्म ढाया है। आपलोगों ने बिहारीलालजी की संपूर्ण रचना में छ दोष दिखलाए हैं—(१) शृंगार मे मरण-दशा का वर्णन, (२) गर्भवती नायिका का वर्णन, (३) वर्षा में चक्रवाक, (४) रात्रि में भ्रमण-वर्णन, (५) पति द्वारा चुंवित पुत्र के मुख-चुंवन से नायिका के हृदय मे सात्त्विक भाव की उत्पत्ति और (६) भाषा का तोड़-मरोड़ का दोष।

नवरत्न के वाद पं० पद्मसिंह शर्मा का 'सतसई-संजीवन-भाष्य'-नामक तुलनात्मक समालोचना-पूर्ण ग्रंथ निकला। इसका हिंदी में स्वागत हुआ और सर्व-प्रथम इसी ग्रंथ पर अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा मगलाप्रसाद-पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसमें विद्वान् समालोचक ने यह भली भाँति सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि बिहारी-सतसई के अनेक दोहे 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथा-सप्तशती' एवं 'अमरुक-शतक' के श्लोको एवं श्रीकेशवदास आदि की सूक्तियों के आधार पर वने हैं। पर साथ ही उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि विहारीलालजी ने गृहित भावों को अपनी प्रतिभा के बल से सर्वथा स्वतंत्र और अधिक सुंदर रूप दे दिया है। साथ ही आपने तुलनात्मक आलोचना द्वारा विहारी-सतसई के दोहों की तुलना संस्कृत, फारसी, उर्दू एवं हिंदी के प्रसिद्ध कवीश्वरों के समान भाववाले छंदों से करके यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि विहारीलालजी की कविता बहुत ही उच्च कोटि की है। उनकी समता की कविता ढूंढ़ निकालना दुस्साध्य है। इनमें संस्कृत-साहित्य मे सम्माननीय गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती, अमरुक-शतक, पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली, महाकवि श्रीहर्ष, महाराजा भर्तृ-हरि, महाकवि बिल्हण आदि हैं। उर्दू-कवियों में उर्दू-काव्य-जगत के प्रसिद्ध महाकवि गालिव, जौक सौदा, मीर तकी, मीर दर्द, नासिख, मोमिन, दाग, नासरअली, जफर, नजीर, एव अकबर

आदि हैं। हिंदी-कवियों में आचार्य और महाकवि केशवदास, महाकवि राय सुंदर, तोषनिधि, दूलह, सेनापति, भिखारीदास, गंग, मतिराम, पद्माकर, कालिदास एवं कविवर रसखानि आदि हैं, जिनकी रचनाओं से हिंदी-काव्य का गौरव है। इनके अतिरिक्त सतसई के ढंग के प्रसिद्ध ग्रंथ जैसे शृंगार-सतसई, विक्रम-सतसई रतनहजारा और वृंद-सतसई की सूक्तियों से भी बिहारी-सतसई की सूक्तियों की तुलना की गई है। शर्माजी ने तुलनात्मक आलोचना द्वारा यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि इन सबके मुकाबिले में बिहारी-सतसई के दोहे ही श्रेष्ठ ठहरते हैं। इसके बाद आपने बिहारीलालजी को हिंदी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि घोषित किया है। फिर दोष-परिहार-शीर्षक में पृष्ठ २६० से २७२ तक श्रीमिश्रबंधुओं के बतलाए दोषों का सप्रमाण निराकरण करके लिखा है—"इस अतिरिक्त मेसर्स मिश्रबंधुओं ने बिहारी पर और भी कृपा की है। बिहारी की भक्ति को वितंडा-मात्र कहा है। उसे काइयाँपन की उपाधि दी है, गुंडों का-सा चित्र बन कर उनके चरित्र पर कलंक-कालिमा पोतने की गर्हणीय दुश्चेष्टा की है।"

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न में देव को, अपने पिता स्वर्गीय पं० बालदत्तजी मिश्र की सुखसागर-तरंग की भूमिका में दी हुई सम्मति के अनुसार, बिहारीलालजी से श्रेष्ठ मान लिया है। पर इसके लिए इन महाशयों ने कोई कारण नहीं बतलाया। और, सच तो यह कि देव को बिहारीलालजी से श्रेष्ठ सिद्ध करने की धुन में ही आप लोगों ने बिहारीलालजी के साथ घोर अन्याय कर डाला है। पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा बिहारी-विषयक अपने पाँचों आक्षेपों का प्रामाणिक उत्तर दिए जाने पर एवं बिहारीलाल जी को सर्व-श्रेष्ठ हिंदी-कवि प्रमाणित हुआ देखकर तथा देव कवि को संजीवन भाष्य में तुलना के संबंध में स्थान मिलता न देखकर श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने रुष्ट होकर पं० कृष्णविहारी मिश्र से 'देव और

बिहारी'-नामक तुलनात्मक आलोचना-पूर्ण ग्रंथ लिखवाया। इसके विषय में श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने हिंदी-नवरत्न के द्वितीय संस्करण में स्वयं ही लिखा है—"चिरंजीवि कृष्णविहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी' पुस्तक में ऐसी (तुलनात्मक) आलोचना भी की है। .. उक्त ग्रंथ भी हिंदी-नवरत्न का ही अंग है।"

(भू० पृ०, ४-५)

तात्पर्य यह कि पं० कृष्णविहारी मिश्र-कृत 'देव और बिहारी' को मिश्रबंधुओं ने स्वयं ही अपनी 'हिंदी-नवरत्न का अंग खुले-खजाने स्वीकार किया है। इस ग्रंथ के लिखने में ग्रंथकार के दो मूल उद्देश्य स्पष्ट है—(१) पं० पद्मसिह शर्मा को खरी-खोटी सुनाकर उनका उपहास करना और (२)अनुचित पक्षपात कर के देव को बिहारीलालजी से श्रेष्ठ सिद्ध कर श्रीमिश्रबंधुओं के भ्रमात्मक मत-का समर्थन करना। आपने 'देव और बिहारी' की भूमिका में 'प० पद्मसिह शर्मा का बिहारी के साथ 'अनुचित पक्षपात'-शीर्षक देकर एक निबंध पृष्ठ ६६ से पृष्ठ ८६ तक २० पृष्ठों में लिखा है। उसमें पं० पद्मसिह शर्मा पर अनेक कटु आक्षेप किए हैं, डरा-धमका कर उन्हें कहीं उपदेश दिया है, और कही उन्हें ज्ञान-हीन एवं हठ-वादी आदि सिद्ध करने का दुर्बल एवं असफल प्रयत्न किया है। आपने स्पष्ट ही लिखा है—"मिश्रबंधु-विनोद और नवरत्न के रचयिताओं पर भी भाष्यकार ने नाना भाँति के आक्षेप किए है कहीं कहीं पर भाष्यकार ने उनको गुरुवत् उपदेश-सा दिया है; यथा 'ऐसा न लिखा कीजिए; ऐसा लिखिए।' धमकी की भी कमी नहीं है। बिहारीलालजी के चरित्र को अच्छा न बतलाने के कारण उनपर कविवर के चरित्र को जान-बूझकर सदोष बतलाने की 'गर्हणीय दुश्चेष्टा' का अभियोग भी लगाया गया है। नवरत्न के रचयिताओं पर जितने आक्षेप भाष्यकार ने किए हैं, उनमें से एक भी ऐसा

नहीं है, जो मतभेद से खाली हो।" (पृष्ठ ६२) "इस पक्षपात का चूड़ांत उदाहरण पाठकों को इसी से मिल जायगा कि देव-सदृश-उच्च कोटि के शृंगारी कवि की कविता से विहारी के दोहों की तुलना तो दूर रही, उस वेचारे का नाम तक संजीवन-भाष्य के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है।" (पृष्ठ ५२)

आपने देव कवि को महाकवि विहारीलालजी से ऊँचा सिद्ध करने का जो दुर्बल प्रयत्न किया है, उसमें आदि से अंत तक अंध-भक्ति और अनुचित पक्षपात का साम्राज्य है। इसका चूड़ांत उदाहरण यह है कि आप ग्रंथ में आदि से अंत तक देव कवि को 'देवजी' और महाकवि विहारीलालजी को विहारी लिखते गए हैं। विहारीलालजी के नाम के साथ आदर-सूचक 'जी' का प्रयोग करने में आपका हृदय अनुमति ही न देता था। यह ईर्षा निंद्य है। फिर पुस्तक में दोनों को स्थान देने में जो अन्याय हुआ है, वह भी कम निंदनीय नहीं है। जैसे—

वहुदर्शिता-नामक अध्याय में १५ पृष्ठों में से देव को १२ और विहारी को ३ पृष्ठ दिए गए हैं।

प्रेम-परिचय " " १५ " " १२½ पृष्ठ और विहारी को २½ पृष्ठ दिए गए हैं।

मन " " १४ " " ११ पृष्ठ और विहारी को १½ पृष्ठ दिया गया है।

शेष १½ पृष्ठों में 'छप्यो' शब्द पर पं० पद्मसिंह को आड़े हाथों लिया है।

नेत्र " " ५½ " " ४ पृष्ठ और विहारी को १½ है पृष्ठ दिया गया है।

भाषा " " ८ " " ६ पृष्ठ और विहारी। को २ पृष्ठ दिए गए हैं

फिर बिहारीलालजी के विषय में जिस निंदनीय ढंग से लिखकर देव के दोष छिपाए है, उसके लिये ये महाशय निंदा के पात्र है। आप अपने दोनों उद्देश्यों द्वारा महाकवि श्रीबिहारीलालजी को हीन सिद्ध करने में कहाँ तक सफल हुए है, इसे यहाँ प्रसंग-वश दिखलाना अनिवार्य रूप से आवश्यक प्रतीत होता है। पहले पं० पद्मसिंह शर्मा का पं० कृष्णविहारी मिश्रद्वारा दिखलाया पक्षपात दो उदाहरणों में दिखलाता हूँ, फिर विहारीलालजी और देव की तुलना पर संक्षिप्त विचार किया जाता है।

यहाँ मै पहले मिश्रजी की रचना का वह अंश दिखलाता हूँ, जिसमें पं० पद्मसिंह शर्मा पर अनुचित कटाक्ष किए गए है। पं० पद्मसिह शर्मा ने विहारीलालजी के तीन दोहो की तुलना केशवदासजी के तीन कवित्तो से की है। उसपर मिश्रजी ने कटाक्ष किया है। यहाँ मै उभय कवियों के छंद पं० पद्मसिह की आलोचना और पं० कृष्णविहारी मिश्र की प्रत्यालोचना एवं अपनी व्याख्या-सहित पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए देता हूँ—

नेकु हँसौहीं बान तजि लख्यो परत मुख नीठि ;
चौका चमकनि चौंध में परति चौंध-सी दीठि।
(बिहारी)

तैसीए जगति जोति सीस सीसफूलन की,
चिलकत तिलक तरुनि तेरे भाल को ;
तैसीए दसन-दुति दमकति 'केसोराय',
तैसोई लसत लाल कंठ कंठ-माल को।
तैसीए चमक चारु चिबुक कपोलन की,
झलकत तैसो नाक-मोती चल चाल को;

हरे - हरे हँसि नेक चतुर चपलनैनि,
चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।
(केशव)

"केशवदासजी ने अपने मदनगोपाल के चित्त की चकाचौंध के लिये इतनी चमकीली चीजें एक जगह जमा कर दी हैं कि उनकी मौजूदगी में चकाचौंध न हो, तो ताज्जुब है। सिर पर जगमगाता सीसफूल, माथे पर चमकता तिलक, दाँतों की चमक, कंठ में लाल रत्नों का कंठा, नाक में हिलता हुआ आबदार मोती, फिर चिबुक और कपोल की दमक, उसपर चपल-नैनी का जोर-जोर से हँसना इतने पर भी चकाचौंध न हो, तो कब हो ? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हुई।

"पर बिहारी के यहाँ कमाल है। नायिका के हँसने में जो जरा दाँतों का चौका खुलता है, तो उसी के प्रकाश से देखनेवाले की आँखों में ऐसी चकाचौंध छा जाती है कि मुँह मुश्किल से नजर आता है। आँखों के सामने जब बिजली कौंध जाती है, तो सामने की चीज नजर नहीं आती। इस अकेली दशन-प्रभा के सामने केशवदास की इधर-उधर से जुटाई हुई सारी चमकीली चीजें मात हैं।"

(पं० पद्मसिंह शर्मा सत० स जी० भा० भू० भा०, पृष्ठ ९६-९७)

शर्माजी पर आक्षेप करते हुए मिश्रजी लिखते हैं—

"शर्माजी ने बिहारी के कई दोहों की तुलना केशवदास के कवित्तों से की है। तुलना के पश्चात् बिहारीलाल को बलात् श्रेष्ठ ठहराया है। जिन कवित्तों से तुलना की गई है, केवल उन्हीं पर विचार करने से तो केशवदास, किसी भी प्रकार हीन प्रमाणित नहीं होते है। बड़े ही दुःख का स्थल है कि शर्माजी केशवदास के जिस कवित्त का पूर्ण अर्थ भी नहीं समझ पाते, उसी को बिहारीलाल के

दोहे के साथ तुलना करने के लिये उद्धृत करते हैं। यह कहाँ का न्याय है ? 'हरे-हरे हँसि नेक चतुर चपलनैनि चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।' इस पद में, 'हरे-हरे हँसि .. चपलनैनि' का अर्थ शर्माजी ने चपलनैनि का जोर-जोर से हँसना किया है। 'हरे-हरे हँसि' का अर्थ जोर से हँसना न होकर ठीक उसके विपरीत 'धीरे-धीरे हँसना' है। पर आपको इससे क्या ? येन केन प्रकारेण विहारीलाल श्रेष्ठ सिद्ध हो जायँ, इसी की धुन समाई है ! यदि विहारीलाल ने 'नेक हँसौंही' कहा था, तो चट आपने केशव के छंद में 'नेकु' का उल्टा 'जोर-जोर से' ढूँढ लिया। वलिहारी इस धाँधली और विदग्धता की ! यदि विहारीलाल जीवित होते, तो केशव से बड़े सिद्ध होने के लिये कदाचित् इस प्रकार की चालें कभी पसंद न करते।

"हमारी राय में केशव का कवित्त दोहे से जरा भी नहीं दबता है। परन्तु जो पक्षपात का चश्मा चढ़ाए हैं, उससे कौन क्या कहे ?—शर्माजी अपने वितंडावाद से केशव की इस अनूठी उक्ति की रमणीयता नष्ट नहीं कर सकते हैं।"

(पं० कृष्णविहारी मिश्र 'देव और विहारी,' पृष्ठ ७१-७३)

उपर्युक्त अवतरण से मिश्रजी की 'साधुभाषा' और 'सौम्य स्वभाव' का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। इसे ही अनेक लोग आदर्श समालोचना मान बैठे है। इस तरह निंद्य आक्षेप करना और वह भी ऐसी अशिष्ट भाषा में, सभ्य-समाज में कभी उचित नहीं माना जा सकता। केशव के छंद के विषय में कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ कह देगा कि वह विहारीलालजी के दोहे से बहुत नीचा है। अपनी नासमझी के कारण मिश्रजी ने इसे श्रेष्ठ कहा है, खूबी तो यह है कि आपने उस स्थल पर उभय कवियों के पद्यों को भी उद्धृत नहीं किया है। यह चालबाजी अच्छी नहीं कही जा सकती।

कम-से-कम पद्य तो लिख ही देते, जिसमें साहित्य-मर्मज्ञ मिश्रजी के कथन पर विचार करने का अवसर पाते। स्थानाभाव का बहाना नहीं किया जा सकता। जहाँ मिश्रजी वितंडावाद में दो सफे काले कर सके है, वहाँ दो पद्य भी उद्धृत कर सकते थे। खैर, अब मै पाठकों के सम्मुख दोनों की व्याख्या की विवेचना उपस्थित करता हूँ—

दोहे में नायक किसी स्मितवादिनी, हास्यमयी सुंदरी से कहता है—

"हे प्रियतमे! धीरे-धीरे हँसने की आदत छोड़ दे, क्योंकि इसमें तेरे सुन्दर मुख की ओर देखना कठिन हो जाता है। तेरे थोड़ा हँसने में जो दाँतों का चौका जरा खुलता है, उसकी चमक से चकाचौंध पैदा होती है, और मेरी आँखे उसमें चकचौंधिया जाती हैं।"

बिहारीलालजी के इस वर्णन में नायिका की 'नेकु हसौहीं बान' के कारण जो दाँतों का चौका जरा खुलता है, उसकी चमक इतनी तेज होती है कि नायक की आँखों मे चकाचौंध छा जाती है। इसी से—'लख्यों परत मुख नीठि।' एव मुख सौंदर्य-सुधा का इच्छुक नायक इसी कारण बड़े दैन्य भाव से नायिका से कहता है—"नेकु हसौहीं बान तज।" इस दोहे मे नायक के दैन्य भाव और सुन्दरी नायिका की अप्रतिम दंत-द्युति का उत्कृष्ट वर्णन है। नायक के द्वारा नायिका की सुन्दर दशनावली की प्रशसा भी इस दोहे मे निराले ढंग से व्यक्त की गई है।

केशव कहते हैं—"कोई सखी नायक पर अनुग्रह कर नायिका से कहती है कि हे सखी, सीस-फूलन की जगत जोति, भाल को चिलकत तिलक, दमकत दसन-दुति, कंठ लाल को कंठ-माल, चिबुक कपोलन की चारु चमक, नाक को चल चाल को मोती—ये सब बड़ी चमकवाले हैं। इनकी चमक, और झलक में हे चतुर,

चपलनैनि ! तेरे जोर-जोर से हँसने के कारण 'दशन-दुति दमकति' है, जिससे मदनगोपाल का चित्त 'चकचौंधे' है। अतएव तू 'हरे-हरे हँस' धीरे-धीरे हँस।"

अब आइए, केशव के कवित्त को कसौटी पर कसें। देखें, खरा है, या खोटा। केशव लिखते हैं कि नायिका की 'सीस सीस-फूलनि की जोति जगत।' इसमें सीसफूल एक वचन को 'सीस-फूलन' बहुवचन लिखने से यह जान पड़ता है कि उस नायिका के सीस पर अनेक सीसफूल थे। कैसे बेढब दिखते होंगे, जरा सोचिए, नायिका भी कैसी नागरी होगी, इसका भी अनुमान कीजिए। खेद है, आचार्य केशवदास ने ऐसी भद्दी भूल की। 'नेकु हरे-हरे हँसि' पर ही मिश्रजी उछल पड़े हैं। लिखते हैं, शर्माजी ने इसका अर्थ जोर-जोर से 'हँसना' किया है। पर मिश्रजी व्यर्थ ही बिगड़ गए। शर्माजी ने हरे-हरे हँसि का अर्थ जोर से हँसना नहीं किया है। मिश्रजी स्वयं समझे नहीं और दूसरों को समझाने का हास्यस्पद प्रयास करने बैठ गए। इतना भी तो न समझ पाए कि यदि नायिका जोर-जोर से न हँस रही होती, तो फिर उससे यह कहने की आवश्यकता ही न होती कि तू 'धीरे-धीरे (हरे-हरे) हँसि।' आपने इतना भी न समझा कि 'हरे-हरे हँसि' का प्रस्ताव ही उसके पहले उसका जोर से हँसना सूचित कर देता है। कदाचित आप यह नहीं जानते कि काव्य में केवल वाच्यार्थ ही नहीं होता, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी होता है। तर्क से थोड़ा भी काम लेते तो आपको केशव के कवित्त की नायिका के जोर से हँसने का पता लग जाता। पर वितंडावाद में यह सब सूझता ही कहाँ है। आपने अपनी इसी नासमझी पर सीना फुलाते हुए एक ही साँस में कह डाला है— 'बलिहारी इस... न करते।' आदि-आदि।

केशव के इस वर्णन में बिहारीलालजी के दोहे की-सी काव्य-

कुशलता का अभाव है। केशवदास अंत में बुरी तरह फिसल पड़े है, लिख मारा—'चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।' कई स्थूल सौदर्य-पूर्ण पदार्थों की चमक से नेत्रों का चकचौंधिया जाना तो बिलकुल ठीक और संगत बात है, पर चित्त का चकचौंधिया जाना किसी प्रकार ठीक नहीं माना जा सकता। चित्त का चंचल होना लिखते, तो ठीक था; चमत्कृत होना लिखना भी ठीक था, पर चकचौंधियाना आँखों का धर्म है, चित्त का नहीं। इसमें अक्षम्य भूल की गई है। फिर यदि हम किसी प्रकार कष्ट-कल्पना की हद करके 'चकचौंधे' का अर्थ चंचल होना भी मान लें, तो ध्वनि यह निकलती है कि ज्यों-ज्यों नायक नायिका की उपर्युक्त प्रभा-पूर्ण सुंदर वस्तुओं की ओर देखता था, त्यों-त्यों उसका चित्त अधिकाधिक चंचल होता जाता था। विशेषकर नायिका के जोर-जोर से हँसने में उसके दाँतों का चौका खुलने से उसकी दशन-प्रभा नायक के चित्त को और भी चंचल बनाती थी। इसे से कदाचित् नायक के कहने से सखी नायिका को आज्ञा देती है कि हे नायिका! तू जोर-जोर से हसना बंद कर दे। धीरे-धीरे हस, क्योंकि तेरे जोर-जोर से हसने से 'चित चकचौंधे मेरे मदन-गुपाल को।'

केशव के इस वर्णन में नेत्रों के चकचौंधियाने ा भाव निकलना मानों रेत से तेल निकालना है। इतनी बहुत-सी प्रभा-पूर्ण वस्तुओं की दमक की सहायता लेकर भी नायिका की दशन-प्रभा नायक के नेत्रों को नहीं चकचौंधिया सकती, यह स्पष्ट है। बिहारीलालजी के दोहे की नायिका की दशन-प्रभा के सम्मुख केशव के कवित्त की नायिका की इधर-उधर से जुटाई हुई अनेक प्रभा-पूर्ण वस्तुओं की प्रभा की सहायता पानेवाली दशन-द्युति कितनी प्रभा-हीन है, इसे साहित्यिक सज्जन अपनी कल्पना से स्वयं देखें। फिर केशव के कवित्त में बिहारीलालजी के दोहे के समान उक्ति-वैचित्र्य

नायक की नायिका के मुख की सौंदर्य-सुधा-पान की उत्कट अभिलाषा एवं उसका दैन्य प्रदर्शन, नायक द्वारा नायिका की सुंदर दशनावली की प्रशंसा आदि के समान अनोखा वर्णन स्वप्न में भी नहीं। इस वर्णन में केशव विहारीलालजी से बहुत पीछे रहे।

कदाचित् केशवदासजी के महाकवि और आचार्य होने के कारण आपने उन्हें बिहारीलालजी से श्रेष्ठ समझ लिया है। पर स्मरण रहे, भूल सबसे होती है। यदि केशवदास ने गलती की है, तो कोई अचरज की बात नहीं हुई। धाँधली मचाकर गलती को सही करना व्यर्थ है।

अब एक दूसरी तुलना की भी बानगी देखिए। शर्माजी ने केशव के केवल चार कवित्तों से बिहारीलालजी के चार दोहों की तुलना की है, और इस तुलना में बिहारीलालजी को केशवदास से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। जिन पदों से तुलना की है, उनपर विचार करने से तो, बिहारीलालजी ही श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

सुख दै, सखीन बीच पैकै, सौंहैं खायकै,
खवाय कछू, स्वाय बस कीनी बरबसु है;
कोमल मृणालिका-सी मल्लिका की मालिका-सी
बालिका जु डारी मींड़ मानस कै पसु है।
जाने नाविभात भयो, 'केसव' सुनै को बात,
देखो आनि गात जात भयो कैधौं असु है;
चित्र-सी जु राखी वह चित्रनी विचित्र गति,
देखो धौं नए रसिक यामैं कौन रसु है।
(केशव)

केशवदासजी के इस छंद में सखी नायक को उलाहना देती है। प्रौढ़ नायक ने मुग्धा नायिका से संभोग किया है। मुग्धा नायिका

को पहले उसने (रुपए-पैसे से संतुष्ट करके या अन्य ऐसे ही किसी प्रकार से संतुष्ट करके) सुख दिया, अर्थात् किसी भाँति लालच आदि से प्रसन्न किया। इसपर वह नायिका लरजी तो, पर प्रौढ़ नायक से रति करने में कष्ट होगा, यह सोचकर डर गई, तब नायक ने (सखीन बीच पैकै) सखि को मध्यस्थ बनाकर शपथें कीं, जिससे उसकी दिल-जमई की। फिर उसे कुछ मादक द्रव्य (भंग आदि) खिलाकर उसे ज्ञान या विवेक से रहित कर दिया। नशे में चूर होकर जब वह आपा भूल गई, तब उसे (स्वाय) सुलाकर (बरबसु)-बलात् वश में कर लिया। इस प्रकार नायक ने उस 'मृणालिका-सी' एवं 'मल्लिका की मालिका-सी' कोमल बालिका को 'मीड़ डारी'। संभोग की समाप्ति पर जब नायिका की सखी ने उस बालिका नायिका की बुरी दशा देखी, तब क्रोधित होकर नायक के पास उपस्थित हुई, और उससे बोली—"हे दुष्ट नायक! तूने उस (अज्ञातयौवना मुग्धा) बालिका को, जो 'कोमल मृणालिका-सी' 'मल्लिका की मालिका-सी' है मींड़ डाली। तू मनुष्य है या पशु?"

केशव के इस वर्णन में नायक और सखी दोनों उजड्ड, गँवारी और निर्लज्ज हैं। सखी का गाली-गलौज करना उसका गँवारी होना सूचित करता है, एवं नायक की उपर्युक्त चेष्टाएँ और उसका सखी से इस प्रकार गाली खाना इस बात का प्रमाण है कि वह अत्यंत कामी, प्रेम-हीन, कपटी एवं असभ्य है। उसकी प्रकृति भी अति नीच है। केशव ने ठीक ही तो कहा है—'यामें कौन रसु है।' सचमुच कुछ रस नहीं है।

अब बिहारीलालजी का वह दोहा देखिए, जिसकी तुलना केशव के इस कवित्त से की गई है—

यों दलमलियत निरदई, दई! कुसुम-से गात;
कर धर देखो, धरधरा अजौं न उर को जात।
(बिहारी-सतसई)

पहले तो बिहारीलालजी ने केशव के समान—'सुख दै वर-बसु है' नहीं लिखा। इससे यह स्पष्ट है कि दोहे की नायिका ज्ञात-यौवना है, विश्रब्ध नवोढ़ा है। इसीसे उसके साथ संभोग करने मे नायक को केशव के कवित्त में वर्णित नायक के समान मनुष्यत्व-हीन एवं कुटिल और घृणित उपायों का आश्रय नही लेना पड़ा है। नायक भी श्रीमान् एवं गुणज्ञ है। सखी के उलाहना देने के ढंग से यह स्पष्ट सूचित होता है कि वह संभ्रांत कुल का कोई प्रभावशाली व्यक्ति है। सखी भी चतुर है। उसकी व्यवहार-कुशलता और नागरिकता उसके कथन के ढंग से जान पड़ती है। दोहे मे कितनी प्रेम-पूर्ण मधुर भर्त्सना है। 'कुसुम-से गात दलमलियत' मे और 'मीड़ डारी'—मींड़कर डाल देने में बहुत अंतर है। दूसरे मे वह बात—वह बाँकपन—कहाँ है, जो पहले मे है। 'दई'! अकेले में ही सखी की सहृदयता, नायिका से सहानुभूति, नायक के कृत्य पर क्षोभ एवं आश्चर्य आदि अनेक भावो का गुंफन है। इस एक ही शब्द में कवित्व का समुद्र भरा है। मर्मज्ञ ही ऐसे स्थलों को समझने में समर्थ होते हैं। फिर जो शब्द-समृद्धि, जो भाषा-माधुर्य, जो प्रयोग-साम्य और शब्दालंकारों की जो सुकर सजावट दोहे में है, उसका शतांश भी तो कवित्त मे नहीं है। इतना होते हुए भी बिहारीलालजी मे एक बात अद्वितीय है। उनका वर्णन उद्वेग-जनक नहीं है। अग्नि-पुराण में भगवान वेद-व्यासजी ने 'उद्वेग-जनक' होना काव्य का भारी दोष माना है। केशव का कवित्त उद्वेग-जनक होने से दूषित है, पर बिहारीलालजी का उद्वेग-जनक न होने से दूषित नही है।

•

फिर बिहारीलालजी के अक्षर तो कामधेनु ही ठहरे। कई लोग कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोहा किसी एक स्त्री ने किसी दूसरी ऐसी स्त्री से कहा है, जिसने अपने उपद्रवी, कोमल बालक को उपद्रव

करने के कारण क्रोधावेश में झकझोर डाला है। बालक क्रोधावेश में झकझोरे जाने से काँप उठा है, उसका दिल दहल गया है, इसी से हृदय में धड़कन हो रही है। क्रुद्ध माता से बालक की रक्षा करनेवाली वह सहृदया नारी उलाहने के ढंग पर कहती है—

यों दलमलियत निरदई, दई कुसुम-से गात ;
कर धर देखो, धर धरा अजौं न उर को जात।

(बिहारी-सतसई)

कुछ भी हो, है अपूर्व भर्त्सना। दोहा अत्यंत श्रेष्ठ है। अब यदि शर्माजी ने लिखा है कि बिहारीलालजी इस मैदान में केशवदास से बहुत आगे बढ़ गए हैं, तो क्या अनुचित किया है?

इसी भाव पर सैयद गुलामनबी 'रसलीन' ने भी एक दोहा कहा है, उसे भी देख लीजिए—

यों मींजत कोऊ लला, अबलन अंग बनाय ;
मले पुहुप की बास-लौं साँस न जानी जाय।

('रसलीन'—रसप्रबोध)

'रसलीन' ने बिहारीलालजी के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया है, पर उन बूँदों में रस कहाँ? इनके लला ने मामला कुछ बिगाड़ दिया है। 'अबलन अंग' लिखकर इन्होंने भी बात बता दी। जिस बात को काव्य-जगत् के चतुर चितेरे बिहारीलालजी ने विदग्धता से ढककर रक्खा था, उसे इन्होंने प्रकट कह दिया। 'अबलन अंग' से यह भी सूचित होता है कि नायक ने ऐसी हरकतें एक बार नहीं, अनेक बार की हैं—अनेकों के साथ की हैं। खैर, इनके वर्णन में डर लगता है कि कहीं अनर्थ

न हो जाय, क्योंकि आप लिखते हैं—'साँस न जानी जाय' बड़ा अनर्थ हो गया। इसमें फिर रस कहाँ? यह तो केशव के—'जात भयो कैधौ अस है' से भी बहुत बढ गया।

परिशिष्ट

महाकवि बिहारी और देव

स्वर्गीय पं० बालदत्तजी मिश्र ने 'सुखसागर-तरंग' की भूमिका में, उनके सुपुत्र प्रसिद्ध आलोचक श्रीयुत मिश्रबंधुओं (पं० गणेश-बिहारी मिश्र, पं० श्यामबिहारी मिश्र, पं० शुकदेवबिहारी मिश्र) ने 'हिंदी-नवरत्न' और 'मिश्रबंधु-विनोद' में एवं पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में देव कवि पर अनुरक्त हो उन्हें महाकवि श्रीबिहारीलालजी से श्रेष्ठ ठहराने का हठ किया है। इनमे से पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने विशेष सतर्कता और रोचक लेखन-शैली का अवलंबन कर, पक्षपात-पूर्ण आलोचना द्वारा बिहारीलालजी के साथ घोर अन्याय कर उन्हें देव से बलात् हीन सिद्ध किया है। उस समय से कुछ लोगों का झुकाव इस ओर दिखाई देने लगा है। परंतु उनमे अधिक संख्या ऐसे सज्जनों की है, जो अध्ययनशीलता से विमुख रहकर. केवल एक-दो आलोचनाएँ पढकर, महाकवियों के विषय में निर्भ्रांत मत देने की अनधिकार चेष्टा में रत रहकर अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटते हुए देखे जाते है।

महाकवि बिहारीलालजी और देव, दोनों ही किसी परिपाटी-विशेप की निर्धारित शैली के अनुसार शृंगार-प्रधान काव्य निर्माण करनेवाले हैं। देव ने आजमशाह के यहाँ 'बिहारी-सतसई' का अध्ययन किया था, एवं उसके दोहों के भावों का अपहरण कर अपने अधिकांश छंद बनाए है। इसी कारण दोनो की रचनाओं मे समान भावों तथा वर्णनोंवाली सूक्तियाँ मिलती हैं। दोनो ही मुक्तकों के रचयिता हैं। ध्यान रहे, मुक्तक की विशेषता थोड़े में एक सजीव भावात्मक शब्द-चित्र अंकित करने में है। हिंदी में

ऐसी रचना स्फुट दोहा, कवित्त, सवैया और गीत में प्रधानतया प्राप्त होती है। बिहारीलालजी और देव, दोनो ही मुक्तक लिखने वाले हैं, और वे भी प्रधानतया शृंगार-रस पूर्ण। ऐसी दशा में दोनो ही एक विषय की समतामयी उक्तियों की निष्पक्षपात-भाव से आलोचना करने में हमें संभवतः निर्भ्रांत निर्णय प्राप्त हो सकता है कि दोनो में कौन किससे कितना श्रेष्ठ है। ऐसे समालोचक को सर्वतोभावेन निष्पक्षपात रहना चाहिए। क्योंकि ऐसी स्थिति में पक्षपाती समालोचक अपनी लेखनी के बल से केवल कोमल-मति पाठकों को ही नहीं, वरन अपरिपक्क बुद्धि के पढ़े-लिखे लोगों एवं अध्ययनशीलता-रहित विचारवान् पाठकों तक को उलटे मार्ग में ले जाकर उनका महान् अहित करता है। यथार्थ में समालोचका को निष्पक्षपात न्यायाधीश के समान बड़े विचार से निर्णय देन चाहिए। फिर न्यायधीश के निर्णय से तो केवल अल्पसंख्यक व्यक्तियों को हानि पहुँचती है, पर समालोचक के निर्णय से साहित्य-जगत् मे भ्रांत मत फैल जाता है, जिससे जनता और साहित्य, दोनों का महान् अपकार होता है। जो पैसे के लालच, अपने किसी स्वार्थ-विशेष की पूर्ति एवं विद्वता के अभिमान के वश हो दुराग्रह से पक्षपात करता है, वह साहित्य का, समाज का एवं अपना घोर अहित करता है।

आलोचना करने के पूर्व मै यह मत प्रकट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि दोनो कवि समकक्ष नहीं हैं, एवं महाकवि बिहारी-लालजी से देव की तुलना करना एक प्रकार से दुराग्रह है। यह तुलना न की जाती, तो ठीक था। इसके निम्न-लिखित कारण है—

(१) महाकवि बिहारीलालजी काव्य की मंदाकिनी प्रवाहित करने और देव साहित्य का आचार्यत्व दिखलाने के लिये लक्षणों केउदाहरण लिखने वैठे थे।

(२) महाकवि बिहारीलालजी ने एक-एक दोहा बड़े ही विचार-पूर्वक स्वाभाविकता लिये हुए, देश,काल और पात्र आदि के अनुसार भाव और भाषा का अद्भुत मेल मिलाकर लिखा है, जिससे उनके प्रत्येक दोहे में अपूर्व चमत्कार आ गया है, और देव ने ढेर-की ढेर रचना की है, जिनमें अधिकांश पद्य अत्यंत साधारण हैं।

(३) बिहारीलालजी की भाषा शब्दालंकारों से अलंकृत होते हुए भी देश,काल और पात्र की परिस्थिति के अनुकूल और स्वाभाविक प्रवाह-युक्त समुचित नियंत्रित है, और देव की भाषा अधिकांश में देश, काल तथा पात्र की परिस्थिति के प्रायः प्रतिकूल केवल यमक और अनुप्रास-युक्त है। साथ ही तोड़ी-मरोड़ी हुई है, और उसमें भाषा के स्वभाविक प्रवाह के दर्शन दुर्लभ है।

(४) बिहारीलाल के दोहे प्राय: उद्वेग-वर्धक नहीं है, पर देव के अधिकांश पद्य नग्न-काम-भोग-वर्णनमय, उद्वेग-वर्धक है, जिन्हें सभ्य-समाज में सुरुचि-पूर्ण लोग सुनना या पढना तक पसंद नहीं कर सकते।

(५) बिहारीलालजी का प्रत्येक दोहा साहित्य-संसार का समुज्ज्वल रत्न है,पर देव के कवित्तों के विषय मे यह बात क्वचित् ही हैं।

देव की तुलना पद्माकर और दास आदि से हो सकती है, क्योंकि ये कवि लोग देव के समान आचार्यत्व प्रकटित कर,लक्षण एवं उदाहरण लिखकर रीति-ग्रंथों के निर्माता है। इनसे देव की तुलना भली भाँति हो सकती है. पर काव्य-कानन-केसरी बिहारीलालजी से देव की तुलना हो ही नहीं सकती। महाकवि बिहारीलालजी बहुत ही उच्च कोटि के कलाविद् कवि है, जिनकी रचना मे शृंगारिक मुक्तक लिखने की कला का सर्वश्रेष्ठ विकसित निदर्शन है। देव उसके समक्ष जन-साधारण है। दोनों कवियों की उक्तियों के तुलनात्मक मिलान से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। यहाँ उदाहरण देखिए—

परकीयांतर्गत कुलटा नयिका का वर्णन करते हुए दोनो लिखते हैं—

बिहारीलालजी लिखते हैं—

खेलन सिखए अलि भलैं चतुर अहेरी मार ;
कानन‌चारी नैन-मृग नागर नरन सिकार।
(बिहारी-सतसई)

देव लिखते हैं—

छोरि दुकूल, सकोरि कै अंग, मरोरि कै बारन हारन छूटे
मीड़ि नितंबहिं, पीड़ि पयोधर, दाबत दंत रदच्छद फूटे
ज्यों कररी कर केलि करै, निकरै न कहूँ कुलसों किन टूटे ;
मानहिं कौन सुखै जुवती जग, जो न जुवा दिन-जामिनि जूटे।
(भावविलास पृष्ठ ८८, छं० सं० ६६)

साहित्य-शास्त्र में वह नायिका कुलटा मानी गई है, जो एक पुरुष की विवाहिता होती हुई भी अनेक पर-पुरुषों से रति करती है. इसमें काम की प्रबलता होती है। काम की उद्दाम वृत्ति रहने से यह पुंश्चली होती है। पर ध्यान रहे, साहित्य-शास्त्र काम-शास्त्र नहीं है, एवं शृंगार का स्थायी भाव रति है, काम नहीं। कवि को केवल रति-भाव का द्योतक शब्द-चित्र अंकित करना चाहिए। संभोग-काल का ग्राम्य शब्द-चित्र अंकित करना कवि का काम नहीं है। उपर्युक्त तुलना में यह स्पष्ट है कि शब्द-चित्रों द्वारा कुलटा नायिका का स्वरूप दर्शित करना ही दोनो कवियों का उद्देश्य है। अब देखना यह है कि दोनो कवियों में किसका वर्णन सभ्यजनोचित एवं समुचित-नियंत्रित है, और किसका वर्णन ग्रामीणता (गँवारपन) सूचक एवं उद्वेगवर्धक तथा निर्लज्जता पूर्ण है।

जो काव्य-मर्मज्ञ रसिक है, वे तो कवि के इस कल्पना-चित्र से ही कवि की परख कर लेते है, वे देखते हैं, किसका चित्र कैसा है। महाकवि बिहारीलालजी और देव कवि के ये दोनो कुलटाओं के चित्र यदि किसी चित्रकार से खिचवाए जायँ, तब विदित होगा कि महाकवि बिहारीलालजी ने अपने दोहे मे जो शब्द-चित्र चित्रित किया है, उसे यदि घर में रक्खें, तो वह गृह की शोभा बढावेगा. क्योंकि वह चित्र सर्वथा विशुद्ध, परिमार्जित और सुरुचि-पूर्ण कला के प्राकृतिक ढंग का बड़ा ही मनोरम चित्र होगा। देव कवि ने सवैया में जो शब्द-चित्र चित्रित किया है, वह सर्वथा ग्रामीणता-सूचक, निर्लज्जतामय, पाशविक प्रवृत्तियों की ओर ले जानेवाला है। इन सवैया से बनाए गए भयंकर निर्लज्जतामय चित्र को कौन सभ्य पुरुप अपने घर में रखने का दुस्साहस करेगा? सुरुचि-संपन्न व्यक्ति उसे देखना भी पसंद न करेगा। यदि देखेगा भी, तो घृणा से मुँह फेर लेगा। यदि यह कहो कि यह प्राकृतिक है, तो इसका उत्तर यह है कि अनेक प्राकृतिक बातें ऐसी हैं, जो कुत्सित है। उन्हें सौंदर्य- कल्पना में तन्मय हो कर सुंदर, भावमय चित्रों में सुरुचि-संपन्न ढंग से अंकित कर जाने में ही कवित्व है। साहित्य-शास्त्र में कोमल-से-कोमल भावों का चित्रण, बड़े ही सुरुचि-पूर्ण ढंग से, सुंदरता के आवरण में सजाकर, करने की आज्ञा है। देव ने श्रृंगार-रस के स्थायी भाव 'रति' का स्थान 'काम' को दे डाला है। तात्पर्य यह कि देव का वर्णन श्रृंगार-रस की सीमा को उल्लंघन कर गया, अतएव अनौचित्य-पूर्ण है। श्रृंगार के विषय में तो भाषा-कवियों का यह कथन है—

कवि-अक्षर अरु तिय-सुकुच, अध उघरे सुख देत,
अधिक ढँके हू सुखद नहिं, उघरे महा अहेत।

बिहारीलालजी के दोहे में कोई कुलटा नायिका, जो नागरी है, नागर पुरुषों से आँखें लड़ाया करती है। उसे अनेकों से रति

गई है। उस नायिका की कोई अंतरंगिणी सखी उसकी चेष्टा देखती है। वह नायिका के मनोभावों को ध्यान से देखती है, एवं मनोभावों के वेग के उतार-चढाव के कारण उसकी चेष्टाओं में जो अंतर पड़ता है, उसे भी वह देखती है, तब अनुकुल अवसर पाकर वह नायिका से उसके मनोभावों को ताड़ लेने की बात कितने अनूठे ढंग से कहती है। वह कहती है—"हे सखी! देख तो, कामदेव-रूपी चतुर अहेरी (प्रवीण शिकारी) ने काननच री (कानों तक विस्तीर्ण, वन-चारी) नेत्र-रूपी मृगों को नगर-निवासी (चतुर) पुरुषों का शिकार खेलना भली भाँति सिखलाया है।"

नागरिक लोगों को मृगों का शिकार करना तो चतुर अहेरी सामान्यः सिखलाते ही है, पर काम-अहेरी वे किस अद्भुत रीति से काननचारी नयन-मगों को नगर-निवासी चतुर जनों का शिकार खेलना सिखलाया है। सिखलावेगा क्यों नहीं? जब काम ही स्वयं शिक्षक बना है, तब सब ठीक ही है। काम कैसा प्रवीण शिकारी है, इसे विचारशील जानते ही है। इसने बड़े बड़े व्रतधारियों, बड़े-बड़े तपस्वियों, बड़े-बडे नीतिज्ञों एवं बड़े-बड़े मुनियों तक का शिकार किया है। इसमें साहित्य-संसार के प्रवीण पर्यवेक्षक शब्द-चित्रकार महाकवि बिहारीलालजी ने काम को किस प्रकार प्रधानता देकर उसे अपनी अपूर्व प्रतिभा के वल से शृगार के स्थायी भाव रति के अतर्गत ला दिया है, यह दर्शनीन है। बात वही है, पर ढग महाकवियों-जैसा है। दोहे में महाकवि बिहारीलालजी ने चमत्कार-पूर्ण विस्मय स्थायो भाववाले अद्भुत रस को शृंगार का सहायक किस विदग्धता से बनाया है, यह देखिए। फिर यह आश्चर्य दोहे में ध्वनि से झलकाया गया है। संचारी भावों, विभावों एवं अनुभावों से परिपुष्ट स्थायी भाववाले किसी स्वतंत्र रस को और फिर प्रधान अद्भुत रस को इस प्रकार अन्यान्य सचारी भावों, विभावों एव अनुभावों से परिपुष्ट अन्य रस

ः गार का सहचारी बनाने और उसे भी ध्वनि से झलकाने में महाकवि विहारीलालजी ने अपूर्व प्रतिभा दर्शित की है।

काननचारी नयन-मृगों का नागर-नरो का शिकार खेलना अद्-भुत रस का संस्थापक है, पर दोहे में प्रधानता शृंगार-रस की है. अतएव उस अंगी शृंगार-रस का अद्भुत रस अंग है। भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से भी दोहा सवैया से बहुत उत्कृष्ट है। दोहे की भाषा काननचारी के श्लेष व 'नागर नरन' के अनुप्रास से युक्त: प्रसाद गुण युक्त, व्याकरण-विशुद्ध, स्वाभाविक प्रवाहमय है। श्लेषादि या छंद के कारण भाषा अनियंत्रित व व्याकरण-विरुद्ध न होते हुए देश, काल एवं पात्र के सर्वथा अनुकूल, परम परिमार्जित एवं नागरत्व-सूचक है।

कहने का तात्पर्य यह कि विहारीलालजी की अपेक्षा देव बहुत ही नीचि श्रेणी के शब्द-चित्रकार हैं। विहारीलालजी के समान भावमय शब्द-चित्र खींचना महाकवियों का काम है, पर देव-सरीखे स्थूल शब्द-चित्र को कोई जन-साधरण भी अंकित कर सकेगा, जिसे तुक जोड़ने का विचार-मात्र होगा।

ऐसे ही अनेक शब्द-चित्रों की तुलना करने से यह मत अधिक स्पष्ट हो जाता है कि देव कवि बहुत ही नीची श्रेणी के शब्द-चित्रकार है, और उनकी तुलना कविता-कामिनी-कांत विहारी-लालजी से हो ही नही सकती। अपने कथन के प्रमाण-स्वरूप मैं यहाँ कुछ और ऐसे ही उदाहरण देता हूँ। देखिए—

फाग-वर्णन

रस भिजए दोऊ दुहुँन, तउ टिक रहे, टरैं न ;
छवि सौं छिरकत प्रेम-रँग भर पिचकारी-नैन।

(विहारी)

यह रति-भाव का कैसा सुंदर चित्र है, जिसमें अनुराग के भाग का सुंदर वर्णन है।

बोलि बोलि भीतर तें खोलि-खोलि घूँघटनि,
मन के मलोले लाल मेटत फिरत हैं;
केशर, गुलाल मुख मोड़ें बिनु छोड़ें नहीं,
आड़ि उर आनँद समेटत फिरत हैं।
नीवि गुन तोरत हैं, कंचुकी बिछोरत हैं,
चंदन लै कुचन लपेटत फिरत हैं,
फाग मिस 'देव' अनुराग भरि, राग भरि,
भौन - भौन भामिनीन भेंटत फिरत हैं।
(देव)

कितना गंदा, अपवित्र, कुरुचि-उत्पादक और भ्रष्ट भावों से भरा वर्णन है। ग्राम की नारियों एव होली के खिलाडी का अत्यंत घृणित चरित्र इस कवित्त में अंकित हुआ है।

कलकिंचित् हाव

सुनि पग-धुनि चितई इतै, न्हाति दिए ही पीठि;
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी लजीली डीठि।
(बिहारी)

लंक गहि लीनी परयंक में मयंक-मुखी,
सुंदरि सशंक अंक अंकन धसति-सी,
ओठन अमेठति कटीली भौंहँ एँठति,
मरोरति सुनासा तन तोरति त्रसति-सी।
सोहैं सतराति इतराति बतराति औ'

झुलाति अकुलाति उर अंतर बसित-सी ;
ऑसू दृग दोलति उसासें हिय खोलती-सी,
बोलन रिसाति-सी कपोलन हँसति-सी ।
(देव)

कहना न होगा कि जहाँ विहारीलालजी का दोहा संपूर्णतया रति स्थायी भाव का एवं संयोग-काल के परम चित्ताकर्षक किलकिंचित् हाव का भावनामय काव्य-पूर्ण चित्र है, वहाँ देव का कवित्त निर्लज्जतामय उद्वेग-जनक दोष से दूषित अत्यंत स्थूल सभोग का ग्राम्य चित्र है, जो पाशविक प्रवृत्तियों का लज्जाजनक नंगा स्वरूप बतलाकर रुचि में विपर्यय उत्पन्न करता है। अत्यंत स्थूल शरीर संभोग में किलकिंचित् हाव का जो शृंगारिक वर्णन देव ने किया है, वह स्थूल काम-भोग की लज्जा-जनक लीला में डूब सा गया है।

देव ने किलकिंचित् हाव के और भी शब्द-चित्र गढ़े हैं, जिनमें इसके भी अधिक निर्लज्जता है। जैसे—

पीछे ते छैल छुई छतियाँ
इक बार तिया रिस ही ररकों है,
अंगन रोम तरंग उठी,
उमगे कुच ऊँचे उतै फरको है।

❀ ❀ ❀

इसी प्रकार 'सुख-सागर-तरंग' के छंद ७४० और 'भावविलास के छंद ३० पृष्ठ ४९ में अत्यंत घृणित उदाहरण है।

कुट्टमित हाव

नाहिं-नाहिं नाहीं ककै, नारि निहोरे लेय ;
छुवत ओंठ विच आँगुरिन बिरी बदन पियदेय।
(बिहारी)

नाह सों नाहीं करै मुख सों
सुख सों रति-केलि करै रतियाँ में ;
देत रदच्छद सी-सी करै,
कर ना पकरै पै बकै बतियाँ में ।
'देव' किते रति कूजत के तन
कंप सजे न भजे घतियाँ में ;
जानु भुजानहु को महरावत
आवति छल लगी छतियाँ में ।
(देव)

देव ने इससे भी अधिक निर्लज्जता कुट्टमित के अन्य दो उदाहरणों में रक्खी है। देखिए—

दाई भए दिन ही सुखदाई
सु आँख मिहींचनी खेल समाखे ,
चोरिकैं जोर कै बैठो बधू गए
ओट ह्वै जोट बजावत काँखे ।
मोचत नाहिं सकोचत अंग त्यों
सोक सकोच सबै निज ताखे ,
जानु भुजान में जानु भुजा दिए
खींचत घींचत, मींचत आँखे ;

एवं—

लै भुजबल्लरी पल्लव हाथन
वल्लव मल्लव मोद बिहारै ,

प्यारी के अंग न रंग चढ़े
त्यों अनंग कला करै री नहिं हारै।
ओंठन दंत, उरोज नखच्छत हू
सहि, जीतै तिया पति हारै।
ऊरु मरोरनि ज्यों मरुरै
उर हो अरुरै अरु रैनि निहारै।

देव ने इस हाव के और भी, इससे भी घृणित, उदाहरण लिखे हैं—

कुट्टमित हाव के वर्णन में भी इतनी शुद्धता और पवित्रता रखना श्रृंगारी कवियों के मुकुटमणि बिहारीलालजी का ही काम है। देव ने कामुक, निर्लज्जतामय, घृणित वर्णनों के सिवा और रक्खा ही क्या है? इस देव कवि की यही बान सर्वत्र है।

बस, अब इतना ही बहुत है। इस अप्रिय, गंदी बात को अधिक लिखना अनुचित समझकर मैं इसे और नहीं बढ़ाता। पर ऐसे सैकड़ों छंदों की तुलना करने से जान पड़ता है कि देव निम्नश्रेणी के कवि हैं, और कलाविद् बिहारीलालजी से तो उनकी समता स्वप्न में भी नहीं की जा सकती।

श्रीयुत मिश्रबंधुओं ने बिहारीलालजी के निम्न-लिखित दोहे को लिखते हुए कटाक्ष किया है—

लरिका लैबे के मिसै लंगर मो ढिग आय
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाय।
(बिहारी)

इस पर आपलोगों ने अपनी सुजनता से विवश होकर बिहारी-लालजी को 'गुंडा' की उपाधि दी है। इसमें बिहारीलालजी ने यह

दिखलाया है कि मनुष्य के हृदय में वात्सल्य के भीतर भी काम-भाव किस प्रकार छिपा रहता है। यह लोक मे होता है और इसमें अधिक निर्लज्जता नहीं है। पर इन 'आम और इमली को इमली' कहनेवालों की समझ में देव के इसकी अपेक्षा शतगुणित निर्लज्जतामय, उद्वेग-जनक, घृणित वर्णनों में कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ा। इसी को पक्षपात में अंधा होना कहते है। यहाँ विवश होकर मै देव की 'प्रेमचंद्रिका' के एक छंद को देता हूँ। देखिए—

गोहरे माँझ गई मिलि साँझ
कछु छिति में कछु छैल के कौंछे;
पौढ़ि गई कसि अंग में अंग
उकासि कैं कंचुकि तैं कुच ओछे!
'देव' दोऊ करिके सुख-संग
उलाहित ही उठि अंग अँगोछे;
साँस लई, मुख चूमि बिदा भई,
त्यों तिय के अँसुआ पिय पोंछे।

देव' ने यह छंद परकीया के उदाहरण में स्वयं ही रक्खा है, इससे पिय से 'पति' का अर्थ न लेकर 'प्यारा' अर्थ लेना चाहिए।

हुआ यह कि 'साँझ' ठीक सायंकाल में—जब लोग ईश्वर का स्मरण करते है, प्रत्येक कार्य बंद करके इष्टदेव का ध्यान धरना कर्तव्य समझते है—किसी मनचले नायक को, यहाँ-वहाँ नहीं, 'गोहरे माँझ' गोशाले में, जहाँ गोमूत्र और गोबर रहने से आर्द्रता होना ध्रुव है, एक'तिय' मिल गई। फिर क्या था। वह 'तिय' संभोग कराने के लिये गोशाला में लेट गई। उसका कुछ शरीर'छिति में, और कुछ (कमर से नीचे का भाग)छैले (गुंडे) की गोद में था। वह 'तिय' लेटी भी, तो 'कसि अंग में अंग' और उसने स्वयं ही

फौरन कंचुकी (चोली) से 'ओछे कुच' मर्दन कराने के लिये निकाल लिए। देव फर्माते है कि इन दोनो ने सुख-पूर्वक बड़े आनंद से (संग) संभोग करके (उलाहित हो) शीघ्र ही उठकर (गोमूत्र और गोबर लगे हुए) 'अंग अँगोछे'। तब कहीं उन दोनो ने साँस ली। उस स्त्री ने (छैल का) मुख चूमा, और 'बिदा भई'। उस गुंडे ने भी संभोग के समय आए हुए उस स्त्री के आँसू पोछे।

यह 'प्रेमचद्रिका' का छंद है. जिसके विपय में श्रीयुत मिश्रवधु कहते हैं कि 'देव के प्रेम-संबंधी अपूर्व अनुभवों का निचोड़' इस ग्रंथ मे है ।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और विहारी' मे जो समतामयी तुलना लिखी है, वह पक्षपात-पूर्ण है। देव के उत्कृष्टातिम उत्कृष्टतम चार-छ चोटी के छंदो से बिहारीलालजी की सतसई के अन्य दोहों की अपेक्षा घटिया चार दोहों की तुलना आपने की है, जिसमें पक्ष पात-पूर्ण अलोचना करके श्रीयुत मिश्रवंधुओं के मत को सिद्ध करने के हेतु बिहारीलालजी के दोहो को देव के पद्यों से बलात हीन ठहराने का प्रयास किया है। इसमे लेखक ने अपनी नासमझी को बिहार-लालजी के सिर मढने का उपहासास्पद प्रयास किया है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र की समालोचना यह दिखलाती है कि समझदार समालोचक अंध-भक्त व दल-विशेष की ओर झुकाव के कारण पक्षपाती बनकर किस प्रकार भ्रांत मत फैलाता है। इस समा-लोचना में लेखक ने ऐसी-भद्दी भूले की हैं, जिनसे यह जान पड़ता है कि लेखक महाशय बिहारीलालजी के दोहों को पूर्णतया समझने में सर्वथा असमर्थ रहे।

इस पर अधिक न लिखकर मैं यहाँ पं० कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना अपनी लिखी प्रत्यालोचना-सहित दिखलाना ही अलमें

समझता हूँ। मर्मज्ञ पाठक देखें कि मिश्रजी ने कैसी आलोचना की है, एवं जब देव के उन पाँच-छ चोटी के छंदों की भी बिहारी-लालजी के उन सबसे घटिया दोहों के समक्ष कुछ गणना न हो सके, तो यह मानना पड़ेगा कि देव कवि बिहारीलालजी की श्रेणी के कवियों में नहीं रक्खे जा सकते।

पूर्वानुराग

निम्न-लिखित समता-मूलक प्रबंधों में पूर्वानुरागिणी नायिका की अवस्था का वर्णन है—

नई लगन, कुलकी सकुच, बिकल भई अकुलाइ,
दुहूँ ओर ऐंची फिरै, फिरकी-लौं दिन जाइ।
(बिहारी)

मूरति जो मनमोहन की
मनमोहिनी कै थिर ह्वै थिरकी-सी;
'देव' गुपाल को नाम सुनें
सियराति सुधा छतियाँ छिरकी-सी।
नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं
नैनन लाज घटा घिरकी-सी,
पूरन प्रीति हिए हिरकी
खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी।
(देव)

"नायिका की दशा फिरकी के समान हो रही है। जिस प्रकार फिरकी निरंतर घूमती है, ठीक उसी प्रकार नायिका भी अस्थिर है। बिहारीलाल की नायिका को एक ओर 'नई लगन' घसीटती है'

तो दूसरी ओर 'कुल की सकुच'। फिरकी के समान उसके दिन बीत रहे हैं। देवजी की नायिका के हिए में भी 'पूरन प्रीति, 'हिरकी' है, और नेत्रों में 'लाज-घटा' 'घिरकी' है। इसीलिये वह भी 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी'। देवजी ने 'लगन' के स्थान पर 'प्रीति' और 'सकुच' के स्थान पर 'लज्जा' रक्खी है। हमारी राय में बिहारीलाल की 'नई लगन' देवजी की 'पूरन प्रीति' से उत्कृष्ट है। 'नई लगन' में स्वाभावतः जो अपनी ओर खींचने के भाव का स्पष्टीकरण है, वह 'पूरन प्रीति' में वैसा स्पष्ट नहीं है, पर देवजी की 'लाज-घटा' कुल की सकुच से कहीं समीचीन है। इस लाज-घटा मे कुल-संकोच, गुरुजन-संकोच आदि सभी घिरे हुए हैं। यह बड़ा ही व्यापक शब्द है। फिर लाज में प्रियतम के प्रति प्रेम-पूर्ण, स्वभावतः उत्पन्न अनिर्वचनीय संकोच (झिझक) का जो भाव है, वह बाहरी दबाव के कारण; अतः कुल की सकुच मे नहीं है। वाता-यन-द्वार पर विशेष वायु-संचार की संभावना से फिरकी की स्थिति जैसी स्वाभाविक है, उसे पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। अनु-प्रास, चमत्कार एवं अन्यान्य काव्य-गुणों मे सवैया दोहे से उत्कृष्ट है। मनमोहन की मूर्ति मनमोहिनी की गई है, यह परिकरांकुर का रूप है। 'स्थिर ह्वै थिरकी-सी' में असंगति अलंकार है। नाम-मात्र सुनने से उरोजों का ठंडा हो जाना चंचलातिशयोक्ति अलंकार का रूप है। उपमा की बहार तो दोनो छंदों मे समान ही है। 'नई लगन' के वश बिहारीलाल की नायिका इँच जाती है, और उसमें कुल-संकोच-मात्र की लज्जा है। पर देवजी की नायिका में स्वा-भाविक लज्जा है। इसी लज्जा-वश वह झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती। देवजी की नायिका विशेष लज्जावती है। उसमें मुग्धत्व भी विशेष है।"

(पं० कृष्णविहारी मिश्र—'देव और बिहारी', पृष्ठ २५९-२६१)

उपर्युक्त आलोचना में मिश्रजी इतना तो मान गए कि 'नई

'खिरकी शब्द का बहुवचन बन जाता है। जैसे— 'सर-सर हंस न होत, नारि पतिव्रता न घर-घर।' 'खिरकी खिरकीन' लिखने से भाषा व्याकरण विरुद्ध हो गई। नकार जोड़ने से संज्ञा शब्दों का बहुवचन बन जाता है। जैसे— नर से नरन, लोग से लोगन, हाथी से हाथीन आदि। एक साहित्य-सेवी ने मुझ से कहा था कि 'खिरकीन' बहुवचनांत अवश्य है, पर खिरकी-खिरकीन' से 'खिरकी-खिरकीन में' अर्थ में निकलता है। देव ने नकार का प्रयोग यहाँ 'में' के अर्थ में किया है। पर यह उनका भ्रम था, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार कर लिया। उदाहरण देखिए- 'कानन में बसी बाँसुरी की धुनि' प्रानन में बस्यो बाँसुरीवारो।' इस उदाहरण में नकार केवल बहुवचन बनाने के लिये व्यवहृत हुआ है। 'में, के अर्थ में 'न' का प्रयोग नहीं होता। इसी से उपर्युक्त उदारहण में 'कान' शब्द का बहुवचन बनाने के लिये नकार जोड़कर 'कानन' बनाया गया, परंतु उसमें 'में' विभक्ति का प्रयोग अधिकरण के लिये करना पड़ा।

यह सवैया पिंगल शास्त्र की दृष्टि से भी दूषित है। देव सात भगण और दो गुरु से बननेवाले इस सवैया छंद की तृतीय पंक्ति में लिखते हैं—'नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं।' इसमें चार

SSISSS SIISII

भगण चाहिए थे' पर इसमें 'नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं।' इस चारो 'गणों' में भगण न रह सका। देव लिखने तो बैठे थे

SSI SSS

भगण, पर लिख गए तगण और मगण। यह ठीक है कि पिंगल-शास्त्र में लघु को गुरु एवं गुरु को लघु पढ़ने की व्यवस्था दी है, पर ऐसी व्यवस्था कहीं भी नहीं दी गई कि 'भगण' के स्थान में 'मगण' लिखो। एक गुरु और दो लघुओं के स्थान में तीनों गुरुओं को रखना अत्यंत अनौचित्य-पूर्ण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पं० कृष्णविहारी मिश्र ने दोहे को बलात् हीन ठहराने का विफल प्रयास करने में व्यर्थ समय नष्ट किया है, एवं वितंडावाद से देव को बलात् श्रेष्ठ ठहराने की चेष्टा की है। सच तो यह है कि दोहे के सम्मुख सवैया अत्यंत हीन कोटि का है,

एवं प्रत्येक दृष्टि से दोहा अत्यंत श्रेष्ठ है, पर मिश्रजी समझे नहीं। इसी प्रकार की तुलना देव और विहारी'-पुस्तक में ।

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि विहारीलालजी केशवदास तथा देवदत्त (देव) से वहुत ऊँची श्रेणी के माननीय कलाकार है। इस ग्रंथ में प्रसंग-वश श्रीसूरदासजी की तीन भक्ति-प्रधान सूक्तियों से बिहारीलालजी की तादृशी तीन सूक्तियो की तुलना वहुदर्शिता-नामक अध्याय में हो चुकी है। वहाँ भी जान पड़ेगा कि काव्य-कला-कुशलता में कौन किससे कैसा कुछ है? हिंदी-कवि-कुल-कलाधर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी हिंदी-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ कवि के नाते विश्व में प्रसिद्ध हैं। पर सच तो यही है कि गोस्वामीजी का काव्य ज्ञान-धारा-प्रधान है, और उसमें काव्यानंद के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति का लाभ होने से वह विशेष रोचक, माननीय एवं वांछनीय है। हाँ, साहित्य की भाव-धारा और ज्ञान-धारा दोनो का जो पार्थक्य करके देखना चाहेंगे एवं काव्य-धारा में जो भाव-धारा का ही प्राधान्य देखना चाहेंगे तथा ज्ञानोपदेशादि के संदेश को भुलाकर जो काव्य को केवल काव्योत्कर्ष की दृष्टि से परखेंगे, उन्हे तो श्रीसूरदासजी और श्रीतुलसीदासजी से भी विहारीलालजी काव्य-मार्ग में—काव्य-कला-कुशलता मे—आगे वढ़े हुए दिखाई देंगे। जव हम गोस्वामी तुलसीदास और विहारीलालजी की समान भाववाली उत्कृष्ट सूक्तियों की तुलना करके काव्य-कला-कौशल की दृष्टि से दोनो को परखते हैं, तव हमें विहारीलालजी ही श्रेष्ठ जान पड़ते है, जैसे—

वारी मथे वरु होय घृत, सिकता तैं वरु तेल ;
विनु हरि-भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।

(तुलसी)

विफल प्रयास किया है। यथार्थ में देव की नायिका घोर निर्लज्जा है। उसे यदा-कदा किसी अवसर-विशेष पर, किसी भारी कारण के उपस्थित होने पर भी लज्जा होती है, यह भी निश्चित नहीं है। बिहारीलालजी की नायिका कुलवती है, अतएव विचारशीला और स्वाभाविक लज्जा-शीला है।

नायिका के फिरकी-सी फिरने का कारण देव 'नैनन लाज-घटा घिरकी-सी' और 'पूरन प्रीति हिए हिरकी' बतलाते हैं। और बिहारीलालजी 'नई लगन' एवं 'कुल की सकुच' में पड़कर 'बिकल भई अकुलाय' वर्णन करते हैं। इस 'नई लगन' में पड़ी हुई 'कुल की सकुच' से 'बिकल भई अकुलाय' की परिस्थितिवाली नायिका का दर्शन हम कैसे स्पष्ट रूप से करते हैं। 'नई लगन' में पड़ी हुई 'कुल की सकुच' से बिकल होनेवाली नायिका का फिरकी-सा घूमना किस सहृदय के हृदय पर करुणा का भाव अंकित न कर देगा? किस सहृदय, साहित्य-प्रेमी और काव्य-मर्मज्ञ के हृदय में एक बार करुण रस न उमड़ उठेगा? क्या देव की नायिका के विषय में, जो छलावा के समान 'खिरकी-खिरकीन फिरकी-सी' फिरती है, पाठकों की वैसी वृत्ति होना कभी संभव है। इतने बड़े चार लकीरों के सवैया छंद में लाज और प्रेम में पड़कर व्यथित होनेवाली नायिका को देव 'बिकल' विशेषण तक न दे सके। इससे वर्णन में हीनता आ गई, और यह विदित हो गया कि देव के हृदय में कविजन-सुलभ सहृदयता का अभाव था। सहृदय महाकवि बिहारीलालजी ने केवल चौबीस मात्राओं के छोटे-से दोहा-छंद में नायिका की 'बिकल भई अकुलाय' अवस्था का स्पष्ट वर्णन किया है। दोहे के 'दुहुँ ओर ऐंची फिरै' चरण में जैसा स्वाभाविक वर्णन है, इसे मर्मज्ञ परखें। बिना दोनो ओर के खिंचाव के फिरकी का घूमना नहीं हो सकता। इस बात का बिहारीलालजी ने विदग्धता से वर्णन किया है। प्रकृति का इसमें सूक्ष्म अवलोकन है। अपने भावों को भाषा में स्पष्ट रीति

से व्यक्त करने की इतनी सामर्थ्य बिहारीलालजी-जैसे महाकवियों में होती है। फिरकी के घूमने का वर्णन देव भाषा में स्पष्ट रीति से व्यक्त न कर सके, यह उनकी भारी हीनता है।

अंत में मिश्रजी दुहराते हैं कि देव की नायिका विशेष लज्जावती है। "इसी लज्जा-वश वह झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती।" देव की नायिका कैसी लज्जावती है, यह मैं दिखला चुका हूँ। यहाँ मिश्रजी की वाक्य-रचना का कौशल देखिए। जब नायिका 'झरोखे से ही झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती'—तब वह दरवाजे से झाँककर अपना मनोरथ सिद्ध क्यों नहीं कर लेती? उसे झरोखे से ही झाँकना चाहिए, ऐसी कोई आज्ञा तो है ही नहीं। वह झरोखे से न झाँककर मकान के बाहर आकर अपना मनोरथ सिद्ध कर सकती है।

देव के सवैया से अधिक अलंकार बिहारीलालजी के दोहे में दिखलाए जा सकते हैं, परंतु विस्तार-भय से दो-एक प्रधान अलंकारों का दिखलाना ही ठीक जान पड़ता है। दोहे में 'नई लगन' और 'कुल की सकुच' दोनो में नायिका के हृदय मे विकलता की उत्पत्ति करनेवाला एक ही गुण का कथन किया गया है, अतएव तुल्ययोगिता अलंकार है। पूर्णोपमा अलंकार की छटा देव की अपेक्षा बिहारीलालजी के छंद में अधिक मनोहर है। भाषा-माधुर्य की दृष्टि से भी मिश्रजी ने सवैया को दोहे से श्रेष्ठ कह डाला है। परंतु 'घिरकी-सी' और 'हिरकी-सो'-सदृश पदों का प्रयोग करनेवाले, भाषा को तुकबंदी या अनुप्रास के लिये तोड़-मरोड़कर दुरूह बनानेवाले एवं भाषा की स्वाभाविकता को नष्ट कर अविन्यस्त कर डालनेवाले देव कवि की भाषा की समता महाकवि बिहारीलालजी की प्रसाद-गुण-युक्त, सुसंचित नियंत्रित भाषा से करना एक हँसी की बात है। देव के छंद की भाषा व्याकरण से भी शुद्ध नहीं है। 'खिरकी- खिरकी' लिखने से ही

लगन' 'पूरन प्रीति' से प्रकृष्ट है। 'नई लगन' में जो स्वभावतः अपनी ओर खिंचने के भाव का स्पष्टीकरण है, वह पूरन प्रीति में वैसा स्पष्ट नहीं है *। पर यह विचार न किया कि क्या 'पूरन प्रीति' 'हिए' में रखनेवाली नायिका के विषय में हम 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी' कह सकते हैं? इतना तो सभी जानते हैं कि चंचलता और विकलता 'नई लगन' में होती है, क्योंकि उस समय प्रेम-मात्र की सुंदरता प्रेमी-हृदय में मोहमय प्रेम की उत्पत्ति करती है। 'नई लगन' में बड़ा ही उत्तेजित, मोहमय प्रेम होता है, एवं उसमें चंचलता और विकलता का अपूर्व संघटन होता है। उस समय प्रेमी-हृदय संकल्प-विकल्प के हिंडोले में किस प्रकार झूलता है। 'नई लगन' में बिहारीलालजी ने अनिर्वचनीय सुंदर भाव भरा है। अब दूसरी ओर 'पूरन प्रीति' में देखिए। मर्मज्ञ जानते हैं कि प्रेम की पूर्णता और प्रेमी प्रियतम के एकीकरण में अंतर नहीं होता। वहाँ प्रेयसी प्रियतम और प्रियतम प्रेयसी का रूप हो जाता है। दो हृदयों का एकीकरण होकर द्विधा भाव मिट जाता है। क्योंकि—

प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समायँ।

(महात्मा कबीर)

जहाँ ऐसी स्थिति हो जाती है, वहाँ नायिका 'खिरकी-खिरकीन फिरकी-सी नहीं फिर सकती। क्योंकि पूर्ण प्रेम की प्रवाहिनी में प्रवाह है, पर उच्छृंखलता नहीं, बहाव है, पर टूटता नहीं। वह सदैव शांत, एकरस, आनंदमय और सुखद है। यही विचारकर तत्त्वज्ञानी कबीर कहते हैं—

---

*मिश्रजी का यह वाक्य लचर है। इसकी भाषा अनियंत्रित है। इसका निम्न लिखित रूप होता, तो अच्छा था—'नई लगन में स्वभावतः अपनी ओर खींचने के भाव का जैसा स्पष्टीकरण है, वैसा 'पूरन प्रीति' में नहीं है।'—लेखक

छिनहि चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय ;
अघट प्रेम-पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय।

तात्पर्य यह कि पूर्ण प्रेम में संयोग और वियोग का भान नहीं होता। उसमें तो–'राधा हरि, हरि राधिका' की-सी स्थिति हो जाती है। पूर्ण प्रेम के विषय में किसी उर्दू-कवि ने लिखा है—

दिल के आईने में है तसवीरे-यार ;
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।

जहाँ यह हाल है, वहाँ 'खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी' लिखना कितना हास्योत्पादक कार्य है, इसे सहृदय मर्मज्ञ देखें। सच पूछो. तो देव के उपर्युक्त शब्द बिहारीलालजी के शब्दों के सम्मुख किसी बालक की रचना के समान जान पड़ते हैं।

मिश्रजी लिखते हैं— "लाज-घटा कुल की सकुच से कहीं समीचीन है। इस लाज-घटा में कुल-संकोच, गुरुजन-संकोच आदि सभी घिरे हुए हैं।" भला, क्या जिस व्यक्ति को अपने कुल का संकोच है, उसे गुरुजन-संकोच न होगा। 'कुल को सकुच' का अर्थ ,कुल का संकोच' करके टीका में मिश्रजी उसका अर्थ कुलवालों का सकोच करते हैं, यह कैसे? किस कोष में 'कुल की' का अर्थ 'कुल-वालों की' होता है? संकोच का अर्थ लाज भी होता है। 'कुल की सकुच' का अर्थ कुलवालों का संकोच न होकर 'कुल की लाज है। फिर जो कुलीन है—जिसे अपने कुल की लाज का ध्यान है—जिसे अपने कुल के गौरव का स्मरण है— वह क्या गुरुजन-संकोच न करेगी? देव की नायिका को विशेष लज्जावती लिखना मिश्रजी की भयंकर भूल है। देव की नायिका को कुल की मान-मर्यादा का विचार नहीं है.। उसमें विवेक-बुद्धि का प्रायः अभाव है। 'नैनन लाज-घटा घिरकी-सी, से हमें केवल यह विदित होता है कि वह बिलकुल निर्लज्जा नहीं है। उसकी आँखों में थोड़ी लाज अवशिष्ट है, जो कभी-कभी घटा के समान उसकी आँखों में घिर-सी जाती है। वह भी अवश्य घिर जाती है, यह निश्चित नहीं है। यही दिखलाने के लिये देव ने 'सी' का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि मिश्रजी ने देव की नायिका को बलात् लज्जावती ठहरने का

पतवारी माला पकरु और न कछु उपाव ;
तरि संसार-पयोधि को हरि-नामै करि नाव ।
(बिहारी-सतसई)

इनमें देखिए कि कवि-जनोचित, भावमय वर्णन किसका है ? जहाँ गोस्वामीजी एक वैज्ञानिक के समान सामान्य सिद्धांत को कहते हैं, वहाँ बिहारीलालजी उसी बात के वर्णन में भाव-मूर्त्ति खड़ी कर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं । कल्पना का प्राबल्य, भावावेश एव आलंकारिक छटा के साथ वर्ण्य विषय का अनूठा वर्णन बिहारीलालजी के दोहे में श्रेष्ठतर है । तुलसी एक कठोर दार्शनिक सिद्धांत कहकर रह जाते हैं, और बिहारीलालजी काव्य की धारा बहाते हैं ।

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा ;
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं, जानु प्रीति-रस इतनेहि माहीं ।
(तुलसी)

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात ;
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात ।
(बिहारी-सतसई)

इन दोनो सूक्तियों में दांपत्य प्रेम की दृढ़ता और प्रेम-पात्र का अटल विश्वास अपेक्षाकृत बिहारीलालजी के दोहे में ही अधिक है ।

इस प्रकार अनेकानेक सूक्तियों से तुलना करके मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि बिहारीलालजी हिंदी-संसार के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं । केवल काव्य-कला के उत्कर्ष की दृष्टि से बिहारीलाल का प्रतिद्वंद्वी हिंदी में नहीं है । यह विषय विवाद-ग्रस्त है, अतः इस पर एक स्वतंत्र ग्रंथ में विस्तार-पूर्वक सप्रमाण लिखकर शीघ्र उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा ।

—※—